विचारों के नये आयाम

लेखक

सौभाग्यमल जैन, एडवोकेट

सपादक

डा० सागरमल जैन

प्रकाशक

अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-
कान्फ्रेंस; देहली

भगवान महावीर के २५वीं निर्वाण शताब्दी समारोह के उपलक्ष में

● विचारो के नये आयाम

लेखक— सौभाग्यमल जैन

सपादक—डा० सागरमल जैन

प्रकाशक—आनन्दराज सुराणा

प्रधानमन्त्री —

अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस

१२ शहीद भगतसिह मार्ग

जैन भवन

नई दिल्ली

मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

प्रथम बार वि० स० २०३२ विजयादशमी

अक्टूबर १९७५

प्रकाशकीय

मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि मध्य भारत के भूतपूर्व मत्री तथा अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के उपाध्यक्ष श्री सौभाग्यमल जी जैन की पुस्तक 'विचारो के नये आयाम' पाठको के सन्मुख उपस्थित की जा रही है। उपरोक्त पुस्तक मे श्री जैन साहब के भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये निबन्धो का सग्रह है, जिन्हे हमीदिया कालेज, भूपाल के दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक डॉ० सागरमल जैन ने सपादन तथा क्रमबद्ध करके वर्तमान रूप मे प्रस्तुत किया है। श्री जैन ने सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वास तथा रूढ मान्यताओ पर चोट की है, तथा समाज के अन्तस्तल को झकझोर कर प्रगतिशील दिशा की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत पुस्तक केवल स्थानकवासी जैन समाज ही नही अपितु पूरे जैन समाज के लिये प्रेरणाप्रद रहेगी। इस पुस्तक की भूमिका केवल जैनदर्शन ही नही, अपितु भारतीय दर्शनो के अपूर्व व्याख्याकार, समन्वय-सस्कृति के जबर्दस्त हामी सत श्रद्धेय कवि श्री अमर मुनि जी ने लिखी है।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव वर्ष मे अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस, देहली द्वारा यह प्रकाशन पाठको के सन्मुख प्रस्तुत है। आशा है कि समाज इस से नई दिशा ग्रहण करके समाज तथा राष्ट्र के उत्थान मे प्रयत्नशील होगा

आनन्दराज सुराणा
प्रधान मन्त्री
अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन
कान्फ्रेंस, देहली

जैन भवन
12 शहीद भगतसिह मार्ग
नई दिल्ली।

आमुख

इस अखिल विश्व मे प्रकृति ने जिन-जिन प्राणियों का देखने के लिए आखे दी है वह सब जगत के व्यापार (कामकाज) घटनाओं को देखते है । इस प्राणी जगत मे मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपनी चक्षुइन्द्रिय के द्वारा देखने के पश्चात जगत के (व्यापार) घटनाओ पर ऊहापोह करता है, मनन करता है और सभवत यही पशु तथा मनुष्य मे विभाजक रेखा है । उपनिषदो के प्रणेताओ ने अपनी बाहे उची उठाकर घोषणा की थी कि "समस्त प्राणी जगत मे मनुष्य श्रेष्ठतर है" श्रमण सस्कृति मे तो मानव का स्थान देवताओ से भी ऊ चा बताया तथा घोषणा की थी कि वह प्राणी जगत मे सर्वोच्च है । मानव जन्म दुर्लभ है, वह स्वय अपने भाग्य का विधाता है । इस्लाम ने भी मनुष्य को 'अशरफुल मखलूकात' घोषित किया । जैसा कि एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज मे जन्म लेता है, समाज की घटनाओ का उसके मन-मस्तिष्क पर प्रभाव होता है । उन पर वह मनन करता है । लेखक का जन्म एक रूढि तथा परम्पराओ से आबद्ध परिवार मे होने के बावजूद "सामाजिक प्रश्नो" पर मनन की प्रक्रिया ने उसे एक विद्रोही व्यक्तित्व का रूप दे दिया । लेखक ने जीवन के प्रारम्भिक कार्य क्षेत्र मे उतरने के समय से ही सामाजिक जीवन मे कुविचार पूर्ण रूढियाँ, अन्धविश्वास पर आधारित परम्पराओ की प्रवचना तथा छलना देखी तो उसका मस्तिष्क विद्रोही भावना से व्याप्त हो गया । परिणामस्वरूप उसने अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य, इस पर विवेक पूर्ण आघात निश्चित किया और इस कार्य का श्रीगणेश अपने परिवार से ही किया । परिवार मे परम्परा के नाम प्रचलित कई प्रथाओ पर सफल आघात किया । समाज के अन्य परिवार मे प्रचलित कुरीति के पालन के समय असहयोग किया । परिणाम-स्वरूप उसके कार्य के क्षेत्र का विस्तार हो गया । जब वह विधानसभा का सदस्य निर्वाचित हुआ (तत्कालीन ग्वालियर राज्य द्वारा निर्मित उच्च सदन राजसभा, मध्यभारत की विधानसभा तथा वर्तमान मध्यप्रदेश की अन्तरिम विधान सभा मे १२ वर्ष लेखक सदस्य रहा) तब जैन समाज मे "बाल दीक्षा" की रोक के लिए तथा हिन्दू समाज मे प्रचलित 'पशु पक्षी का बलिदान' की रोक के लिये तत्कालीन विधान सभा मे बिल प्रस्तुत किये । हालाकि लेखक की मान्यता है कि केवल कानून बन जाने से सामाजिक सुधार बहुत कठिन है जब तक कि जनमत जागृत नही हो, फिर

भी लेखक ने दोनो बिल के समय समाज मे चेतना जागृत की । लेखक का विश्वास है कि मानव को प्राचीन तथा अर्वाचीन के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय परीक्षा के अनतर करना चाहिए जैसा कि सस्कृत के महाकवि कालिदास ने अपनी एक कृति मे कहा था—

पुराणमित्येव न साधु सर्व, न चापि नूनं नवमित्यवद्यम् ।
संतः परीक्षान्यतरद् भजन्ते, मूढः पर-प्रत्ययनेय बुद्धि ।।

इसीलिये देश के उद्भट विद्वान स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने एक स्थान पर कहा था कि देश मे कुल ऐसी हवा फैल गई थी कि सस्कृत मे कुछ भी लिख दिया जावे उसे शास्त्र वचन कहकर उसे पालने का कर्तव्य बताया जाता था । एक विद्वान ने कहा था—

केवल शास्त्रमाश्रित्य न तु कर्तव्यविनिर्णयः ।
विवेकहीने विचारे तु धर्महानि प्रजायते ।।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र के भावार्थ, तात्पर्य समझने के लिये स्वय की प्रज्ञा आवश्यक होती है अन्यथा उसके बुरे परिणाम हो सकते हैं जैसा कि मानव समाज की कई कुरीढियो के मूल मे आप्त वाक्यो का भ्रामक अर्थ लगा लेने का कारण हुआ है ।

लेखक को अपने जीवन के उष.काल से ही स्वाध्याय का शौक रहा है उसी का यह परिणाम है कि उसके जीवन मे साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो सकी, उसे भाषा की दृष्टि ने महत्वाकाक्षी बना दिया, भारतीय भिन्न भाषाओ मे काम चलाने के अनुरूप अपना ज्ञान अर्जित किया तथा जीवन मे 'विवेक' का वास्तविक मूल्याकन हो सका । लेखक के जीवन मे कई उतार-चढाव आए । लगभग १२ वर्ष के विधान सभा की सदस्यता के काल (सन् १९४५ से सन् १९५७) मे से कुछ समय विधान सभा का उपाध्यक्ष तथा लगभग ४–५ वर्ष मत्रिमण्डल का सदस्य रहा किन्तु उस जमाने मे भी सामाजिक कार्य तथा साहित्य सेवा जीवन के प्रमुख अग रहे ।

लेखक प्रारम्भ से ही कृशकाय, दुर्बल तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से एक निर्धन व्यक्ति रहा है, लेखक जब मत्री मण्डल का सदस्य होने के नाते ग्वालियर निवास करता था तब स्थानीय साहित्यिक मित्र के स्वास्थ्य पृच्छा के प्रश्न का उत्तर लेखक ने उर्दू के एक शायर के शब्दो मे दिया था —

तिफली गई, अलामते पीरीं अयां हुई ।
हम ताकते ही रह गये, अहदे-शबाब को ।।

किन्तु इस स्वास्थ्य निर्धनता के साथ लेखक मे हास्य-विनोद की कमी नही

रही, जिसके कारण लेखक आज भी अपने जीवन के सन्ध्या काल मे उत्साह की कमी नहीं पाता है ।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के द्वारा समय-समय पर लिखे हुए निबन्धो का सग्रह है । इस ग्रन्थ (निबन्धो का सग्रह) की उपादेयता, उपयोगिता का मूल्याकन लेखक का कार्य नही है, इसका मूल्याकन तो पाठक ही कर सकते है जैसा कि एक सम्कृत के विद्वान ने कहा था कि—

कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानाति पण्डितः ।
तरु सृजति पुष्पाणि, मरुद् वहति सौरभम् ॥

यदि इस निबन्ध सग्रह से समाज मे अन्धविश्वास, कुरीति आदि के प्रति सात्विक क्रोध उत्पन्न हो सका, उसकी चेतना जाग्रत हो सकी तो लेखक धन्य मानेगा तथा उसका यह लघु प्रयास सफल होगा ।

श्रद्धेय कवि श्री अमरमुनिजी की महती कृपा है कि जिन्होने मेरे निवेदन पर अपनी महस्रो व्यस्तताओ के बावजूद इस सग्रह की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया कि श्रद्धेय कवि श्री एक उद्भट विद्वान है, जहाँ जैन दर्शन का गहराई के साथ अध्ययन किया, वही उन्होने अन्य भारतीय दर्शनो का भी उतना ही बारीकी तथा गहराई के साथ अध्ययन किया है, उसी का परिणाम है कि वह भारतीय दर्शनो के अपूर्व व्याख्याकार है । वह प्राचीन तथा अर्वाचीन ज्ञान विज्ञान के उद्भट विद्वान है, उनके विचार मौलिक तथा साम्प्रदायिक घेरे से मुक्त होते है, उनकी दृष्टि समन्वय-मूलक है, उनके जीवन मे विज्ञापन, प्रदर्शन नही है जो कुछ है वह खुली हुई पुस्तक के समान है, वाणी तथा कर्म मे साम्यता है, यही महात्मा का लक्षण है । कवि श्री के मन मे भी अन्धविश्वास, गलत मान्यताओ तथा धारणाओ के प्रति सात्विक क्रोध है, और वह ऐसी समाजरचना के हामी है जिसमे आध्यात्मिकता हो, ढोग नही हो, अन्तर तथा बाह्य मे कोई भेद न हो । कवि श्री के पास बैठकर लेखक ने बहुत कुछ प्राप्त किया है । लेखक अपना सद्भाग्य मानता है कि उसे कवि श्री का आशीर्वाद प्राप्त है ।

लेखक के निबन्धो के सम्पादन का कार्य डाक्टर श्री सागरमलजी जैन ने किया है जो भोपाल हमीदिया कालेज मे दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक हैं उन्होने निबन्धो का सम्पादन करने का कष्ट किया है वह तो मेरे अनुज के समान है उनका आभार मानकर उनके प्रति अनात्मीय नही होना चहता ।

शुजालपुर मण्डी
दिनाक १५—८—७५

—सौभाग्यमल जैन

सम्पादकीय

श्री सौभाग्यमलजी जैन समाज के उन मूर्धन्य चिन्तको मे से है जिन्होने समाज की समस्याओ को निकटता से जाना है, न केवल जाना है, वरन उनका अनुभव किया है। वे समाज की रोग-ग्रस्त शिराओ के पारखी है। उन्होने अपने अनेकानेक सामयिक लेखो मे समाज की दु खती रग को छुआ है और उसके निदान और चिकित्सा का प्रयास भी किया है। यद्यपि उन्होने सामयिक विषयो पर लेख लिखकर ही विविध पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से अपने विचारो को जन-जन तक पहुँचाया है और किसी गभीर विषयो पर ग्रन्थ प्रणयन का प्रयास नही किया है। किन्तु उनके इन लघु-निबन्धो और सामयिक लेखो मे भी उनका विषय गाम्भीर्य स्पष्टतया देखने को मिलता है। वे एक ऐसे विद्वान है, जिसकी कलम पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नही, अपितु समाज की चेतना को जाग्रत बनाये रखने के लिए चलती रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि दर्शन जैसे गम्भीर विषय से लेकर हास्य-व्यग्य जैसे रोचक विषयो पर भी उनकी लेखनी चली है, यद्यपि जीवन की प्रौढता के साथ उनकी लेखनी भी प्रौढ होती गई है। फिर उन्होने जो कुछ लिखा है वह लेखनी पर सयम रखते हुए अपनी विद्रोही अन्तरात्मा के साथ एक रूप होकर लिखा है मर्यादा मे रहकर भी उन्होने समाज-जीवन की प्रवचनाओ और छलनाओ पर स्पष्ट चोट की है। वे अपने लेखन मे एक पूरे अहिसक समालोचक रहे है।

यदा कदा मुझे उनके लेखो को पढने का अवसर प्राप्त होता रहा और मुझे यह लगा भी इन लेखो मे सभी कुछ मात्र सामयिक मूल्य का नही है, उसमे बहुत कुछ ऐसा है जिसका साहित्य और चिन्तन की दृष्टि से शाश्वत मूल्य हो सकता है। फिर भी इन सामयिक लेखो के शाश्वत मूल्य वाले अशो का किसी ग्रन्थ के रूप मे प्रणयन हो यह कल्पना नही जाग सकी। प्रसगवश एक बार उनके प्रकाशित लेखो और रचनाओ के सग्रह को देखने का अवसर मिला तब यह विचार आया कि इन्हे एक ग्रन्थ का रूप दिया जा सकता है

मैंने उस सग्रह को प्राप्त किया और उसमे जो भी ऐसा लगा जिसका साहित्य एव चिन्तन की दृष्टि से स्थायी मूल्य हो सकता था, उसे सम्पादित करने का प्रयास किया।

वस्तुत सम्पादन का यह कार्य मुझे अधिक कठिन नहीं लगा क्योकि आदरणीय सौभाग्यमल जी सा० की लेखनी इतनी प्रौढ एव मजी हुई है कि उसमे सशोधन एव परिष्कार के लिये तो कुछ था नही, सम्पादक के रूप मे मेरे जिम्मे तो एक ही कार्य था, वह यह कि उन लेखो मे जो कुछ सामयिक था उसे शाश्वत मूल्य वाले अशो को क्रमबद्ध रूप से सकलित कर दू।

प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने विविध विधाओ के आधार पर कुछ शीर्षको के अन्तर्गत विभाजित करने का प्रयास किया है, यद्यपि यह एक प्रयास मात्र ही है,क्योकि कोई कठोर विभाजक रेखा खीच पाना सम्भव नही था। मात्र पाठको को अपने रुचि के विषय पढने मे सुविधा हो इस दृष्टि से ही यह प्रयास किया गया है। पुस्तक के प्रमुख शीर्षक है १ आत्मनिवेदन २ काव्य ३ हास्य-व्यग्य ४ राष्ट्र और राष्ट्रीयता ५ महावीर के प्रति ६ जैन आचार-मीमासा ७ दर्शन और धर्म ८ समाज और सस्कृति एव ९ जीवन-दर्शन

प्रस्तुत सकलन मे विचार रूपी सुमन तो लेखक के ही है, मैंने तो उन बिखरे हुए विचार सुमनो की एक माला ग्रन्थित करने का प्रयास किया है, ताकि श्री सौभाग्यमलजी की चिन्तन वाटिका मे खिले हुए ये सुमन मा सरस्वती के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करने मे सहायक हो सके। मैं अपने प्रयास को कहाँ तक यथोचित बना पाया हूँ यह तो पाठक वृन्द के मूल्याकन का विषय है। मेरे श्रम की सार्थकता तो इसी मे है कि युवा पीढी उनके इन विचारो से युगबोध और चेतना प्राप्त करें।

— (डा०) सागरमल जैन

प्रस्तावना : हृदय के दो बोल

साहित्य मानव जाति की विचार सम्पत्ति का वह अक्षय कोष है, जिसमे से मानव को अतीत से प्रेरणा मिलती है, वर्तमान से कर्म की स्फुरणा मिलती है, और भविष्य से कल्याणकारी योजनाओ के स्वप्न मिलते हैं। साहित्य के अभाव मे मानव शरीर मे भले ही मानव हो, परन्तु अन्तर जगत मे स्फुरित होने वाली चेतना ज्योति की दृष्टि से तो वह बिना सींग-पूछ का निरा पशु ही है, और कुछ नही। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा था—

'साहित्य सगीत कला विहीन साक्षात्पशु पुच्छ विषाणहीनः ॥

साहित्य सहस्रधारा का ज्ञान प्रवाह है। धर्मशास्त्र, दर्शन, कला, विज्ञान, नीति, काव्य, नाटक, व्याकरण आदि हजारो धाराओ मे प्रवाहित है, साहित्य गगा एक-से एक गम्भीर और एक से एक विशाल। कही भाव की चमत्कृति है, तो कही भाषा की। मानव मन मे कुछ पाने की जिज्ञासा होनी चाहिए। साहित्य मे से उसकी मनोभूमिका के अनुसार कुछ-न-कुछ मिल ही जाएगा।

साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा निबन्ध भी है। अपने छोटे से वामनाकार शब्द शरीर मे एक विशाल विचार-चेतना को इस प्रकार अभिव्यक्ति देता है कि मानव का अन्तर्मन ज्ञान के दिव्य आलोक से जगमगा जाता है। अल्प-से-अल्प अध्ययन से ही पाठक को अपने जीवन-निर्माण के लिए एक स्पष्ट दिशा मिल जाती है, और मिल जाती है चेतना को चिन्तन के आनन्द की एक सहज उपलब्धि।

प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श आदि प्राचीन भाषाओ मे अनेक निबन्ध प्राप्त हुए हैं, जिन्हे प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। महान् दार्शनिक वाचस्पति ने तो अपने एक लघुकाव्य न्यायग्रन्थ का नाम ही 'न्याय सूची निबन्ध' रखा है। इसलिए यह नही कहा जा सकता है कि निबन्ध शैली आधुनिक युग के पाश्चात्य विचारको की ही कोई खास देन है। यह ठीक है कि निबन्ध की प्राचीन और नवीन शैली मे काफी अन्तर है। नवीन शैली के भी अनेकविध रूप है। निबन्धो के रूपो मे कितनी ही विभिन्नता हो, पर एक ऐसी एकरूपता भी है, जो सर्वत्र

परिलक्षित होती है। वह है एक विषय, वस्तुतत्व, घटना एव दृश्य आदि का निश्चय पूर्वक परीक्षण तथा विश्लेषण, फिर भले ही यह वैयक्तिक (व्यक्तिगत) भूमिका पर हो या निर्वैयक्तिक (तटस्थ) भूमिका पर।

प्रस्तुत निबन्धसग्रह के निबन्ध वैचारिक एव सैद्धान्तिक श्रेणी के अधिक है। प्रेरणास्पर्शी गभीर भाग ,सहज सरल भाषा और सुबोध प्रवाहशील शैली की दृष्टि से निबन्धो मे एक ऐसा आकर्षण है, जो पाठक के जिज्ञासु हृदय को सहसा प्रबुद्ध एव प्रमुदित कर देता है। लेखन पर व्यापक अध्ययन तथा तर्क प्रधान सूक्ष्म चिन्तन की छाप यत्र तत्र परिलक्षित होती है, बहुश्रुतता लेखन का प्राण तत्व है। किन्तु बहुश्रुत का अर्थ किताबी कीडा या तोता रटत नही है। बहुश्रुत वह होता है जो ज्ञान के विविध स्रोतो से प्राप्त चिंतनरस को अपनी अनुभूति की प्राणवत्ता से परिष्कृत करता है, उसे एक नया विशिष्ट रूप देता है, जिस प्रकार मधुमक्खी विविध प्रकार के पुष्पो से रस ग्रहण कर उसे अपनी रसायनिक प्रक्रिया के द्वारा मधु का रूप देती है। प्रस्तुत निबन्धो मे इसी प्रकार बहुश्रुतता है, जो पुरातनता के साथ नूतनता लिए हुए है, और नूतन के साथ पुरातनता। पुरातनता और नूतनता का ऐसा एक अद्भुत मिश्रण है, निबन्धो मे, जो दोनो ही दृष्टि से पाठको को काफी गहराई तक प्रभावित करता है।

निबन्ध मे यदि इधर-उधर के ग्रन्थो के सन्दर्भ ही अधिक हो तो वह पाठक को उबाने लगता है, और यदि ग्रन्थो के सन्दर्भो से सर्वथा शून्य ही हो निबन्ध, तो वह एक दम हल्के स्तर पर पहुँच जाता है, उसके शाश्वत मूल्य काफी मन्द पड जाते है। प्रस्तुत निबन्धो का लेखक दोनो आपत्तियो से बचकर चला है, फलत. वैचारिक प्रवाह अतीत मे से वर्तमान मे प्रवाहित होता हुआ भविष्य की ओर बढता चला जाता है।

कुछ निबन्ध ऐसे है, जो मानव के अन्तर्मन मे शाश्वत सत्य के प्रति सहज श्रद्धा जागृत करते है, उसमे आध्यात्मिक एव नैतिक भावना की दीप्ति जगाते और कुछ निबन्ध ऐसे भी है, जो विचार-क्रान्ति के दबे स्तर को मुखर बनाते है। जीर्ण-शीर्ण सामाजिक रूढियो तथा सम्प्रदायवाद के चक्र मे उलझे निर्जीव धार्मिक मताग्रहो पर लेखक ने खूब कस-कस कर वे सहारक प्रहार किए हैं, कि मानव के विचार जगत मे एक भकप का सा झटका लगने लगता है। ऐसे अनेक स्थल है, जहाँ लेखक अतीत के प्रति विद्रोही बनकर खडा हो गया है। परन्तु यह विद्रोह केवल अतीत का सहार ही नही करता, सहार के साथ नया निर्माण भी करता है। लेखक जहाँ अनुपयोगी हुए पुरातन को दृढता के साथ

एक ओर धकियाता है, तो कल्याणकारी नव-सृजन के हेतु विचारो की एक नई उर्वर भूमिका भी तैयार करता है।

सक्षेप मे निबन्ध काफी सुन्दर हैं, आकर्षक हैं, प्रेरणा-प्रद है। पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनो के लिए ही एक खासी अच्छी विचार सामग्री उपस्थित करते है। व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म चिन्तन, विचारो की गहराई, अभिव्यक्ति की सरलता आदि निबन्धो की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो लेखक के प्रति सहज ही पाठक को प्रशसा मुखर बना देते हैं।

निबन्ध सग्रह एक बृहत्काय ग्रन्थ ही हो गया है। श्रमण सस्कृति से लेकर आत्म निवेदन तक के नौ खण्डो मे ग्रन्थ विभक्त है। अन्तिम दो-तीन खण्डो को छोडकर प्रायः सर्वत्र लेखक अपनी चिन्तन-यात्रा को वैचारिकता एवं सैद्धान्तिकता के पथ पर ही आगे बढाता है। कुछ निबन्धो मे लेखक चिन्तन के क्षेत्र मे काफी गहरा उतर गया है परन्तु अभिव्यक्ति की सहज सरलता के कारण पाठक उससे ऊबता नही, प्रत्युत-प्रतिपाद्य विषयो की जानकारी अपने मानसिक धरातल पर सहज भाव से अकित करता रहता है। धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे लेखक वैचारिक उत्तेजना के साथ जो नये मूल्य स्थापित करता है। पाठक की जिज्ञासा बुद्धि उसे प्राय स्वीकृत ही करती है तिरस्कृत नही। अतएव मै आशा रखता हूँ, जन जीवन की समष्टिगत चेतना को सम्यक् परिबोध देने वाले ये तत्वदृष्टि परक निबन्ध जैन जगत् ही नही, अपितु प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय एव समाज मे युगानुकूल चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से सब ओर समादृत होगे।

मेरी चेतना मे कुछ भाव निबंधकार श्री सौभाग्यमलजी जैन के सम्बन्ध मे भी उभर रहे है। श्री जैन को मै इधर अनेक वर्षो से बहुत अधिक निकटता से देखता आ रहा हूँ। वे बडे ही सरल सौम्य एव सहृदय व्यक्ति है। सौजन्य की तो वे एक भव्य प्रतिमूर्ति ही है। वस्तु स्थिति का शीघ्र ही आकलन करने वाली सहज प्रतिभा, अध्ययनशील व्यापक विद्वता, तथा राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रो को स्पर्श करने वाली कार्यकुशलता आदि उनकी कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उनके व्यक्तित्व की गरिमा को चार-चाँद लगा देती है। सघर्ष एव मनोमालिन्य के पथ पर अग्रसर होती हुई जनपरिषद् मे मैने उन्हे देखा है, वे शीघ्र उत्तेजना को शान्ति, प्रेम एव सद्भावना मे बदल देते हैं, तथा क्षुब्ध जन-चेतना को एक निर्माणकारी मोड पर ले आते है। विराट जन-सभाओ का सुचारु रूप से सचालन करना कोई उनसे सीखे।

श्री जैन अच्छे लेखक ही नही, अच्छे प्रवक्ता भी है। उनकी प्रवचन शैली परिष्कृत, सारगर्भित एव सुगठित है। श्रोता उन्हे काफी देर तक सुनना चाहता है, लगता है उसे कि कुछ मिल रहा है। कोई भी मच हो, उनका नेतृत्व आत्मीयता के माधुर्य से स्निग्ध होता है, फलत वह आक्रामक नही सक्रामक होता है। एक वाक्य मे कहू तो श्री जैन अनेक मानवीय गुणो के पु जीभूत जीवित स्मारक हैं। मैं हृदय से मगलकामना करूंगा, उनके जीवन का वसतकाल आखिर तक सुरभित वसन्तकाल ही रहे। हर क्षेत्र मे उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व की मोहक सुगन्ध महकती रहे, और जब भी अपेक्षित हो जन-जीवन को उनसे कुछ-न-कुछ ऐसा मिलता रहै, जो कभी भुलाया न जा सके।

जैन भवन,
लोहामडी, आगरा
माघ पूर्णिमा, १९७४

—उपाध्याय अमरमुनि

अनुक्रमणिका

पंचम आयाम

छठा आयाम

सप्तम आयाम

अष्टम आयाम

—o—

प्रथम आयाम

☐ आत्म-निवेदन

(१) जीवन का लेखा-जोखा
(२) श्रद्धेय पिताजी के प्रति
सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर

१

जीवन का लेखा-जोखा

उर्दू साहित्य के एक प्रसिद्ध शायर ने कहा है कि --

"मेरी जिन्दगी एक मुसलसिल सफर है,
जो मंजिल पं पहुंचा तो मंजिल बढ़ा दी।"

(१) वास्तव मे जीवन-कला के पारखियो ने मानव-जीवन को यात्रा ही माना है। भारतीय ऋषि-मुनियो ने प्राचीन साहित्य मे "जीवेम शरद शतम्" वाक्य के द्वारा अपने जीवन मे सौ वर्ष तक शरद ऋतु के दर्शन की इच्छा प्रकट की है। इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि प्राचीन समय मे भी मानव-जीवन की अवधि सौ वर्ष मानी जाती रही, किन्तु आज सौ वर्ष का जीवन प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त नही है। मनुष्य के जीवन मे "मृत्यु" (चिरनिद्रा) बडी अनिश्चित वस्तु होती है। मृत्यु समय की दृष्टि से निश्चित है। जैन साहित्यकारो ने अयवत्तकुमार की एक घटना का उल्लेख किया है "जिस समय अपनी बाल्यावस्था मे पूर्व सस्कार तथा जैन मुनियो के जीवन-दर्शन से कुमार प्रभावित होकर सासारिक जीवन त्याग की बात कहते हैं, माता-पिता से अनुमति प्राप्त करने के लिए निवेदन करते है उस समय उन्होने यही बात कही थी कि 'मै यह अवश्य जानता हूँ कि मृत्यु निश्चित है किन्तु कब ? यह नही जानता हूँ इसी कारण अविलम्ब मुझे साधु-जीवन व्यतीत करने के लिए दीक्षित होना चाहिए।

(२) इसी प्रकार मै भी नही जानता कि मेरी जीवन-यात्रा कब पूर्ण हो, इतना निश्चित है कि यह यात्रा एक दिन समाप्त होने वाली है। यदि हम भारतीय ऋषि-मुनियो की दीर्घ जीवन की इच्छा १०० वर्ष को आदर्श मान लें तो आज २४ फरवरी, १९६० को मै अपने जीवन की लम्बी यात्रा मे से आधा भाग समाप्त कर रहा हूँ—अर्धशताब्दि पूर्ण कर ५१वें वर्ष मे प्रवेश कर रहा हूँ। मेरे जीवन की एक घटना आज मुझे स्मरण आती है। सन् १९३३ मे जब मैं अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन कान्फेरन्स के अजमेर अधिवेशन तथा उस समय आयोजित हमारे स्थानकवासी समाज के एक ऐतिहासिक साधु-

सम्मेलन से वापिस लौटा तो मुझे भयानक रूप से "पैचिश" का आक्रमण हुआ। उसके कारण मै बहुत अशक्त हो गया। मै पूर्व से ही "पैचिश" का रोगी रहा हूँ और आज भी हूँ। तब मेरे कुटुम्बीजन उज्जैन मे शासकीय चिकित्सालय मे औषधि उपचार के लिए ले गये तो शासकीय चिकित्सक महोदय ने अत्यन्त निराशापूर्ण उत्तर दिया और निकट भविष्य मे मेरी जीवन-लीला समाप्ति की घोषणा की, मुझे भी अनुभव हो रहा था कि वास्तव मे जीवन-लीला की समाप्ति निकट है, किन्तु अपने ही नगर के एक सम्माननीय Honorary सज्जन के आयुर्वेदीय उपचार के कारण प्रतिदिन स्वस्थ होता गया -- जीवन-लीला समाप्त नही हो सकी और आज भी जीवित हू। मैं अनुभव करता हूँ कि उर्दू शायर की उक्त भावना के अनुरूप मे मजिल पर पहुच रहा था किन्तु फिर मजिल बढा दी गई। अर्ध शताब्दि तक मजिल पहुँच गई। देखिये कब तक मजिल आगे बढती रहेगी।

(३) मानव-समाज का वह वर्ग जो अपने को भद्र सस्कृति का हामी मानता है, अपने वर्ष-ग्रन्थि-दिवस पर समारोह आयोजित करता है, ख्याति प्राप्त सार्वजनिक नेता के वर्ष-ग्रन्थि दिवस पर उनके अनुयायी-प्रशसक समारोह आयोजित करके दीर्घ-जीवन की कामना करते है। सम्बन्धित व्यक्ति भी हर्ष मनाता है किन्तु विचार करने से ज्ञात होगा कि वास्तव मे वह आयु वृद्धि नही, आयु हानि है, उर्दू के एक शायर ने ठीक ही कहा था कि —

हिसाबे-उम्र का यह अजब तरीका है,
उम्र बढ़ती है मगर वाकये मे घटती है।

इसी प्रकार हिन्दी के एक कवि ने कहा था—

मूरख नर समझे नही बरस गाठ को जाय।

इस कारण आज का दिवस मेरे हर्ष का नही, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण का दिवस है। आज मैं "अनशन" करके आत्मचिन्तन कर रहा हूँ। मनुष्य-जीवन मे स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण भाग है। स्वस्थ मनुष्य पूर्ण रूप से प्रत्येक प्रकार के कार्य करके सफलता सम्पादित कर सकता है। दुर्भाग्य से मेरे जीवन मे "स्वास्थ्य" की खामी रही, वर्षो के अनियमित जीवन ने आज से वर्षों पूर्व ही स्वास्थ्य को खराब कर डाला। अक्टूबर सन् १९५६ मे विश्वधर्म-सम्मेलन मे सम्मिलित होकर जब मै अस्वस्थ होकर मृत्यु से सघर्ष करता हुआ जापान से वापस आया तब मेरे तत्कालीन ग्वालियर स्थित शासकीय निवास पर कई सज्जन मेरे स्वास्थ्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करते। एक कवि-हृदय ने मेरी "मिजाज पुरसी" की। मैंने उन्हे उत्तर दिया कि महाशय, मेरे अभी तक के

जीवन का चित्र कवि की केवल एक उक्ति मे है, उसने सम्भवत मेरे जैसे रोगी की दशा देखकर ही उक्त पक्ति कही थी—

"तिफली गई अलामते पीरी अया हुई,
हम ताकते ही रह गये अहदे शबाब को।"

अर्थ—लडकपन गया और मुझमे वृद्धता के चिन्ह प्रकट होने लग गये। मैं यौवन अवस्था की प्रतीक्षा ही करता रहा।

मेरे विदेश प्रवास के समय भयानक रोग ने मुझे भविष्य के प्रति सचेत कर दिया। मैं विदेश से दिनाक १८-१०-५६ को वापस आया और लगभग १५ दिवस रोग शैया पर रहा। पाठको को स्मरण होगा कि दिनाक ३१-१०-५६ को मध्य भारत राज्य समाप्त होकर नवीन मध्य प्रदेश का दिनाक १-११-५६ को निर्माण हो गया, फलस्वरूप मध्य भारत के मत्रीगण ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। मै भी दिनाक ४-११-५६ को अपने Home Town आ गया तब से लगभग नियमित जीवन, आशिक रूप से निवृत्त जीवन जैसा व्यतीत कर रहा रहा हूँ। नियमित जीवन व्यतीत करने की आदत ने मेरी जिन्दगी की मजिल को फिर बढा दिया है।

(४) प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या मानव-जीवन की मजिल, उसका लक्ष्य केवल "मृत्यु" है? वास्तव मे ऐसा नही है,किन्तु आखिर मानव-जीवन के अन्त मे केवल एक बार मनुष्य को यही अलभ्य अथवा दुर्लभ्य वस्तु प्राप्त होती हे। अलभ्य अथवा दुर्लभ्य इसलिए कहता हूँ कि कोई दुखी मनुष्य मानसिक अथवा शारीरिक रूप से यदि चाहे कि मुझे दुख से पिण्ड छुडाने हेतु मृत्यु-वरण करले, मुझे अपनी चिर शान्ति की निद्रा मे ले ले किन्तु हम देखते है कि कई समय उस दुखी मनुष्य को वर्षो प्रतीक्षा करनी पडती है। कह नही सकते कि मानव-जीवन मे मृत्यु की लालसा क्या इसलिए है कि मानव को नव-जीवन प्राप्त हो। भारतवर्ष के ही नही ससार के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता"मे भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्य जीवन मे मृत्यु को पुराने वस्त्र त्याग करने की और नव-वस्त्र परिधान करने की उपमा दी है, आत्मा को अमर कहा है :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इसी प्रकार फारसी के प्रसिद्ध विद्वान "मौलाना रूमी" ने मानव जीवन के सम्बन्ध मे कहा था कि—

"हफ्त सद् हफ्तार कालिब दीदा अम्
हमचू संब्जा बारहा रोइदा अम् ।"

मैंने ७७७ बार मनुष्य जीवन प्राप्त किया और वनस्पति के मानिन्द उत्पन्न हुआ और मानव जीवन समाप्त कर दिया। इस प्रकार अनुमान होता है कि मानव नव-जीवन प्राप्ति हेतु "पुनर्जन्म" के लिए ही इसे एक मजिल के रूप मे ग्रहण करता है, आखिर मानव "नवीनता" का प्रेमी तो है ही।

(५) मेरे कुटुम्ब मे मेरे पूज्य पिता का प्रथम पुत्र होने के कारण मेरा लालन-पालन अत्यन्त लाड-प्यार से किया गया। भारतीय विचारको के अनुसार यदि लालन-पालन किया जाता तो सम्भवत मैं अधिक व्यवहारिक अनुभव प्राप्त व्यक्ति होता। अत्यन्त लाड प्यार मुझे तो वरदान ही हुआ किन्तु उसके कारण मुझमे कुछ कमियाँ भी रह गई। भारतीय विचारको ने तो कहा था कि—

लालयेत पचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्र मित्रवदाचरेत् ।।

किन्तु मेरा लाड मेरे प्रपितामह के जीवन-काल तक उनके द्वारा होता रहा और उनके पश्चात् मेरी माता द्वारा, उनके भी स्वर्गवास के पश्चात् मेरे पिता द्वारा होता रहा—यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज भी लाड-प्यार हो रहा है। इस प्रकार की जिन्दगी से जहाँ मेरे जीवन मे सुसस्कृतता आई वहाँ व्यावहारिक अनुभव की कमी भी रही। फारसी के एक विद्वान ने अपनी समार प्रसिद्ध पुस्तक मे एक स्थान पर अपनी आत्माभिव्यक्ति करते हुए कहा था कि—

"चहल साल उम्रे अजीजत गुजिश्त
मिजाजे तो अज साल तिफलीन गश्त ।"

उक्त विद्वान कवि ने ४० वर्ष की अवस्था तक बचपन न जाने की बात कही थी। मेरे लिए यह कहना कठिन है कि मेरा बचपन ४० वर्ष की अवस्था तक जा चुका था या नही? मेरा ख्याल यह है कि "बचपन" की चुहलबाजी बहुतपूर्व समाप्त हो चुकी थी और समय से पूर्व ही प्रौढता अनुभव कर रहा था किन्तु बचपन के साथ जो अनुभव-शून्यता रहती है वह आज भी कायम है। देखिये जीवन के उत्तरार्द्ध मे अनुभवप्राप्ति का कोई अवसर प्राप्त होता है या नही।

(६) इस अनुभव-शून्यता का मुझे मेरे जीवन मे एक लाभ भी हुआ है, वह यह कि इसके कारण जीवन का आधा भाग पूर्ण हो जाने पर भी मुझ पर

कौटुम्बि उत्तरदायित्व का भार सुपुर्द नही किया गया । मै आज ५१ वर्ष का होने पर भी कुटुम्ब मे अपने पूज्य पिताजी की सरक्षकता मे रहता रहा हूँ । उनकी आयु लगभग ७७ वर्ष की होते हुए भी अपने प्राकृतिक तथा नियमित जीवन के कारण अत्यन्त Hard Work करते है, अपेक्षाकृत स्वस्थ भी है । मेरी कामना है कि उनकी सरक्षकता मुझे आजीवन उपलब्ध रहे । कौटुम्बिक उत्तरदायित्व के भार के पश्चात् के जीवन की मैं कल्पना करके ही सिहर उठता हूँ । इस सरक्षकता के साथ-साथ मुझे अभी तक मेरे लघु भ्राता केशरीमल का असीम स्नेह प्राप्त रहा । पूज्य पिताजी के उत्तरदायित्व वहन करने मे चि० केशरीमल अत्यन्त सहायक है । पारिवारिक फर्म "सितापचन्द पन्नालाल" (लगभग ४ पीढी पूर्व के नाम के पिता-पुत्र का नाम) के कार्यों मे, घरेलू कार्यों मे, रिश्तेदारी सम्बन्धी उत्तरदायित्व निभाने मे सब प्रकार के कार्यों मे चि० केशरीमल अनुपम सहायक सिद्ध हुए । भवन निर्माण के कार्यों मे प्रवीण हैं । मैं उसे House Hold Ianager कहा करता हूं । मेरी पत्नी श्रीमती श्रेयकवर का स्वर्गवास दिनाक २-८-१६४६ को हो चुका था । वह अल्प आयु मे ही स्वर्गस्थ हो गई । उसने अपने अल्प जीवन मे मुझे अत्यधिक सन्तोष प्रदान किया । सन् १६४२ के "भारत छोडो" आन्दोलन मे कुछ भाग लेने के पश्चात् जब मै बीमार हो गया तो जुलूस का सगठन उसने किया । अपनी सहेलियो को साथ मे ले जाती । हमारे सन् १६२५-१६४६ : २२ वर्षीय दाम्पत्य-जीवन मे कभी ऐसा प्रसग स्मरण नही आता कि जब मुझे मेरे कर्तव्य-पालन मे मेरी पत्नी बाधक हुई हो, सदैव सहायक रही । अत्यधिक कार्य-व्यस्तता, प्रवास के कारण, सान्निध्य (निकटता) होनी चाहिए थी, वह सम्भव नही थी किन्तु उन्होने इसकी कभी शिकायत नही की अपितु कर्तव्य-रत रहने के लिए प्रोत्साहित ही किया, मेरी पत्नी के स्वर्गवास के पश्चात् मेरे बच्चो का लालन-पालन उसी भाँति चि० केशरीमल की पत्नी ने ही किया । आज बीती स्मृतियाँ करते समय मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मुझे इस प्रकार की कौटुम्बिक निश्चिन्तता प्राप्त नही हुई होती तो सम्भवत मुझे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करने का अवसर प्राप्त नही हो सकता था । निश्चित रूप से इस प्रकार का अबाधित अवसर प्राप्ति का श्रेय इस कौटुम्बिक निश्चिन्तता को ही है ।

(७) उपरोक्त प्रकार के लालन-पालन के कारण जीवन मे एक कमी और रह गई वह यह कि मेरी शिक्षा आधुनिक रूप से अथवा सुव्यवस्थित रूप से नही हो पाई । मेरा जन्म एक सुसम्पन्न धनी परिवार मे हुआ था जिसमे शिक्षा के प्रति अधिक रुचि नहीं थी और न वातावरण ही, आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती थी । पाठक जानते हैं कि अधिकतर श्रेष्ठ परिवार मे बालको

को अपनी सम्पन्नता के अभिमान के कारण शिक्षित करना अथवा आधुनिक ढंग से ग्रेज्युएट, पोस्ट ग्रेज्युएट, अथवा टेकनिकल शिक्षा की आवश्यकता नही मानी जाती थी, उन्हे क्या पता था कि कुछ वर्षों के पश्चात् स्वतन्त्रता के कारण समाज के ढाँचे मे ऐसा राजनैतिक परिवर्तन आयेगा कि जब सम्पत्ति की उपयोगिता कुछ न रह जायेगी। किसी व्यक्ति का जीवन-यापन केवल सम्पत्ति के आधार पर नही हो सकेगा। समाज मे सम्पत्ति की उपयोगिता कम हो जायेगी Social values कम हो जावेगी। खैर, किन्तु मुझे पठन-पाठन का इतना शौक था कि लाड-प्यार के कारण जहाँ पितामह ने शिक्षा समाप्ति के पश्चात् मुझे अन्यत्र भावी शिक्षा के हेतु भेजने से इन्कार किया तब भी मैंने खानगीरूप से अपना मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा मे सम्मिलित होने के लिए अभ्यास प्रारम्भ रखा, मैं इस दिशा मे एक महत्वाकाक्षी व्यक्ति हूँ। मेरी इच्छा थी कि मैं भारतीय तथा विदेशी भाषाओ का अध्ययन करूँ, फलस्वरूप मैंने खानगीरूप से ही हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, गुजराती, उर्दू, मराठी, सस्कृत, प्राकृत का अध्ययन जारी रखा। जब मैंने सन् १९३० मे वकालत परीक्षा पास करके कानूनी जगत मे प्रवेश किया तो मुझे इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी कि मैं कानून के आधुनिकतम ज्ञान के साथ धारा शास्त्री के रूप मे कार्य करूँ, इस कारण कानून (ग्वालियर राज्य के तत्कालीन कानून) के साथ-साथ कोष की सहायता से आग्ल भारतीय राज्य-नियमो का अध्ययन किया, परिणाम यह हुआ कि मुझे अधिकतर व्यक्ति लाग्रेज्युएट ही मानते रहे। मुझे अपने जीवन मे डिग्री का अभाव केवल एक समय ही अखरा जब कि इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण सज्जन ने प्रश्न किया। इसके पूर्व कभी इसके अभाव की बात अनुभव ही नही की। वैसे मै अपने को ऐसा मानता हूँ कि विभिन्न भाषाओ मे मेरा काम चल जाता है किन्तु उक्त सभी भाषाओ का "अधिकारी" नही कहा जा सकता अग्रेजी मे कहावत है कि "Jack of all master of none। मै दैनिक समाचार पत्र प्रत्येक दो मास एक भाषा के मँगाता था। उसके पश्चात् दो मास दूसरी भाषा के मँगाता था जिससे मेरा सभी भाषाओ के साथ जीवित सम्पर्क रहता रहा।

(८) जैसा ऊपर कहा है कि धनी परिवार मे शिक्षा की आवश्यकता अनुभव नही की जाती थी और न वातावरण ही था, इसी प्रकार कुटुम्ब मे कोई निजी पुस्तकालय अथवा पुस्तको का सग्रह न था—मेरी पूज्य माता के पास "जैन धर्म" से सम्बन्धित २-३ पुस्तकें थी जो उन्होने मेरी अध्ययनप्रियता के कारण प्रदान कर दी। उक्त पुस्तको के कारण मन मे एक भाव जागृत हुआ कि मैं क्यो न अपना निजी पुस्तकालय जैसा स्थापित करूँ। General know-

ledge के शौक ने मुझे विवश किया कि मैं सुविधानुसार विभिन्न भाषाओ की पुस्तकें मँगाऊँ और पढ़ूँ। वैसे पुराने युग मे हमारे देश मे पढ़ने के स्थान पर सुनने की प्रवृत्ति अधिक रही, इसी कारण प्राचीन साहित्य मे विद्वान व्यक्ति को "बहुश्रुत" Well Heard कहा जाता था। किन्तु उक्त परम्परा समाप्त हो रही थी इसीकारण मैने विभिन्न भाषा तथा विषयो से युक्त एक निजी पुस्तकालय स्थापित करना प्रारम्भ किया—आज उक्त पुस्तकालय सक्षिप्त रूप से ही सही, धीमे-धीमे ही सही तरक्की कर रहा है। मेरे जीवन मे एक लालसा रही है कि मैं "बगला" का अध्ययन भी करूँ—इस कारण मैंने अपने विभाग (वित्त) के तत्कालीन सचिव श्री बी० के० चटर्जी से बगला की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्ति हेतु पुस्तके मँगाई, प्रयत्न भी प्रारम्भ किया किन्तु समयाभाव के कारण सफल नही हो सका। मैं चाहता हूँ कि जीवन के उत्तरार्द्ध मे इस इच्छा की पूर्ति करूँ। "बगला" साहित्य अत्यन्त महान तथा हिन्दी जगत के लिए अनुकरणीय है।

(९) इस General knowledge का चाव मुझे जीवन में नही होता तो मैं अनुभव करता हूँ कि मैं कही का न रहता। यह मेरी पूँजी रही। इसी ने मेरे अज्ञान के ऊपर पर्दा डाला, सस्कृत साहित्य के एक अनूठे ग्रथ "भर्तृहरि-शतक" मे "मौन" को अज्ञान का आच्छादन कहा है—

स्वायत्तमेकांत गुणं विधाता,विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविद समाजे, विभूषण मौनमपडितानाम् ॥

मेरे लिए वही आच्छादन रहा। वैसे मुझे हिन्दी तथा उर्दू साहित्य से अधिक स्नेह रहा। अपने इस चाव से मैंने हिन्दी तथा उर्दू साहित्य की आरा धना की, साहित्य-प्रेमी रहा। इच्छा यही रही कि मैं भी साहित्य सर्जन करूँ किन्तु समय के अभाव ने इस इच्छा की पूर्ति नही होने दी। केवल कभी-कभी लेख-कहानी लिखना रहा किन्तु भावी जीवन मे सम्भवत इस इच्छा की पूर्ति कर सकूँ ऐमी आशा की जाना अनुपयुक्त न होगा।

(१०) मैने जीवन के कार्यक्षेत्र मे एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप मे प्रवेश किया। सन १९३० मे शुजालपुर मे मालवा प्रान्तीय पोरवाल महासभा का सम्मेलन बुलाकर सामाजिक कुरीतियो के विरुद्ध प्रस्ताव किये। उसके साथ ही अखिल भारतीय पोरवाल महासभा के लिए वातावरण तैयार किया किन्तु उक्त प्रान्तीय महासभा किसी कारण से अपना प्रथम अधिवेशन करके ही समाप्त हो गई, वैसे मेरे जीवन मे भी जातीय सस्था के नाम पर कार्य का यह प्रथम तथा अन्तिम अवसर रहा। आजीवन मुझे जातीय सस्था के कार्य करने की रुचि भी

समाप्त हो गई, न केवल इतना ही प्रत्युत जाति मे भी कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। मेरा सम्बन्ध तो सामाजिक कार्यकर्ता, राजनीतिक कार्यकर्ता तक विस्तृत हो गया जिसमे जाति का कोई लगाव न था। किन्तु इस प्रारम्भिक कार्य ने जीवन मे सामाजिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की, जैन समाज मे अपना कार्यक्षेत्र बनाकर समय-समय पर रूढि तथा कुरीतियो को समाप्त करने का कार्य किया। मै आज भी अनुभव करता हूँ कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जितनी आवश्यकता सामाजिक कार्य Social reform की थी उतनी ही बल्कि उससे अधिक आवश्यकता आज समाज सुधार की दिशा मे कार्य करने की है, कारण स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजनीति की तरफ प्रत्येक व्यक्ति का लगाव हो गया है, उसमे प्रलोभन है—इसी का कारण है कि आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राजनीति व्याप्त है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व प्रलोभन के अभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति राजनीति की ओर नही दौडता था। जो व्यक्ति थोडे से राजनीति मे जाते थे वह जोखिम उठाकर जाते थे। इस कारण सामाजिक कार्यकर्ताओ की कमी है। इस दिशा मे केवल सेवा ही मेवा है, पदो का मोह नही। इसमे सन्देह नही कि राजनीति के साथ-साथ मेरा सामाजिक सुधार के कार्य से सम्बन्ध रहा है। मन्त्री पद की मुक्ति के साथ ही मैने पुन सामाजिक सुधार के कार्य मे अधिक रस लेना प्रारम्भ किया है। आशा करता हूँ कि जब तक मै सार्वजनिक जीवन मे रहूँगा सामाजिक सुधार का कार्य भी करूँगा। वर्षों पूर्व सामाजिक कुरीतियो के उन्मूलन की आवश्यकता थी, आज भी है, कई क्षेत्रो मे आज भी पदो, अत्यधिक व्यय आदि के रिवाज मौजूद है जिससे जन समाज त्रस्त है और स्वयकृत आपत्तियो मे फसता है।

(११) मेरे कार्यक्षेत्र मे प्रवेश करते ही सामाजिक कार्य के साथ-साथ राष्ट्रीय मनोवृत्ति के कारण मुझे राजनीतिक खिचाव प्रारम्भ हो गया।

सन् १९ ० मे ही अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के कार्यो म भाग लेना आरम्भ किया। देश मे विदेशी सत्ता को उखाड फैंकने के लिए नव-जागरण का सचार हो रहा था। सन् १९२९ को ३१ दिसम्बर की रात्रि तक के अल्टीमेटम ने देश मे जान फूक दी थी। इस पृष्ठभूमि म कोई युवक काग्रेस के राष्ट्रीय हलचलो से दूर रह सके यह सम्भव नही था, इस कारण समय के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रवृत्तियो मे अधिकाधिक रस लेने लगा। प्रजातन्त्र की प्रथम सीढी के रूप म स्वायत्त शासन का अनुभव आवश्यक माना जाता है। सन् १९३३ मे ही स्थानीय नगरपालिका का सदस्य चुन लिया गया। इस बीच मैने देश की एकमात्र राजनीतिक सस्था काँग्रेस के विभिन्न पदो पर कार्य किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भाग लिया—सन् १९३८ मे तहसीलबोर्ड तथा जिला बोर्ड

एव औकाफ कमेटी का सदस्य चुन लिया गया। स्थानीय नगर-पालिका का १९३३ से १९४९ तक सदस्य रहा। इसके पश्चात् सभापति नियोजित किया गया—समयाभाव के कारण १९५१ मे त्यागपत्र दिया। सन् १९४५ से ही तत्कालीन ग्वालियर राज्य की "राज्यसभा" का सदस्य चुन लिया गया। तब से ही ससदीय जीवन का—प्रारम्भ हो गया। सन् १९४८ मे भारत का निर्माण हो गया। उसकी अन्तरिम धारासभा का सदस्य नियोजित किया गया और तत् पश्चात् उसका कार्यवाहक अध्यक्ष नियोजित किया गया। सन् १९५२ मे "आगर" निर्वाचन क्षेत्र से आम चुनाव मे निर्वाचित हो गया। ससदीय जीवन स्थगन सन् १९५७ मे उस समय हुआ जब कि कई कारणो से मैंने आवश्यक समझा कि मैं कुछ समय के लिए ससदीय जीवन से अवकाश प्राप्त करूँ। इस १२ वर्षीय ससदीय जीवन मे मध्यभारत राज्य द्वारा नियुक्त कई महत्वपूर्ण समिति, (जमीदारी समाप्ति समिति, मद्य निषेध समिति, जिला पुनर्गठन समिति) के अध्यक्ष तथा सदस्य के रूप मे कार्य किया। विधान सभा के सदस्य के नाते विभिन्न विभागो द्वारा नियुक्त समिति तथा विधानसभा द्वारा नियुक्त प्रवर समितियो मे कार्य किया। इस प्रकार नवनिर्मित मध्यभारत राज्य के विधान सभा के कार्यवाहक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, वित्तमन्त्री तथा राजस्व एव स्वायत्त शासन मत्री के रूप मे कार्य किया। मै प्राप्त अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि राजनीतिक जीवन मे लोक-प्रियता की पूर्व मे इतनी अधिक आवश्यकता नही थी जितनी आज है, वास्तव मे आज लोक-प्रियता की अधिक आवश्यकता है। जनसाधारण सदैव विशेषकर आम चुनाव मे सैद्धान्तिक पक्षापक्ष के बजाय व्यक्तिगत लाभ-अलाभ की बात अधिक सोचता है, इस कारण लोकप्रियता अपने मान्य सिद्धान्तो से च्युत होने पर ही मिल सकती है।

यदि किसी व्यक्ति अथवा Ruling Party से सम्बन्धित किसी व्यक्ति का वैध अथवा अवैध कार्य आपने नही किया तो आज की परिभाषा मे आप "अलोकप्रिय" हो जावेंगे। इस कारण विचारशील व्यक्ति को यह विचार करने को विवश होना पड़ेगा कि वह लोकप्रिय है या नही ? एक बार राष्ट्रपिता पूज्य गाधीजी ने कहा था कि—

All compromise is based on give and take but there can be no give and take in fundamental Any compromise on fundamental is surender because it is all give and no take

(१२) मेरे जीवन के प्रारम्भ से ही धार्मिकता के प्रति स्नेह, रुचि रही

है। निश्चय रूप से धार्मिकता उदार वस्तु है। जो व्यक्ति धार्मिकता को साम्प्रदायिकता के समकक्ष मानते हैं वे त्रुटि पर है। साम्प्रदायिकता सकुचित, अनुदार वस्तु है। परम्परागत सस्कार के कारण मेरे जीवन पर जैनधर्म की छाप अधिक है। पाठक जानते है कि जैनधर्म मे कई शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं, मेरे मत मे जैनधर्म की शाखा-प्रशाखाओ मे आशिक सत्य है। एक दिन ऐसा आयेगा कि जब भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकांत व कर्म सिद्धान्त का जैन समाज अपने आतरिक मतभेदो को समाप्त करने मे उपयोग करेगा। मेरी अपनी तो यह मान्यता है कि ससार के प्रत्येक धर्म मे आशिक सत्यता है जब तक धर्मों के मूल सिद्धान्तो का समन्वय न हो जाए तब तक वह आशिक सत्य के रूप मे विद्यमान रहेंगे। एक आचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा था कि पृथक्-पृथक् धर्म पाखण्ड है, इसका तात्पर्य यह है कि धर्मों का समन्वय होने पर ही "धर्म" संज्ञा सार्थक होगी। भगवान महावीर के कार्यकाल मे "सूत्रकृताग" के अनुसार ३६३ वाद इस देश मे प्रचलित थे। प्रत्येक वाद अपने को सत्य कहता है और विश्व मे किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था। भगवान महावीर की ही यह शक्ति थी कि उन्होने उक्त वादो का समन्वय किया। मेरी आतरिक इच्छा है कि जैन धर्म की सेवा करने साथ विश्व मे ऐसा वातावरण निर्माण करने मे सहायक होऊ कि विश्व मे समस्त धर्मों मे कोई विरोध न हो। ससार के समस्त धर्म एक दूसरे के पूरक हो इसी कारण मैंने भारतवर्ष मे आयोजित सर्व धर्म सम्मेलन मे कार्य किया तथा जापान मे विश्वधर्म सम्मेलन मे भाग लिया। काश, मै इस इच्छा को जीवन मे पूरी कर सकू।

(१३) प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सार्वजनिक जीवन मे सम्बन्धित व्यक्ति क्या यह कह सकता है कि उसकी वाणी, शरीर और कर्म मे साम्यता है? जब मै आत्म-निरीक्षण करता हूँ तो इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि जीवन मे इस साम्यता की कमी है, पूर्णरूप से न सही तो आशिक रूप से ही सही। यही मेरी आत्म-ग्लानि का काला पृष्ठ मेरी आत्मा के सन्मुख न हो तो बडी भयानक तथा स्वय को धोखा देने वाली वस्तु होगी। एक विद्वान ने सस्कृत मे कहा था कि—

मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

इसी प्रकार एक उर्दू शायर ने कहा था कि—

इल्मी तरक्की से जबा तो चमक गई,
मगर अमल से फरेबी दगा साथ है।

मैं नही कह सकता कि भाषा मे कोई विशेष सस्कारिता आई या नही? और अमल मे फरेब, दगा है या नही? किन्तु इतना निश्चित है कि अमल वैसा

नहीं जैसा कौल है ? संक्षिप्त मे कौल और फैल में साम्यता आवश्यक है। काश ! मे जीवन के उत्तरार्द्ध मे पूरी कर सका तो अहोभागी होऊंगा।

(१४) एक बार महात्मा गाधी ने कहा था कि—

"जीवन सारी कलाओ से महत्तर है। मैं तो यहा तक कहूगा जिस व्यक्ति का जीवन पूर्णता के निकट है वही महानतम कलाकार है—गौरवपूर्ण जीवन के चित्रण और सस्थापन के अतिरिक्त कला किस काम की ?"

—महात्मागांधी

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करता है वही कलाकार है। दुर्भाग्य से मैं कलाकार के गुणो से अभी तक कई दृष्टियो से वचित हूँ। इसी प्रकार महात्मा गाँधी ने तीन बन्दरो की कल्पना भी की जिनके कान, आख, और मुह बन्द थे। वह मानव समाज को शिक्षा देते है कि बुरा मत सुनो, बुरा मत देखो और बुरा मत कहो— इसी बात को मिर्जा गालिब ने उर्दू मे कहा था कि—

न सुनो गर बुरा कहे कोई, न कहो गर बुरा करे कोई,
रोक लो गर गलत चले कोई, बख्श दो गर खता करे कोई।

काश, मै जीवन मे इस आदर्श को उतार सकू ।

(१५) मै अनुभव करता हूँ कि यदि मैं जीवन मे उक्त आदर्शों को उतार सका या न उतार सका फिर भी कुछ वर्षों के पश्चात् परिणाम तो सामने है। क्षणभगुर शरीर नाशवान होकर आत्मा को शुभाशुभ कर्मों के फल भुगतने के लिए तैयार होना पडेगा। यदि मै उक्त आदर्श जीवन मे उतार सका तो आत्म-शान्ति का अनुभव होगा अन्यथा एक असफल जीवन के साथ शरीर त्याग होगा।

कहा मनुज ने धूल से तेरा जीवन दीन,
पैरो के नीचे सदा रहती पड़ी मलीन
कहा धूल ने बन्धुवर ! नहीं घृणा का काम,
क्या न तुम्हारी काया का यह अन्तिम परिणाम ?॥

२

श्रद्धेय पिता श्री के प्रति
सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर

बात सन् १९२५ की है, जब मेरा पाणिग्रहण सस्कार स्वर्गीय श्रीमती श्रेयकु वर के साथ हुआ। मै तथा मेरी पत्नी अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करते थे, मेरे माता-पिता तथा मेरी पत्नी के माता-पिता का वरदहस्त हम पर था। भारतीय लौकिक नियमो के अनुसार ऐसे युगल को सौभाग्यशाली माना जाता है जिसके माता-पिता जीवित हो। मेरे पाणिग्रहण से २-३ वर्ष पश्चात् स्थानीय वैश्य समाज के एक कुटुम्ब मे वैवाहिक समारोह था। उनको ऐसे युगल दम्पतो की आवश्यकता थी जिसके माता-पिता जीवित हो सम्भवत वैवाहिक समारोह की कोई रस्म ऐसे युगल के द्वारा सम्पन्न कराई जाती है। इस समय मुझे तथा मेरी पत्नी को अपनी सौभाग्यशीलता का गर्व हुआ। हमने उक्त रस्म अदा की। समय बीतता जा रहा था और हमारा वैवाहिक जीवन सात्विक तथा धार्मिक नियमो से अनुप्राणित होता हुआ गृहस्थी की गाडी खीच रहा था। सन् १९३४ ईसवी मे पर्याप्त लम्बी बीमारी के पश्चात् मेरी माता का स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् पत्नी के पिता ने भी हमसे विदा ले ली। सन् १९६४ ईसवी १५ मार्च (लगभग ३० वर्ष तक जिस महान आत्मा ने मुझे माता जैसा स्नेह दान दिया उस महान् आत्मा) मेरे पिता सेठ श्री बाबूलाल जी ने भी दिनाक १५-३-६४ ईस्वी को अत्यन्त शान्ति के साथ इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। मैने अनुभव किया कि मेरा सौभाग्य दुर्भाग्य की ओर जा रहा है। वास्तव मे जिस शान के साथ उन्होने अपना दीर्घ जीवन ८३ वर्ष बताया उसी शान के साथ उन्होने मृत्यु का वरण किया। केवल २०-२२ घटे की रुग्णता मे कोई अशाति नही बताई, "उफ" तक नही किया। किसी से कोई सेवा नही ली और समाधिमरण प्राप्त किया। मेरा तृतीय स्तम्भ भी हमको शोक-विह्वल छोडकर चला गया।

एक ऐसे पुत्र के लिये जिसने अपनी अर्धशताब्दी के जीवन मे सभी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नही किया, कौटुम्बिक जिम्मेदारी से सदैव मुकरता रहा, जिम्मेदारियो के पहाड़ का अनुभव करना आश्चर्य की बात नही है।

समय व्यतीत होता जा रहा है। आज लगभग एक मास हो गया किन्तु शोक की काली घटा मन-मस्तिष्क पर अपना प्रभाव जमाये हुए है। यह सत्य है कि काल बडे से बडे जख्म को भर देता है। हमारे तथा हमारे परिवार के जख्म भी भरेंगे किन्तु कभी मै भविष्य के सम्बन्ध मे विचार करता हूँ तो मुझे पिताजी का अभाव आजीवन खटकता रहेगा। इसमे सन्देह नही कि उनके अभाव की पूर्ति असम्भव है। न केवल हमारे कौटुम्बिक जीवन मे अपितु सामाजिक कार्यो मे भी वह जो महत्वपूर्ण भाग अदा करते थे वह अनुकरणीय है। उनकी कर्तव्यपरायणता के कारण जहाँ कुटुम्ब नि शकित था वही समाज भी नि शकित था। वह स्थानीय सघ के अध्यक्ष थे। काफी वृद्ध होते हुए भी उन्होने युवकोचित उत्साह के साथ सघ की सेवा की। वृद्ध होने के कारण यह आशका अनुचित नही कही जा सकती कि वह प्राचीननावादी रूढिग्रस्त होगे किन्तु यह मै निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वेषभूषा मे प्राचीनता होते हुए भी विचारो मे वे काफी से अधिक समन्वयवादी थे। मेरे सार्वजनिक जीवन मे उन्होने कभी बाधा नही की। चाहे हरिजनोद्धार का प्रश्न हो, चाहे छुआछूत का प्रश्न हो, उन्होने प्रगतिशील विचारो का समर्थन किया। राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन के कार्यो म कोई व्यवधान नही किया। जैन समाजान्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायो से समन्वय की भावना उनके हृदय मे विकसित होती रहती थी। यही कारण है कि उन्होने अपने कुटुम्ब मे जैन समाज की विभिन्न सम्प्रदायो, विभिन्न मान्यताओ वाले कुटुम्ब की कन्याए स्वीकार की। पाठको को यह जानकर हर्ष होगा कि उन्होने जैन समाजान्तर्गत विभिन्न जातियो मे परस्पर वैवाहिक समन्वय को सदैव उचित माना। इस प्रकार हमारा कुटुम्ब "जैन धर्म" का एक समन्वयवाद का प्रतीक कुटुम्ब हो सका। मेरे पिताजी अपने वैयक्तिक जीवन मे सादगी पसन्द करते थे। उनका अपना वैयक्तिक व्यय अल्प था। जिसके पास जितनी अधिक इच्छाए होती है उतना वह ही अधिक दुखी रहता है। जो व्यक्ति कम ले और अधिक दे उसका जीवन सुखी तथा अनुकरणीय कहा जा सकता है। यही कारण है कि उनका अन्त अत्यन्त शाति के साथ हुआ। मुखमण्डल पर जो प्रसन्नता थी उससे ऐसा अनुमान होता है कि वह स्वत अपने मनमे उर्दू के एक कवि के कथनानुसार निम्न भाव गुनगुना रहे हो —

लाई हयात आ गए, कज़ा ले चली चले।
न अपनी खुशी से आए, न अपनी खुशी से गए।

ऐसे सादगी पसन्द, कर्तव्यपरायण, अनेक गुणो से अलकृत पिता के वियोग पर मैं, मेरा लघु भ्राता तथा सारा कुटुम्ब शोकमग्न है। इसमे सन्देह नही कि उन्हो ने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र से भरा पूरा परिवार छोड़ा है। काश, हम सब उनके चरण-चिन्हो पर चलने की क्षमता धारण करके योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हो सकें।

द्वितीय आयाम

१

विजय-दिवस

आज विजय-दिवस है
वही विजय-दिवस,
जब सहस्रो वर्ष पूर्व,
विश्व के कोने कोने मे
मची थी त्राहि त्राहि
दुखित थी जनता
अनर्थ से, अत्याचार से,
ग्रसित थी सृष्टि
पाप से, व्यभिचार से,
त्रसित थी पृथ्वी
दानवी अत्याचार से
काँप रहे थे
ऋषि, मुनि,
भय से, सन्ताप से
अवतरित हुई तभी
मानवता,
स्थापित करने विश्व मे
साम्राज्य शान्ति का
चकित था विश्व
विजय पर मानवता की
गर्वित था हार पर
पशुता की दानवता की

चहुँ ओर आज विश्व म
अधर्म शक्तिमान है,
विनाश है, प्रपच है,
दानवता विद्यमान है,
निर्दोष रक्त बह रहा है
धर्म के स्वनाम पर
विध्वस हो रहा जगत
"राम" ही के नाम पर।

नग्न है श्रमिक यदि
तो धूप कृषक सह रहा है
क्षुधित देश आज कब से
भूख कितनी सह रहा है,
त्रसित आज विश्व है,
आज पुन दानव से,
रावण सम असुरो से
मायावी दानवो से

आज का मानव
वासनाओ के अधीन
मन के वशीभूत
मना रहा है दशहरा
भूलकर राम को
धर्म को, भगवान को
जब कि लडना है उसे
फिर से असुरो से
रावण के अनुचरो से
किन्तु यह होगा
उसी समय सम्भव
जब बनेगा मानव
फिर से
राम
धर्म के धनुष से
शौर्य के बाण से
शक्ति के चक्र से
हरेगा मानव फिर से
विश्व के सन्ताप को
मानव "राम" बनकर
विनष्ट करेगा दानवता को
करेगा स्थापित
फिर से एक दिन
साम्राज्य विश्व मे
धर्म का, शान्ति का।

तृतीय आयाम

☐ सामाजिक व्यंग्य

(१) पुलिस कान्स्टेबल
(२) सरकारी मुलाजिम
(३) होली के छींटे
(४) एक उपेक्षित देव

१

पुलिस कान्स्टेबल

सावधान ! मै पुलिस कान्स्टेबल हूँ। एक साधारण सरकारी कर्मचारी, परन्तु किसी बड़े कर्मचारी का जो रोब व दबदबा हो सकता है मेरा उससे कई गुना अधिक है। क्योकि मैं पुलिस कान्स्टेबल हूँ। मैं प्रजा का रक्षक हूँ किन्तु मैं यह सच बात कहने से इन्कार नही कर सकता कि वास्तव मे मैं भक्षक हू। कही किसी ग्राम मे कोई घटना घटित हो जावे तो मेरा सबसे प्रथम कार्य यह होगा कि मै त्रस्त व्यक्ति को दबाकर यह कहलाने की कोशिश करूँ कि कोई घटना नही हुई। तथा दूसरी तरफ उस ग्राम के कथित गुन्डो को घुडकाकर उनसे उस घटना के नाम पर कुछ पैसे ऐंठने की कोशिश करूँ इस तरह पर मेरे दोहरे कार्य Two fold function है। यदि किसी ग्राम मे कोई डकैती हो जावे तब भी हम कई लोग मिलकर अनुसधान के लिये उस ग्राम के लुटे हुये व्यक्ति के घर पर मेहमान की हैसियत से पहुँच जाते है तथा माल मलीदा उडाते हैं। इस प्रकार एक दूसरी डकैती हम भी शुरू कर देते है घटनाओ को छुपाना उनका दूसरे रग मे रगकर सगीन अथवा खफीफ करना यह मेरे बायें हाथ का खेल है। एक बात और यह है कि मै केवल इन्ही बातो मे दक्ष नही हूँ। झूठी रिपोर्ट बडी खूबी से लिखता हूँ। ग्रामीणो के लिये मै अपने को यमराज का दूत समझता हूँ। यदि किसी राजनैतिक अपराध के कैदी या हवालाती मेरे सिपुर्द हो जाते है तो मेरी बाँछे खिल जाती है। क्योकि यह लोग आजाद होने के समय पुलिस को खूब कोसते तथा उसके कार्यो का भण्डा फोड करते है। मेरी लीला अपरपार है। मेरे पास हृदय नही है। मैं बर्बरता, भयकरता, निर्दयता का अवतार हूँ। मुझे मानवता से प्रेम नही है। ग्रामीण अथवा शहर के दुकनदारो से कम पैसे मे या बिना पैसे मे चीज लेना यह मेरा अधिकार है। हालाकि मुझे सबसे कम वेतन मिलता है तिस पर भी पुलिस मेन्यूअल के हुकुम के मुताबिक हमेशा ऑन ड्यूटी ख्याल किया जाता है। यदि कोई शख्स मामूली गुश्ताखी भी करे तो मैं "बजा आवरी खिदमात सरकारी मे मुजाहिमत" का इलजाम लगाकर उसे जेल भिजवा सकता हूँ। अत सावधान ! मै पुलिस कान्स्टेबल हूँ।

२

सरकारी मुलाजिम

खबरदार ! मैं सरकारी मुलाजिम हूँ । मेरे लिये कानून ने कई सरक्षण रखे है मेरे जायज या नाजायज काम क्षम्य है । मेरे प्रत्येक कार्य को In good faith कयास किया गया है । समाज मे मेरा मान है,इज्जत है । मैं सरकारी मुलाजिम होने के कारण बडे-बडे प्रतिष्ठित व्यक्ति पर भी रोब रखता हूं । मेरी दोनो तरफ पौ बारह है । यदि मै किसी के मकान पर जाता हूँ तो अतिथि होने के कारण सम्मान का पात्र हूँ यदि मेरे मकान पर कोई आता है तो मुझे आगन्तुक का सम्मान करने की आवश्यकता नही है क्योकि मै सरकारी मुलाजिम हूँ,यही कारण है कि मकान पर मै अपना आमन अपने तक ही सीमित रखता हूँ । कुछ मनचले राजनैतिक विचार वाले मुझे नौकरशाही कहते है किन्तु वास्तव मे मै ही प्रभु हू । मुझे यह हक है कि यदि मै किसी से कोई वस्तु खरीदू तो उसे कम दाम देकर या बिला दाम देकर रसीद ले लूँ क्योकि मै सरकारी मुलाजिम हूँ । राज्य कोष पर मेरा पूर्ण अधिकार है क्योकि मै सरकारी मुलाजिम हूँ । इसके सदुपयोग के लिये मैं बडी स्कीम स्वीकार कराकर ठेके दिलवा सकता हूँ और उन ठेको को अपने मित्रो, सबधियो, रिश्तेदारो को दिलवाता हूं क्योकि उनकी ईमानदारी और सद्भावना पर मुझे पूर्ण विश्वास है ताकि राज्यकोष का दुरुपयोग न हो इस मामले मे किसी की हुज्जत सुनना पसन्द नही करता । मैं स्वय तथा अपने मातहतान के द्वारा राज्य व्यवस्था के चलाने मे न्याय अन्याय का विचार नही करता क्योकि यह राज्य व्यवस्था का प्रश्न है किन्तु मै यह नही चाहता कि जिन पर अन्याय हो वह मेरे पास आकर जुल्मो की कहानी कहे क्योकि यदि वह कहे तो मुझे मुन्सिफ मिजाजी बताने के लिये दिखावटी तौर पर कुछ न कुछ करना पडता है । मैं भृकुटि विलास करता हूँ मरी जरासी नाराजी लोगो को कोप भाजन बना सकती है । अत. सावधान ! मै सरकारी मुलाजिम हूँ ।

●

३
होली के छींटे

(१) अमीरी के राग-रंग

"वाह ! कमाल है सेठजी, होली की दावत न हुई लड़के का व्याह रच डाला है आपने ।"

"अरे भाई, मै किस लायक हूं ।"

"सच सेठजी, ईश्वर दौलत दे तो आप जैसा उदार दिल भी दे । वाह ! क्या कहने है आज के जल्से के । यह सजावट, यह खान पान, यह शराब ।"

"शराब ! आप इसे शराब कह कर सेठजी का अपमान कर रहे हैं । जनाब व्हिस्की है, व्हिस्की-बिलकुल इंग्लिश ।

"अजी क्या बताऊँ नाक मे दम कर रखा है, इस सरकार ने तो वरना आज होली के दिन ।"

"उदास क्यो होते हो सेठजी, आज भी ईश्वर की कृपा से आपको कौनसी कमी है ।"

"कमी ? कमी को अब रखा ही क्या है ? जबसे अंग्रेज बहादुर इन गाधी के चेलो को राज्य सौंपकर चले गए तब से जीना ही हराम हो गया है । वरना आज होली के दिन सैकड़ो बोतलें बात की बात मे बिखर जाती थी और आज मुँह जूठा करने के लिए भी 'परमिट' चाहिए ।"

"लेकिन मैने कहा, सेठजी, इतनी दिक्कत होते हुए भी आपने आज यह पचास बोतलें कहाँ से इकट्ठी कर ली ?"

"अरे तुम सेठजी को समझते क्या हो । आज होली का दिन क्या बार-बार आता है ।"

"तो और क्या ? अरे जब तक हमारी जेब मे रुपया है, हमे कौन रोक सकता है ? रुपया बहुत बडी चीज है, मेरे दोस्त ! और जब तक रुपया है तब तक सरकार एक नही हजार हुक्म निकाला करे, कौन सुनता है । आज होली के दिन खानदानी इज्जत को देखूँ या ऐसे हुक्मो की परवाह करूँ ।"

"धन्य है सेठजी, आप तो राजा है राजा ।"

मैने कहा, सेठजी, आज छोटे सरकार नही दिखाई दे रहे हैं ? है, हैं नाम न लेना उस कमबख्त का । वह मेरा बेटा नही, किसी जन्म का दुश्मन है । गनीमत है कि वह यहाँ मौजूद नही है, वरना अभी घण्टो लेक्चर झाडने लगता—आज देश मे भुखमरी मची है और तुम यहा नाच-रग मना रहे हो, सैकडो आदमियो की दावत मे अन्न की बरबादी कर रहे हो, दूसरो का खाना छीन रहे हो, शराब के नशे मे अपनी इन्सानियत को खो रहे हो ।"

"बस सेठजी बस, सब मजा ही किरकिरा हो गया ।"

"अजी अभी उस बेचारे ने देखा ही क्या है, भला इन भूखो-नगो के कारण क्या खाना छोड दें, आखिर खानदानो शान-शौकत भी तो कोई चीज है ।"

"जी हाँ, और वह भी होली के दिन । चलने दीजिये दौर सेठजी ! आप जैसे खानदानी रईसो के रहते, होली, होली की ही तरह मनाई जायगी, फिर चाहे राज्य अंग्रेज बहादुर का हो या गाधी के चेलो का ।"

(२) कालेज की बहार

"भई मैने तो सोच लिया है, तुम्हारा प्रोग्राम कुछ भी हो, मुझे तो पहिले उस मिस लता की बच्ची से बदला चुकाना है ।"

"हाँ, उस सोशल गैदरिंग के दिन किस बुरी तरह 'इन्सल्ट' की थी उसने तुम्हारी । जी हाँ, वह तो आज उसे पता चल जायगा । आज होली है । उस दिन तो धीरे से उसके मुँह पर सिगरेट का धुआ ही छोडा था मैने, आज देखता हूँ कि उसके घरवालो के सामने ही उसे रग से तरबतर करने से मुझे कौन रोक सकता है ।"

"एक्सिलेन्ट, मौका तो अच्छा ढूढा तुमने । पर उसके घरवालो ने कुछ विरोध ?"

"विरोध ? विरोध कैसा ? जानते नही, आज तो होली है । कालेज मे साथ पढ़ने मे शर्म नही आती तो फिर होली खेलने मे कैसा विरोध, और फिर मेरे साथ नरेश, सुरेश, रामसिंह, चमन, गुलजारी सभी तो है । घरवालो ने जरा भी चूँ की तो आज उनके घर की ही होली जलेगी ।"

"ठीक है, पार्टनर ! हम सब तुम्हारे साथ है । पर मेरे विचार मे आज पहिले उस लगडे प्रोफेसर से भी निपट लिया जाय ।"

"ओ यू मीन डाक्टर मजूमदार ।"

"हाँ, कितना परेशान कर रखा है उसने। जब देखो तब उपदेश देता फिरता है।"

"तुम लोगो को देश का निर्माण करना है, देश का भविष्य तुम्ही पर निर्भर है। तुम लोग उद्दण्ड होते जा रहे हो, तुम मे अनुशासनहीनता आती जा रही है तो क्या हमने ठेका ले लिया है देश का।"

"जी हाँ, बस वही तो एक अक्लमन्द है। मेरे विचार मे तो उसे धोके से बुलाकर उसके मुँह पर कोलतार पोत देना चाहिए।"

"जरूर, वह इसी लायक है। और वह जूतो का हार ?"

"उसी के लिये तो रिजर्व है।"

"पर कही उसने प्रिंसिपल से शिकायत कर दी तो ?"

"तो क्या हुआ, प्रिंसिपल साहब कोई तोप नही है और फिर क्या उन्हे मालूम नही कि आज होली है।"

(३) सम्प्रदायवाद की आड़ में

"अरे वह देखो। वह जा रहा है सफेदपोश, चलो, चलो।"

"यह क्या करते हो भाई, मैं दवाई लेने जा रहा हूँ, मेरी माँ बीमार है।"

"तो हम क्या करें, इस मुहल्ले से निकले ही क्यो ?"

"अरे बहाना करता है, 'माँ बीमार है' डालो रे रग, डालो।"

"अच्छा बच्चू, यह चकमा दूसरे मुहल्लेवालो को दिया होगा।"

अरे राम, राम! कैसा अन्धेर है। सब कपडे खराब कर दिए और यह ऊपर से कीचड भी।"

"कीचड ? अरे यह तो "प्रसाद" है होली का, जो तुम जैसे किस्मतवालो को ही मिलता है।"

"अरे, अब बस करो बहुत हो चुका, मैं नही जानता था कि इस मुहल्ले के लडके इतने शैतान है।"

"अच्छा तो यह बात है, गाली देता है। लाना तो वह पाटनवाले की नीली क्रीम।"

अरे राम, तमाम मुँह नीला कर दिया है। है! यह क्या करते हो यह गन्दी नाली का पानी · ···?

"जी हाँ, आपके लिए ही इकट्ठा किया है, यह लो यह 'गगाजल' अपनी बीमार माँ को भी पिला देना।"

"हे भगवान, यह होली है या . ।"

"अरे छोडो इस रोनी सूरत को। वह देखो दूसरा शिकार आ रहा है।"

"खबरदार, मुझसे दूर ही रहना।"

"क्यो साहब, आपकी क्या शिकायत है ?"

देखते नही, मै मुसलमान हूँ।"

'तो फिर जाइए पाकिस्तान, यह कट्टर हिन्दुओ का मुहल्ला है। आज यहाँ से कोई बच कर नही जा सकता।"

"अक्ल से काम लो बच्चो ! शहर के किसी भी मुहल्ले मे मुसलमानो पर कोई रग नही डालता। यह तुम्हारा त्यौहार है ।"

"हम कुछ नही जानते, यहा आये हो तो खाली नही रह सकते।"

"लाहोल बिला कुव्वत। सब कपडे गन्दे कर दिये। तुम्हारा कोई बडा नही है ?"

' हाँ कहिए क्या काम है आपको मुझसे ?"

"आपने गौर फरमाया इन बच्चो की हरकत पर।"

"हाँ, पर मेरे विचार मे आपको इतना नाराज होने की जरूरत नहीं है।"

"जी नही , मुझे तो खुश होना चाहिए। आप जानते है बच्चो को यह तालीम देकर आप क्या गलती कर रहे है ? उस तरफ तो पडित नेहरू हमारे हकूको की हिफाजत मे लगे हुए है और इस तरफ आप जैसे कुछ गुमराह लोग-धर्म की आड मे हमे दबाना चाहते है।"

"लेकिन तुम्हारे पाकिस्तान मे हमारे साथ क्या व्यवहार हो रहा है ?"

"मै जानता हूँ, लेकिन हमे उससे क्या ? हमारे देश की आजादी की बुनियाद के उसूल हा अलग है। हिन्दू आपको दूसरे धर्मवालो पर जोर जबर्दस्ती करने की सलाह देते है, वे सच्चे हिन्दू नही है। वे अपने मतलब के लिए आप लोगो को भडका रहे है।"

"बस, अब आपको अधिक लेक्चर देने की जरूरत नही। आखिर साल भर मे तो होली आती है, जरा सा बच्चो ने रग डाल दिया कि मुसीबत ही हो गई। होली भी तो आखिर कोई चीज है। जाओ, बच्चो जाओ, खेलो खूब होली।"

(४) वास्तविक होली

"तब तो महाराज, आपके विचार मे होली खेलना अपराध ही हुआ।"

"जी नही, भला होली खेलना अपराध कैसे हो सकता है ? परन्तु प्रत्येक कार्य देश, स्थिति और समय के ही अनुकूल होना चाहिए। होली का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है, इससे मुझे कोई प्रयोजन नही। मै तो केवल इतना ही जानता हूँ कि सालभर के भेद-भावो को मिटाकर, दूसरो की भूलो को क्षमा करते हुए हमे प्रत्येक परिचित अपरिचित सब को गले लगाना चाहिए और फिर से उन सब की ओर से अपना हृदय साफ कर लेना चाहिए। होली का सच्चा अर्थ भी यही है कि जो होनी थी वह हो ली।"

"यह तो उचित है महाराज, पर अपनी प्रसन्नता का प्रदर्शन यदि हम रग खेलकर करते है तो इसमे किसी को क्या आपत्ति है ?"

"आपत्ति किसी को नही, प्रश्न है केवल इतना कि स्वतन्त्रता का उपयोग उसी सीमा तक कर सकते हो, जिस सीमा तक दूसरो को भी उसके उपयोग का अधिकार प्राप्त होता रहे। एक समय था जब हमने विदेशी कपडो को आग मे झोक कर होली जलाई थी, किन्तु आज के आर्थिक सक्रमण-काल मे व्यर्थ धन बरबाद न करते हुए हम अपने कलुषित विचारो को होलिका की पवित्र अग्नि मे भस्म कर सकते है। आज भी विदेशी वेशभूषा हमारे असख्य नर-नारियो के लिए गौरव की वस्तु बनी हुई है। आज भी अग्रेजी भाषा का मोह हमसे नही छूटता। आज भी हम मे से व्यक्तियो का शरीर देशी अवश्य है किन्तु, उनकी आत्मा तथा उनके मस्तिष्क पर गहरी विदेशी छाप पडी है। वह रहते भारत मे है, किन्तु, उनकी कल्पना सदैव ही विदेशो मे विचरित होती रहती है। ऐसे लोगो की आखे इग्लैंड के धनी समाज तक पहुँच सकती है, किन्तु अपने ही देश के असख्य-गरीबो की ओर देखने का उन्हे अवकाश नही, उनके कान हॉलीवुड की अभिनेत्रियो की गाथाएँ सुन सकते है, किन्तु झोपडो मे रहने वाली दुखी भारतीय नारियो की करुण पुकार सुनने का उन्हे अवसर नही, उनका ध्यान रूस की अनीश्वरवादिता, फ्रान्स के फैशन तथा अमेरिका के आमोद-प्रमोद की ओर तो जा सकता है, किन्तु अपने देश की धार्मिक प्रवृत्तियो, सरलता एव कृत्रिमता से विमुक्त जीवन से उन्हे कोई सरोकार नही। आज आवश्यकता है, उन लोगो को होली खेलने की। ऐसी होली कि जिसके रग के सामने यह विदेशी रग फीका पड जाय, जिसकी एक ही लपट मे हमारी यह कलुषित विदेशी विचार-धारा भस्म होकर रह जाय।"

"किन्तु महाराज विदेशों द्वारा की गई उन्नति को देखने से तो यही प्रतीत होता है कि वे हमसे कहीं अच्छे हैं।"

"क्यों नहीं तभी तो आज असली होली वही खेल रहे हैं। समस्त विश्व आज दो बड़े दलों में बँट चुका है, जो निर्धन और निस्सहाय देशों को चारों ओर से घेर कर उन पर बम और गोलियों का रंग फेंक रहे हैं। इन छोटे देशों की भोली जनता को प्रत्यक्ष होली की ज्वाला में झोंका जा रहा है और अब होलिका समस्त विश्व में अपना ताण्डव नृत्य करने को उत्सुक हो रही है। आज इस होलिका की ज्वालाएँ मानव के इस भौतिक विकास पर अट्टहास कर रही हैं। यह इन विदेशों की 'अच्छाई' का ही तो सबूत है। अच्छा तो आज का "सत्संग" समाप्त!

"आज इतनी शीघ्रता क्यों, महाराज?"

आज होली है न, इसलिये।"

४

एक उपेक्षित देव

(१) यदि हम अपने देश की प्राचीन प्रणाली पर दृष्टिपात करे तो हमे यह स्पष्टत अनुभव होगा कि मानव समाज पर जिन शक्तियो का उपकार था अथवा जिनके क्रोध मे उनकी हानि का भय था उन सबको मनुष्य ने देव की उपाधि प्रदान की है, उदाहरण के लिए सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि। इन्ही म सर्प, वाराह आदि के नाम सम्मिलित किये जा सकते है। "मलदेव" का नाम पक्षपात के कारण ही देव सूची मे सम्मलित नही किया गया ऐसा कहा जा सकता है। न्यायोचित यह होता कि "मलदेव" के उपकार तथा प्रभाव को ध्यान मे रखकर इसे भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता। यदि मनुष्य को प्रतिदिन प्रात.काल मलदेव' के दर्शन न हो अथवा कुछ दिनो मलदेव के दर्शन करने मे अनियमितता रहे तो निश्चित रूप से वह रोगग्रस्त हो जायगा व परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु हो जायगी।

(२) प्राचीन मान्यता के अनुसार विश्व मे ३३ करोड देवता है। इस सख्या का आधार क्या है, नही कहा जा सकता। सम्भवत उस समय देश की जनसख्या ३३ करोड़ रही हो। किवदन्ती के अनुसार ३३ करोड देवताओ का वास गाय की पूँछ मे बताया गया है। यह निश्चित रूप से नही बताया जा सकता है कि इन ३३ करोड देवताओ मे मल देवता का स्थान है अथवा नही? किन्तु मनुष्य तथा देवताओ की समान सख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मलदेव' प्रत्येक मनुष्य मे पाया जाता है। 'गाय की पूँछ' मे ही इन बहुसख्यक देवताओ के निवास की कल्पना भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है।

(३) "मलदेव" साक्षात् बुद्धिदाता है। इसके दर्शन से मनुष्य जाति को स्फूर्ति व शक्ति प्राप्त होती है, इस देव के दर्शन से प्रत्येक व्यक्ति अपने को धन्य मानता है। इसके दर्शन से मनुष्य का दिन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत होता है, मनुष्य अपने को कृतार्थ समझता है, इसी के वरदान से मनुष्य के रोग शमन होते है, यही ऋद्धि व सिद्धि के देवता हैं। इसकी महिमा अपरम्पार है, इसका

जितना स्तुति गान किया जाय उतना ही कम है। धर्मशास्त्रो मे "ईश्वर" को अगम्य व स्तुति ज्ञान मे 'नेति" शब्द का उपयोग किया गया है। इस देव की स्तुति मे भी इन शब्दो का उपयोग निस्सन्देह किया जाना चाहिए।

(४) 'मलदेव' अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण देवता है। प्रत्येक मनुष्य को इसकी प्रार्थना करना अनिवार्य है। आस्तिक-नास्तिक इस विषय मे भेदभाव नही कर सकता है, हिन्दू मान्यता के अनुसार प्रातःकाल प्रथम कार्य "शौच" माना जाता है, इस 'प्रात स्मरणीय देवता' के कारण ही यह कर्तव्य स्थिर किया गया है। प्राचीन युग मे मनुष्य ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर प्रथम कार्य Morning duty के तौर पर 'शौच' मुख मार्जन करता था उसके पश्चात् ईश्वर स्मरण आदि करता था, अर्थ यह है कि 'मलदेव' को ईश्वर से भी उच्चता व प्राथमिक स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण के कारण हमारी दैनिक चर्या में कुछ परिवर्तन हो गया है, रात्रि को देर से भोजन, अत्याधिक विलम्ब से निद्रा त्याग ऐसे कारण है कि 'मलदेव' की स्तुति मे शिथिलता उत्पन्न हो हो गई है। मनुष्य सूर्योदय के काफी समय पश्चात् निद्रा त्याग करता है तथा इसके पश्चात् हो इस देव की स्तुति को करता है। सूर्योदय के पूर्व जो तल्लीनता इनकी स्तुति मे हो सकती थी वह सूर्योदय के पश्चात् नही हो सकती है। यही कारण है कि यह देव उतना वरदानदायी नही रहा है और मनुष्य उसके कोप से प्राय अस्वस्थ है, मनुष्य "कब्ज" का शिकार हो रहा है। कुछ दुर्बुद्धि मनुष्य तो इस देव का इतनी उपेक्षा कर देते है कि प्राचीन काल की 'उष पान' की प्रवृत्ति के स्थान पर पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण Bed tea लेते है। इतना ही नही कुछ नास्तिक तो चाय को स्फूर्तिदायी व बुद्धिदायी भी मानने लगे है यथार्थ मे यह इस देव की अवहेलना है। यह भी एक कारण है कि देश की अधिकांश जनता "मलावरोध" की शिकार है। भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियो का प्रयोग करते हुए भी यह देव उतना प्रसन्न नही है जितना प्राचीन काल मे था।

(५) मनुष्य ही नही प्रत्येक देवता 'चाटुकारिता प्रिय' है उनकी स्तुति मे खामी हुई कि नाराज हो गये, यदि मनुष्य प्राचीन काल के समान सूर्योदय के पूर्व स्तुति प्रार्थना प्रारम्भ करे तो निश्चित रूप से यह महादेव प्रसन्न हो सकता है।

"गया सिजदा से मारा एक शैतान
सच तो यह है कि खुशामद से खुदा राजी है।"

यही नही श्रीकृष्ण भगवान ने गीता मे कहा है :—

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि भारत ! "

यह खुशामद का उदाहरण है । इसी कारण यदि हमारा देव भी मनुष्य से अप्रसन्न हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है ।

मानव समाज को आजकल दरिद्रता के कारण देश मे खुराक से (Nourishment) की कमी हो गयी है । मनुष्य को पौष्टिक खुराक नही प्राप्त होती, मनुष्य स्वादप्रिय हो गया है, कैसी-कैसी वस्तु खाता है । हमारे भोजन मे हम यह ध्यान नही रखते कि कौन-कौन सी वस्तु हमारे इस "महादेव" को प्रिय है । इसके विरुद्ध भोजन की वस्तु खा लेने पर भी यह अप्रसन्न हो जाते हैं । आवश्यक यह है कि देवप्रिय वस्तु से परिपूर्ण सतुलित भोजन हो तो अप्रसन्नता का कोई कारण नही हो । इस प्रकार इस महादेव की प्रार्थना के लिए मनुष्य का मन निर्मल होना चाहिए । यदि आपने पूर्व रात्रि मे पूरी निद्रा नही ली है तो आपका मन स्वच्छ नही हो सकता है । यदि आपके मस्तिष्क मे चिन्ताए व्याप्त है तो स्वाभाविक है कि आप ठीक तौर पर प्रार्थना नही कर सकेंगे, आपको पूर्व से ही "मानसिक कब्ज" होगा । जिस प्रकार पूर्ण श्रद्धा के साथ कोई धर्मावलम्बी एक चित से ईश्वर आराधना करता है उसी श्रद्धा (ईमान) के साथ यदि आराधना की जाय तो कोई कारण नही है कि इस महादेव की अप्रसन्नता शेष रहे । यदि आराधना खड़े-खड़े घूमकर की जावे, मनुष्य प्रतिदिन प्रात-सायकाल १-२ मील पैदल यात्रा करे तो शीघ्र प्रार्थना सफल हो सकती है । पैदल यात्रा का महत्व हमारे युग के महान् व्यक्ति श्री बिनोबाजी ने भी बताया है । मनुष्य इस प्रकार से नैसर्गिक उपाय न करके अप्राकृतिक उपाय "एनीमा" आदि का प्रयोग करते है तो स्वाभाविक है कि यह महादेव अप्रसन्न हो । मेरे मत से तो इस महादेव की प्रार्थना एक चित से घूम कर की जावे तो सफलता निश्चित है । आधुनिक सभ्यता के हामी इस महादेव के वरदान-स्थल पर भी चित्त एकाग्र नही करते । आधुनिक सभ्यता ने एक बात अवश्य की है कि वरदान-स्थल पर अत्यधिक सफाई का वातावरण निर्माण कर दिया (Flush) के (Latrines) निर्माण कर दिये है इस कारण यह देव प्रसन्न हो सकता था किन्तु इसी का लाभ लेकर प्रार्थना मे देर लगने के कारण मनुष्य ने समय की बचत के लिये यहा पर समाचार पत्र का अवलोकन, अन्य आवश्यक कार्य निबटाना प्रारम्भ कर दिया । किसी-किसी को १-२ घण्टा बिताना पड़ता है, समय के उपयोग के लिए वहा पर अन्य कार्य (पठन) प्रारम्भ कर देने के कारण एकाग्रता नष्ट हो गयी, इस प्रार्थना मे एकाग्रता आवश्यक

है। प्रार्थना सफल होने पर उसका स्वागत आवश्यक था किन्तु समुचित स्वागत न होने के कारण वापसी हो जाती है। इसी कारण उर्दू के शायर ने भी कहा है :-

कदमचे पर सभल बैठो, नहीं है खेल तिफ्लाना
गरजता गूंजता आता है, देखो किस कदर .

हमको यह स्मरण होना चाहिए कि देवाधिदेव की स्तुति गान उर्दू मे प्रसिद्ध शायर 'श्री चिरकिन' ने अपनी अनूठी कविता के द्वारा काफी किया है। इसी कारण श्री चिरकिन ने उर्दू जगत मे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। वास्तव मे भागवत भक्त यदि भगवान का गुणगान करता है तो उसकी प्रसिद्धि होना स्वाभाविक है। अन्यथा 'चिरकिन बेचारा इस अखिल ब्रह्माण्ड का तुच्छ साधारण प्राणी था। आशा है कि मनुष्य एकाग्रचित से प्रार्थना प्रारम्भ करके "मल महादेव" को प्रसन्न कर सकेगा।

चतुर्थ आयाम

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

(१) हमारा राष्ट्र-धर्म
(२) आत्म-निर्भरता और स्वदेशी
(३) स्वदेशी धर्म और हमारा दायित्व
(४) गौवध निषेध, एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या।
(५) गौवध निषेध, प्रश्न का एक पहलू
(६) राष्ट्रीय जीवन और हमारा वायित्व
(७) अभाव पीड़ित मानव-वेदना
(८) राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीयता

१
हमारा राष्ट्र-धर्म

सामान्यत जनसामान्य मे यह धारणा दृढ है कि जैनधर्म मे केवल व्यक्तिगत साधना पर बल दिया गया है, मनुष्य के सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति जैन-धर्म उदासीन है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। जहाँ तक मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का सम्बन्ध है, उसका परिष्कार व्यक्तिगत साधना मे ही हो सकता है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास किसी अन्य के द्वारा की हुई साधना के माध्यम मे नही हो सकता। किन्तु यहाँ "धर्म" शब्द कर्तव्य के अर्थ मे प्रयुक्त नही करके हम उससे तात्पर्य "दायित्व" अर्थ मे करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमे लगता है कि मनुष्य का उसके पिता, माता, पत्नी, पुत्र आदि स्वजनो के प्रति कुछ दायित्व है, उसका समाज, नगर तथा राष्ट्र के प्रति भी कर्तव्य है। इसी कारण जैन ग्रन्थो मे मानव की व्यक्तिगत साधना पर बल दिया, वही स्वजनो के प्रति दायित्व के सम्बन्ध मे भी विचार किया है। इसी विचारधारा मे हम यह भी पाते हैं कि स्वय भगवान महावीर अपने पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता के अनुरोध पर गृहत्याग को कुछ समय के लिए स्थगित कर देते हैं। जहाँ तक सामाजिकता का सम्बन्ध है,प्रत्येक तीर्थंकर अपने जीवन मे केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते है। सघ निर्माण के समय उनकी आचार प्रणाली तय कर दी जाती है। यही नही सघ की महिमा जैन ग्रन्थो मे बहुत बताई गई है। जैन आगम (नन्दी सूत्र) के प्रारम्भ मे तीर्थंकर, गणधर तथा पश्चात्वर्ती आचार्यो की पट्टावली का जिक्र करते हुए सघ के सम्बन्ध मे जो गुणानुवाद किया गया है वह बहुत ही प्रेरणास्पद है। इन स्तुतिपरक गाथाओ मे सघ को अनेक गुणो से अलकृत किया है, तथा उसको कई प्रकार की उपमा दी गई है। और यह भी सत्य है, कि मनुष्य जीवन मे व्यक्तिगत रूप से बहुत से कार्य नही कर सकता। इस प्रकार के कार्य सघ द्वारा ही हो

सकते है। इसी कारण तीर्थंकर स्वय दीक्षा लेने के पश्चात् 'नमोतित्थस्स' का उच्चारण करके 'सघ' को नमस्कार करते है। तात्पर्य यह है कि जैन धर्म ने मनुष्य के अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक दायित्वो के लिए प्रेरणा दी है। इनकी ओर से उदासीनता नही बताई। इस अवसर पर मुझे उर्दू के एक कवि का कहना याद आता है—

क्या करेगा प्यार वह भगवान को,
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद मे इन्सान की,
कर न पाया प्यार जो इन्सान को।

जैन द्वादशागी के एक महत्वपूर्ण भाग-- श्री स्थानाग सूत्र मे मानव के १० धर्मों का विधान किया गया है। उसमे अन्य प्रकार का धर्म (दायित्व) के साथ ग्राम, नगर, राष्ट्र धर्म बताया गया है।

(१) गामधम्मे (२) नगरधम्मे (३) रट्ठधम्म (४) पाखण्डधम्मे (५) कुलधम्मे (६) गणधम्म (७) सघधम्मे (८) सुयधम्मे (९) चरित्त धम्मे (१०) अत्थिकाय धम्मे।

उपरोक्त सूची मे ग्राम-नगर राष्ट्र-धर्म का स्थान क्रमाक १, २, ३, पर दिया गया है, जिस प्रकार मानव का दायित्व स्वजन-समाज के प्रति है, उसी प्रकार से ग्राम, नगर, राष्ट्र के, प्रति भी दायित्व है। जिस स्थान पर मनुष्य रहता है, जहाँ के, जलवायु का लाभ लेकर मानव अपना जीवन-यापन करता है, उस ग्राम या नगर की सुखशान्ति म उसकी शाति टिकती है, उसके प्रति दुर्लक्ष कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार जिस राष्ट्र के हम नागरिक है, उसके प्रति हमको अपना कर्तव्य-निर्वाह करना होता है। हम सब जानते है कि ग्राम-नगर का प्रबन्ध करने मे या जनता मे स्वशासन की भावना जाग्रत करने की दिशा मे इन इकाइयो के लिए स्वायत्त सस्थाओ का निर्माण किया गया। इनका निर्माण पहले चाहे विदेशी सत्ता ने अपने समर्थक उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किया हो किन्तु इनके पीछे जो तत्व है वह Self Govern का है। स्वतन्त्र भारत मे तो इन स्वायत्त सस्थाओ को और अधिक अधिकार दिये गये है। ग्राम सभा, ग्राम पचायत, जिला पचायत, जनपद पचायत, नगर पालिका, नगर निगम आदि उसके उदाहरण हैं, जो नगरो तथा ग्रामो का प्रबन्ध करती है। मनुष्य इनके नियमोपनियम का पालन करें, सफाई, स्वच्छता रखें, लोक-स्वास्थ्य की दिशा मे जो प्रतिबन्ध लगाये जावें उनका यथोचितरूप से पालन करें तो कहा जा सकता है कि हमने ग्राम-धर्म, नगर-धर्म या राष्ट्रधर्म का पालन किया उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। ●

२

आत्मनिर्भरता तथा स्वदेशी

हमारे देश की यशस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, दृढप्रतिज्ञ प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने गत भारत-पाक युद्ध के पश्चात् इस बात पर बल देना प्रारम्भ किया है कि देश को प्रत्येक दिशा मे आत्मनिर्भर होना है ताकि देश विदेशी सहायता (हालांकि "सहायता" शब्द अनुपयुक्त है, वह तथा कथित सहायता एक ऋण ही है।) पर निर्भर न रहे। अभी ४-५ दिन पूर्व ही प्रधानमन्त्री ने एक सभा मे भाषण करते हुए कहा था कि "सहायता" शब्द गलत है। वास्तव मे वह दीर्घकालीन ऋण है, और इसने हमारी अर्थव्यवस्था पर बड़ा बोझा डाला है, फिर भी हम किसी भी देश से इस प्रकार की सहायता अपनी निश्चित नीति, सिद्धान्त तथा आदर्शों को अक्षुण्ण रख कर ही स्वीकार कर सकते है, किसी प्रकार की शर्त से आबद्ध सहायता स्वीकार नही की जावेगी। वास्तव मे इस प्रकार की घोषणा जहाँ देश मे उत्पादन पर बल देकर अधिक उत्पादन की दिशा मे मार्गदर्शन देगी, वहाँ देश का आत्मसम्मान ऊँचा करने मे सहायक होगी। इसी कारण देश के राष्ट्रपति श्री गिरि महोदय ने भी देश के उद्योगों के सम्मुख एक योजना रखकर आगामी कुछ वर्षों तक मे हड़ताल आदि न करने के लिये श्रमिक वर्ग को दिशाबोध दिया है, सम्भवत इसी विचारसारणी के अनुरूप उद्योग की व्यवस्था मे श्रमिको का प्रतिनिधित्व दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमे सन्देह नही कि यदि देश की अपनी नीति, आदर्श तथा सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से निर्धारण करना है, उनके अनुरूप देश का कारोबार चलाना है, तो उसे प्रत्येक दिशा मे स्वय के पैरो पर खड़ा होना पड़ेगा, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहाँ उद्योगपति तथा श्रमिक को देशभक्तिपूर्ण भावनाओ के प्रति समर्पण करना होगा, वहाँ उपभोक्ता को भी चतुर्थांश शती से उपेक्षित स्वदेशी भावना का आदर करके, कुछ अधिक मूल्य देकर कुछ घटिया वस्तु भी क्रय करना होगा। तब ही देश जहाँ आवश्यक वस्तुएँ

विदेशो को निर्यात करके विदेशी मुद्रा रक्षित कर सकेगा, वहाँ सारे देश मे एक मानसिक परिवर्तन भी होगा ।

स्वतन्त्रता पूर्व राष्ट्र के कर्णधार महात्मा गाधी ने विदेशी सत्ता से सघर्ष करने मे जिन महत्वपूर्ण साधनो का आविष्कार किया था । उनमे स्वदेशी व्रत भी था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलनो मे स्वदेशी पर अत्यधिक बल दिया जाता था । यही नही, जहाँ तक राष्ट्रीय महासभा के सदस्यो का प्रश्न था उनके लिए खादी (हाथ से कता, बुना कपडा) का प्रयोग अनिवार्य था । वास्तविकता यह थी, कि खादी केवल एक वस्त्र नही था, अपितु एक विचार था । खादी के पीछे सादगी, समाज के अभावग्रस्तवर्ग के साथ तादात्म्य तथा बेरोजगार लोगो को इस उद्योग से रोजगार दिलाने का भी भाव था । इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर केवल काग्रेस ही नही, देश का बहुत बडा समुदाय अधिक मूल्य देकर भी मोटी खुरदरीखादी का वस्त्र उपयोग मे लाने मे गौरव अनुभव करता था । पूज्य गाधी जी ने आश्रम के अनेक व्रतो मे "स्वदशी व्रत" को भी सम्मिलित किया था । मुझे स्मरण है कि उस युग मे खादी की महत्ता सूचक कवि ने जनता को आह्वान करके कहा था कि—

को भी लिबास अपना खादी बनाओ यारो ।

तो महिलाओ ने अपना निश्चय निम्न शब्दो मे व्यक्त किया—

"निपट दिगम्बर डोलेंगी या लेंगी अम्बर खादी का"

किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् का वातावरण इस दृष्टि से बडा निराशाजनक रहा । जन सामान्य की बात तो दूर रही काग्रेसी, सरकारी तथा उसके मन्त्रीगणो ने खादी तथा स्वदेशी के प्रति इतना आग्रह नही रखा । यह सत्य है कि उन्होने खादी शब्दो मे पहिनी किन्तु उसके पीछे जो उदार भावनाए थी, जो सादगी का भाव था उसको दृष्टिगत नही रखा । मेरे अपने नम्र मत मे रेशमी वस्त्र, अधिक बारीक वस्त्र (चाहे वह हाथ कते, बुने ही हो) खादी-विचार के विरुद्ध है, इसी प्रकार जो वस्त्र परिधान किये जावें, वह सादा हो । खादी पोशाक के स्थान पर बुशर्ट और पन्ट हो तो खादी विचार से उनका मेल नही खाता । तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् मत्रीगण ने सम्भवत खादी इसलिये पहनना जारी रखा कि जन-सामान्य मे खादी के प्रति अभी भी आदर का भाव है, या यू कहे कि काग्रेसी का एक यूनिफार्म खादी मानती है । परिणाम यह हुआ कि देश मे सादगी का जो वातावरण निर्मित होना था वह नही हो सका अपितु pomp and show का वातावरण निर्माण हुआ और जन साधारण मे भी स्पर्धा होने लगी कि कौन

कितना ऊँचा जीवन व्यतीत करता है। खादी के अतिरिक्त शेष वस्तुओ मे भी काग्रेसी मत्रीगण का आग्रह स्वदेशी के प्रति अधिक नही रहा। परिणाम स्पष्ट है कि स्वदेशी भावना देश से प्रतिदिन तेजी से दूर होती जा रही है,और भारतीय सघ शासन को विदेशी वस्तु आयात करने विदेशी मुद्रा कम करना पडता है।

गत दिसम्बर के २४ दिवसीय भारत पाक युद्ध ने जहाँ देश मे प्राण फूंके तथा समस्त राजनीतिक दलों ने एकता का सकल्प किया। युद्ध विजय से देश मे आत्म-सम्मान का भाव जागृत हुआ। युद्धोपरान्त प्रधानमत्री के आह्वान पर क्या यह आवश्यक नही है कि आत्मसम्मान के भाव को शाश्वत रूप से कायम रखने के लिए देशवासी स्वदेशी का व्रत लें और समस्त राजनीतिक दल इस प्रश्न को अपना कर देशवासियो मे भावना जाग्रत करें। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शासन को विभिन्न विकास कार्यक्रम अपनाने पडे हैं, और उनके लिये विदेशो से मशीनें आदि आयात करनी पडती है, यह सब कार्य विकासशील देशो को अपनाना पडता है ताकि देश प्रत्येक दिशा मे आत्मनिर्भर हो सके। केवल एक हरित क्रान्ति का प्रश्न लें। खाद्यान्न मे आत्मनिर्भर होना हो तो आधुनिक कृषि के औजार, मशीन, ट्रैक्टर, बीज आदि मँगा कर कृषि का विकास करना पडेगा, जब तक कि उपरोक्त वस्तुओ का हमारे देश मे ही उत्पादन न हो जावे, फिर भी स्वदेशी-व्रत के सम्बन्ध मे कुछ निश्चय करना होगा ताकि देश की विदेशी मुद्रा की बचत हो सके और यदि आवश्यक हो तो उससे आधुनिक रक्षा साधनो को क्रय किया जा सके। प्रधानमन्त्री ने इस युद्ध विजय के पश्चात् बार बार इस बात को दोहराया है कि युद्ध का खतरा अभी वर्तमान है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति का सामना कर सके इस दृष्टि से प्रतिरक्षा साधनों के उत्पादन पर बल दिया जावे, और यदि देश मे उत्पादन क्षमता अभी पूरी मात्रा मे न हो सके तो आयात किया जा सके। एक विभाजन रेखा आयातित वस्तु के सम्बन्ध मे मोटे रूप मे खीची जा सकती है और वह यह कि व्यक्ति अपने उपयोग के लिये स्वदेशी वस्तु ही इस्तैमाल करेगा। मौज शौक की वस्तु आयात नही की जावेगी। यही विभाजक रेखा यदि स्वीकार करके कार्य किया गया तो हम बहुत बडी मात्रा मे विदेशी मुद्रा को बचा सकेंगे।

सक्षेप मे यह कि २५ वर्षों से उपेक्षित स्वदेशी-व्रत पालन पर अब अधिक बल देने, उसे पुन जाग्रत करने का उपयुक्त समय आ गया है। काश ! देश की सरकारें तथा जनता इस ओर पर्याप्त ध्यान देगी।

●

३

स्वदेशी धर्म और हमारा दायित्व

हमारा देश लगभग १५० वर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जजीरो से जकडा हुआ था। इस विशाल देश मे अग्रेजो ने व्यापारी के रूप मे प्रवेश किया। उन्होने इग्लेण्ड मे उत्पादित माल को खपाने और इस प्रकार अपने देश की समृद्धि बढाने के हेतु भारतवर्ष को अचूक साधन माना। किन्तु व्यापारिक सुविधा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये देश मे अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित करना आवश्यक समझा। इस कारण अग्रेजो ने व्यापारिक सुविधा के साथ-साथ देश मे अपनी राजकीय सत्ता स्थापित की। परिणाम यह हुआ कि देश, विदेशी गुलामी मे जकड दिया गया। लगभग १५० वर्ष मे अग्रेजो ने अपनी राजकीय सत्ता के कारण इस देश मे खूब शोषण किया। इस देश का यह सौभाग्य था कि पूज्य बापू एक त्राता के रूप मे अवतीर्ण हुए। देश ने उनके नेतृत्व मे सगठित रूप मे विदेशी गुलामी को समाप्त करने के लिये स्वतत्रता की लडाई लडी। अखिल भारतीय काग्रेस के तत्वावधान मे देश की जनता ने प्रत्येक प्रकार का बलिदान किया। परिणामस्वरूप देश राजनीतिक रूप से स्वतत्र हो गया। किन्तु देश मे गरीबी अभी विद्यामान रही। देश के स्वतत्र होने के पश्चात विभाजन के परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हुई। हमारे नेताओ की सूझबूझ तथा दक्षता ने उन समस्याओ का हल निकाला। अभी देश मे गरीबी को मिटाने के लिये सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। गरीबी समाप्त होने पर या यू कहिए कि हमारी राष्ट्रीय आय बढ जाने पर ही हम आर्थिक-स्वतत्र होगे तब ही देश का साधारण नागरिक स्वराज्य का अनुभव कर सकेगा। भारतवर्ष एक गरीब देश है। यहा के जनसाधारण की आय अत्यन्त अल्प है, जबकि ससार के अन्य देशो की आय प्रति व्यक्ति कही अधिक है, ऐसी दशा मे हमारा देश विदेशी वस्तुओ का आयात करे यह उचित नही कहा जा सकता है। पूज्य बापू ने स्वदेशी वस्तुओ को प्रयोग मे लाने पर अत्यधिक जोर दिया था। किन्तु आज यह प्रवृत्ति अधिकाधिक जोर पकड रही

हैं कि हम''सादगी''के स्थान पर''तडक भड़क''के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। इस समय देश मे''स्वदेशी धर्म'' पालन की अत्यधिक आवश्यकता है। इससे हम मे जहा सादगी आवेगी वहा देश का अरबो रुपया विदेश मे जाने से बच सकेगा और परिणाम स्वरूप इस देश के जन साधारण की आय बढेगी। उद्योग धन्धो का विकास होगा। हम आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता अनुभव करेंगे। सक्षेप मे यह कि आज हम यह प्रण करें कि:—

१ हम भविष्य मे केवल स्वदेशी वस्तुओ का ही प्रयोग करेंगे।

२. हम विदेश से वस्त्र नही मगायेंगे न उपयोग मे लावेंगे।

३. हम विदेश से अनाज नही मगायेंगे और इस हेतु अनाज का उत्पादन बढायेंगे।

४. अनिवार्य आवश्यकता को छोड़कर जहा तक सम्भव होगा विदेशी वस्तुए न मगायेंगे और न उपयोग मे लावेंगे।

४

गौवधनिषेध; एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् से ही अहिंसक समाज (ऐसे व्यक्ति जो अहिंसा मे विश्वास रखते हैं चाहे वह जैन हो, वैष्णव हो अथवा अन्य धर्मावलम्बी हो) को भारतीय शासन से यह आशा थी कि वह देश मे अहिंसक वातावरण का निर्माण कर सात्विक जीवनयापन को प्रोत्साहन देगा। पूर्व आशा के अनुरूप अब सन् १९५२ मे व्यापक निर्वाचन के समय देश के करोडो मतदाताओ को अपना मतदान-अधिकार उपयोग मे लाने को मिला तब देश के इस भावनात्मक विचार का लाभ लेकर कुछ राजनीतिक दलो ने पूर्ण गौ-वध-निषेध (कानून द्वारा) की माग रखी और इस आधार पर मतदाताओ के विचारो को प्रभावित करने तथा अपने मत का उपयोग उनके पक्ष मे कराने हेतु प्रयत्न किया। किन्तु सारे प्रयत्नो के बाद भी राजनीतिक दलो को कोई लाभ नही हुआ। इसीप्रकार सन् १९५७ के द्वितीय तथा सन् १९६२ के तृतीय व्यापक निर्वाचन के समय भी प्रयत्न हुए किन्तु कोई परिणाम नही निकला। वास्तव मे बात यह थी कि सत्तारूढ दल (कांग्रेस) मे भी कुछ महत्वपूर्ण व्यक्ति कानून द्वारा गौ-वध निषेध को उचित मानते थे। राष्ट्रपिता स्वर्गीय महात्मा गाधी गौवध अनुचित मानते थे, उसका माता के रूप मे उपकार मानते थे। उन्होंने गौमाता को (A poem of pity) 'करुणा की कविता' बताया। उनकी गौ-सेवा केवल धार्मिक विश्वास अथवा भावात्मक नहीं था अपितु उनकी मान्यता थी कि देश मे शाकाहार को प्रोत्साहन देकर सात्विक जीवन का निर्माण गौमाता के सरक्षण तथा सम्वर्धन पर निर्भर है। शाकाहार के लिए अनाज, साग-सब्जी का बहुत अधिक मात्रा मे उत्पादन आवश्यक है इसलिए गौ माता की सेवा केवल शब्दो मे नही अपितु गो सेवा सघ, गौसवर्धन आदि की स्थापना कराकर भी माता के उपकार की तरफ देश का ध्यान आकर्षित किया। इस सारी परिस्थिति के पश्चात् भी पूज्य गाधीजी कानून द्वारा गौवध

निषेध के पक्ष मे अधिक नही थे ऐसा लेखक का विश्वास है। पूज्य गाधी जी का चतुर्मुखी व्यक्तित्व था। वह सन्त भी थे, राजनीतिज्ञ भी थे। यदि यह कहा जावे कि उनका वैचारिक धरातल सन्त प्रकृति के अधिक निकट था तो अत्युक्ति नही होगी। उनका विश्वास था कि मानव स्वय गौ-माता के उपकार को ध्यान मे रखकर उसकी हत्या से विमुख हो जावेगा। वह मानव के भीतर प्रसुप्त देवत्व मे विश्वास करते थे। प्रत्येक मनुष्य भला है, सज्जन है, किन्तु इस कठोर जगत मे वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। यही कारण है कि पूज्य गाधी जी के वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् भी मानव ने गौ-वध से विमुखता ग्रहण नही की। इधर पडित नेहरू (जिनके नेतृत्व मे भारतीय सघ शासन स्वतन्त्रता के समय से ही उनके स्वर्गवास पर्यन्त चला और जो काग्रेस के भी अत्यन्त महत्वपूर्ण नेता थे) का दृष्टिकोण आर्थिक था। देश मे व्याप्त गरीबी, जहालत आदि को दृष्टि मे रखकर पडितजी ने अपने शासन काल मे आर्थिक दृष्टिकोण अधिक रखा। यह सत्य स्वीकार करना चाहिए कि पडित नेहरू के विशाल चमकीले व्यक्तित्व के सम्मुख काग्रेस के उन महत्वपूर्ण व्यक्तित्वो की नही चल सकी जो गौ वध-निषेध कानून द्वारा भी कराये जाने के पक्ष मे थे। परिणाम यह रहा कि भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् से कानून द्वारा सारे देश में पूर्ण गो-वध निषेध नही हो सका। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता से पूर्व कई देशी रियासतों में (जहाँ हिन्दू राजा थे) अपनी सीमा के भीतर कानून द्वारा पूर्ण गौ-वध-निषेध था किन्तु, स्वतन्त्रता के पश्चात् कई देशी रियासतें मिलाकर उनका सघ बनाया गया तब उस सघ शासन ने कही पूर्व की भाति कृषि उपयोगी पशुओ की हत्या का निषेध करने वाले कानूनो का निर्माण किया। किसी-किसी प्रादेशिक राज्य ने इसी प्रकार के कानूनो का निर्माण किया किन्तु सविधान कानूनो के द्वारा पूर्ण गौ-वध-निषेध सम्भव नही हो सका। जैसा कि देश के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयो मे करार दिया है कि ऐसे पशु जो कृषि के कार्य मे उपयोगी न रहे (चाहे गाय ही क्यो न हो) का वध पूर्ण रूपेण निषेध नही किया जा सकता।

अभी-अभी गत कुछ मास से सारे देश मे पूर्ण रूप से गौ-वध निषेध (कानून द्वारा) का प्रश्न तीव्रता से उठाया गया है। इस बार विशेषता यह है कि यह प्रश्न देश के साधु समुदाय ने अपने हाथ मे लिया तथा इसकी सफलता के लिए योजना बनाकर जनमत जाग्रत किया। यह सत्य है कि इस समुदाय मे से किसी-किसी के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उनको कुछ विरोधी राजनीतिक दलो का सहयोग भी प्राप्त है किन्तु सबके लिये यह नही कहा जा सकता। लेखक ने देहली मे इस हेतु आयोजित एक आम सभाको

देखा है जहाँ जैन मुनि श्री सुशीलकुमार ने अपने भाषण के प्रारम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया था कि गौवध निषेध का प्रश्न राजनैतिक नही है, न राजनैतिक दलो को मत प्राप्ति का साधन इसे बनाना चाहिये। यह प्रश्न विशुद्ध सात्विकता वृद्धि का आन्दोलन है। बहुत समय पूर्व देश को मासाहार से शाकाहार की तरफ आकर्षित करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह गौमाता को है। दिनाक ७ नवम्बर के प्रदर्शन मे जो दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी उसकी भर्त्सना इस आदोलन के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व ने की। उसके पश्चात् तो अनशनो का दौर प्रारम्भ हो गया। यह प्रसन्नता की बात है कि जगदगुरु शकराचार्यजी के अनशन समाप्ति के हेतु प्रयत्न चल रहा है। (अनशन समाप्त कर दिया है।) तथा अभी-अभी लोक सभा के गृहमत्री के लिहाज से जैन मुनि श्री सुशीलकुमार ने अनशन समाप्त कर दिया है। भारतीय सघ के वर्तमान गृहमत्री श्री चौहान ने गौवध बन्दी की सैद्धान्तिक रूप से सहमति प्रकट की है। जहाँ तक मैं समझता हूँ भारतीय सघ शासन की अभी तक की वैचारिक शृखला यह रही है कि गौवध बन्दी का प्रश्न राज्य सूची (State list) का है। उसे अपने-अपने राज्यो मे इस सम्बन्ध मे कानून का निर्माण करना चाहिये। संघ शासन यहाँ तक तो तैयार है कि जो राज्य इस प्रकार के कानून का निर्माण करने को सहमत नही उनको निर्देश भी दे दें किन्तु कोई भी राज्य या सघ शासन (यदि सघ शासन कानून निर्माण करना उचित समझे) प्रत्येक गाय का वध बन्द नही कर सकता जो कृषि के उपयोग मे न आ सकती हो या आयु, शारीरिक न्यूनता के कारण बेकार हो गई हो जिसके लिये सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयो का हवाला दिया जाता है, संविधान के वर्तमान प्रावधान के लिहाज से पूर्ण गौवध पर प्रतिबन्ध लगाना सम्भव नही है जबकि इस आन्दोलन के जनक तथा प्रमुख नेता इसके लिये आग्रह कर रहे है।

यह सब भाई जानते हैं हमारे देश का सविधान दिनाक २६ जनवरी, १९५० को लागू हो गया तथा विधान निर्माण परिषद ने उसे तैयार करके देश की जनता को समर्पण कर दिया। किसी भी देश का सविधान एक पवित्र दस्तावेज होता है उसका पालन केवल कानूनो के आधार पर ही नही अपितु (Spirit) के आधार पर भी किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी किसी भी देश का सविधान मनुष्यकृत ही है। आवश्यकतानुसार उसमे सशोधन परिवर्तन हो सकता है। और हमने इस लघुकाल मे आवश्यकतानुसार सशोधन परिवर्तन किये है। यदि सारे देश मे पूर्ण गौवध पर प्रतिबन्ध लगाने मे केवल सवैधानिक आपत्ति है तो उसको सशोधन करके हल किया जाना चाहिए। इस सिलसिले मे सत्तारूढ दल या शासन का तर्क यह भी रहता है कि आखिर इस प्रकार के

अनुपयोगी पशुओ को पालने का भार देश क्यो बरदास्त करे ? शासन को यह भी भय है कि यदि पूर्णरूपेण प्रतिबन्ध लगा दिया गया तो उनके भोजन (चारे) का प्रबन्ध करने से देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जावेगी । वास्तव मे यह दलीले अत्यन्त लच्चर है । यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि उपयोगिता अथवा अन्य प्रत्येक दृष्टिकोण इस प्रकार के प्रश्नो के लिए सर्वथा उचित नही है । यदि उपयोगिता के दृष्टिकोण को हम पशु जगत से आगे मानव तक लावें तोउस सारी स्थिति की भयानकता से रोगटे खडे हो जाते हैं । यदि उपयोगिता के सिद्धान्त को मानव-जगत पर लागू किया जाना उचित होता तो हमारी दण्डसहिता मे आत्महत्या के प्रयत्न के अपराध मे अनुपयोगी मनुष्य के लिये अपवाद नियत कर दिया जाता अथवा कत्ल के अपराध मे अनुपयोगी मनुष्य का प्राण हरण अपराध की परिभाषा मे नही रखा जाता । पशु जगत तथा मानव जगत का यह अन्तर हमारी स्वार्थबुद्धि का ही प्रमाण है । प्रकृति की पक्षपात रहित व्यवस्था मे जिस प्रकार मनुष्य को जीवित रहने का स्वत्व है उसी प्रकार पशु पक्षी को भी । आश्चर्य की बात तो यह है कि भारतीय सघ शासन जिसके पास सचिव से लेकर निम्न श्रेणी के लिपिको की एक बहुत बडी सेना है । प्रत्येक प्रकार के माहिती दर्शक आकडे (चाहे वह अर्धसत्य ही क्यो न हो ।) विद्यमान है और विशेष बात यह है कि आकडो के जाल से अपना पक्ष सिद्ध करने की बुद्धि के धनी उसकी सेवा के लिये तत्पर है फिर भी शासन ने कभी तथ्यो के आधार पर मूल्याकन करके आर्थिक दृष्टिकोण अभी तक प्रस्तुत नही किया, न देश की जनता को आश्वस्त किया कि उसका दृष्टिकोण सत्य है । मोटे तौर पर यह स्पष्ट है कि अनुपयोगी पशु से भी समाज को अपनी सामग्री मिलती है जो कि उसके भोजन के मूल्य से कही अधिक हो जाती है ।

इस सत्य से कोई इन्कार नही कर सकता है कि गौ माता मे देवता का दर्शन धार्मिक जनता का उसके साथ स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहा । यह कई प्रतिशत म सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नही है । कई ऐसे धर्मभीरु व्यक्ति हैं कि गौमाता की सेवा अत्यन्त निष्ठा से करते है तथा उसके अनुपयोगी हो जाने पर भी निष्काषित नही करते किन्तु यह भी सत्य है कि कई व्यक्ति उसके अनुपयोगी हो जाने पर नाम मात्र का मूल्य लेकर पशेवर व्यक्तियो के हाथ मे विक्रय कर देते है । गौमाता मे वास्तविक देवत्व का निवास है यह कथन तर्कपूर्ण नही है, फिर भी पशु होते हुए भी उसमे देवत्व अवश्य है । यही कारण है कि मानव समाज ने उसके सामाजिक उपकार को ध्यान मे रखकर उसके देव निवास की भावनापूर्ण कल्पना की और उसके आधार पर भारतीय प्राचीन साहित्य मे

पौराणिक आख्यानो की रचना की गई। सत्य बात यह है कि इस देश मे शाकाहार को प्रोत्साहन का श्रेय यदि किसी को है तो वह गौमाता को है। कृषि उत्पादन मे वृद्धि उसके सपूतो द्वारा ही सम्भव हुई है। जैनधर्म के तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव ने जब कृषि की शिक्षा मनुष्य समाज को दी तो अहिंसक वृत्ति वाले मानव के हृदय मे वह आशा होगी कि मानव समाज शाकाहारी हो जायगा। भगवान ऋषभदेव अपने ऐतिहासिक काल के ऐसे महापुरुष है जिनका अस्तित्व तथा जिनकी महानता व भारतीय प्राचीन साहित्य (जैन तथा जैनेत्तर) मे स्वीकार की गई है। सम्भवत भगवान ऋषभ देव का चिन्ह बैल इसी कारण ही हो गया। यही नही भगवान कृष्ण का गौप्रेम तथा गौसेवा को कौन नही जानता। भगवान नेमीनाथ जिनके चचेरे भाई भगवान कृष्ण थे, ने जहाँ प्राणी पशु जगत पर करुणा-रस बहाया वहाँ भगवान कृष्ण ने गौ को अत्यधिक महत्व दिया। हमारी भारतीय परम्परा के अनुरूप जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के प्रमुख उपासक आनन्द के यहाँ बहुत सख्या मे पशुपालन होता था। यह सर्व विदित है किन्तु इस कटुसत्य को हमे भी स्वीकार करना चाहिए कि जन साधारण की गौ भक्ति केवल शाब्दिक रह गई ह। वही गौ भक्त यदि कोई गाय उसके मकान मे घुसपर अनाज अथवा मूल्यवान वस्तु का नाश करे तो इतनी निर्दयता से उसे भगाता है कि गाय की कमर टूट जाती है। लेखक का यह तात्पर्य नही कि गाय को मकान से बाहर न निकाला जावे किन्तु उसे निर्दयतापूर्वक निष्काषित करने पर आपत्ति है, पशु के भीतर भी आत्मा का अस्तित्व है। उसके साथ सहृदयता का व्यवहार उसके प्रति स्नेहशील बनाता है। कई स्थान पर देखा जाता है कि पशु अपने दयालु स्नेहारु व्यक्ति के साथ घुल-मिल जाता है कि उस मनुष्य के अभाव मे वह पशु कर्तव्यमूढ हो जाता हे, खाना पीना छोड देता है। हमने पशु के साथ स्नेह करना नही सीखा है। कितने स्थान हैं जहाँ पशु समझा-बुझा कर शिक्षित किये जाते है। इस दृष्टि से विचार करने पर बडी निराशा होती है। शासन का दृष्टिकोण आर्थिक पहलू से अधिक प्रभावित है किन्तु हमारा दृष्टिकोण भी चाहे वह शासकीय नीति के कारण व्यवस्था से ही क्यो न हो, कम आर्थिक नही है।

ऐसी दशा मे शासन तथा जनता दोनो को कर्तव्य निभाना है। उपासक आनन्द आदि के अनुसार देश के प्रत्यक घर मे अपने साधन-सुविधा से अनुसार पशु पालन हो, उसकी उपयोगिता की वृद्धि के प्रयत्न हो, अनुपयोगी होने पर भी निर्दयता से निष्काषन न करें आदि कर्तव्य जनता को निभाना होगा। तात्पर्य यह है कि—

१. शासन को संविधान मे सशोधन कराकर सारे देश मे पूर्ण रूपेण गौवध-बन्दी कराना चाहिये ।

२. शासन को गौरक्षण, गौ-सवर्धन केन्द्र स्थापित करके सामाजिक कार्य-कर्ताओ का सहयोग प्राप्त करके गौ माता की उपयोगिता मे वृद्धि करना चाहिये ।

इसी प्रकार

३. जनता को अपने साधन सुविधा के अनुसार गौ-पालन करना चाहिये उसका वैधानिक रीति से पोषण करके उसकी उपयोगिता मे वृद्धि करना चाहिये ।

४. निरपयोगी हो जाने पर भी उसकी सेवा की जानी चाहिये, किसी भी दशा मे पेशेवर को विक्रय नही की जानी चाहिये ।

५ यह निश्चय करना चाहिये कि गाय के चमडे (जीवित) से निर्मित वस्तु का उपयोग नही करेंगे आदि :

यह निश्चित है कि यदि शासन को देश मे अहिसक वातावरण का निर्माण करना है देश मे फैली हुई हिसापूर्ण कार्यवाही, अराजकता को समाप्त करना है तो देश मे सात्विकता लाना होगा । मनुष्य मे सात्विकता का प्रादुर्भाव तामसी तथा राजसी आहार, विलासपूर्ण जीवन पाश्चात्यपद्धति से आकृष्ट हुए विचारो से परिपूर्ण नही हो सकेगा । सात्विक आहार प्राप्ति के लिए कृषि उत्पादन और उसके लिये भी गौवश का समुन्नत किया जाना अनिवार्य है ।

यदि शासन ने भारतीय जन-भावना का आदर करके शीघ्र आवश्यक कार्यवाही की तो देश मे उज्जवल भविष्य का सूत्रपात होगा । कोटि-कोटि कण्ठ शासन की सराहना करेंगे अन्यथा भविष्य के सम्बन्ध मे कौन क्या कह सकता है ? काश, हमारा शासन भारतीय भावनाओ के धरातल से सोचना आरम्भ करे ।

५

गौवध-निषेध; प्रश्न का एक पहलू

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् विशेषकर व्यापक निर्वाचन के समय से भारतीय सघ शासन के 'गौहत्या' पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए देश के राजनीतिक दल माँग करते जा रहे है। यह सत्य है कि देश के सविधान मे इस सम्बन्ध मे कुछ निर्देश विद्यमान हैं तथा इस प्रकार का प्रतिबन्धात्मक कानून का निर्माण राज्य-शक्ति के दायरे के भीतर है किन्तु इस प्रश्न की राजनीतिक अथवा साम्प्रदायिक पहलू की भयकरता Serious ness को ध्यान मे रखकर राज्य शासन ने इस सम्बन्ध मे कानून का निर्माण करने का साहस नही किया। कुछ राज्यो ने साहस किया तो सवैधानिक आपत्ति उठाकर प्रभावित व्यक्तियो ने उसे देश की सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौतियाँ दी तथा वहाँ पर सबधित कानून के कुछ अश सविधान के विपिरीत करा दिये। (देखिये १६५८ आल० इन० रिपोर्टर ७११, १६६१ आल० इन० रिपोर्टर ४४८) परिणाम यह रहा कि स्थिति यथावत रही और प्रत्येक व्यापक निर्वाचन के समय यह प्रश्न राजनैतिक पद प्राप्ति का साधन बनाया जाता रहा। यह भी सत्य है कि कांग्रेस के भीतर भी कुछ व्यक्ति इस मत के थे किन्तु यह कटु सत्य स्वीकार करने मे इन्कार नही किया जा सकता कि कांग्रेस के भीतर सर्वोच्च शक्तिशाली व्यक्तित्व इस मत का विरोधी रहा इसी कारण "गौहत्या" सम्बन्धी प्रश्न को काग्रेस के भीतर के खेमे मे बल नही मिल सका, विशेषकर इस लिहाज से कि यदि प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है तो विभिन्न राजनैतिक दल (काग्रेस विरोधी) को इसका श्रेय मिलेगा तथा व्यापक निर्वाचन के समय वह इसका लाभ उठावेंगे।

किन्तु यह तो राजनीति का एक विकृत पहलू है। मेरे निकट तो यह प्रश्न शुद्ध हिसा अहिसा का है। भारतीय सस्कृति विशेषकर श्रमण-सस्कृति मे "अहिसा" दुग्ध शर्करावत् मिली हुई है उसको पृथक नही किया जा सकता। जैन सस्कृति मे गाय ही क्यो, कोई अन्य पशु-पक्षी तक की हिंसा को भी उचित

नही माना जाता किन्तु बहुत प्राचीन काल से भारतीय जन-जीवन मे कई दृष्टि से 'गौ' का जो स्थान है, उसका जो उपकार है, उसको दृष्टिगत रखते हुए यदि जैन समाज भी उस "गौ' को "माता" के रूप मे मान्य करता है उसे वैदिक मान्यता मुताबिक "अहन्या" मानता है तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के आन्दोलन मे एक जैन साधु का सक्रिय सहयोग अथवा अनशन सम्भावना की घोषणा उचित है,या सयम की मर्यादा के प्रतिकूल तो नही है ? यह विचारणीय प्रश्न है। दूसरे शब्दो मे जैन साधु को अहिसा का पालन केवल नकारात्मक होगा या आवश्यक होने पर हिंसा-विरोध रूपी सकारात्मक कार्य भी यह कर सकेंगे, स्थिति के एक असहाय दर्शक रहेंगे, या स्थिति सुधारने मे अपना बहुमूल्य योगदान भी कर सकेंगे, सक्षिप्त मे प्रश्न निवृत्ति प्रवत्ति का है। जैन साधु का जीवन केवल निवृत्ति-परक है या निवृत्ति की अक्षुण्णता रखते हुए प्रवृत्ति-परक भी है ?

यदि जैन धर्म के पिछले २॥ हजार वर्षो के इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो हमको इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे काफी प्रकाश मिलता है। भगवान महावीर यज्ञयाग के विरोधी, अहिसा धर्म की प्रतिष्ठा के सस्थापक,जन्मना वर्ण-व्यवस्था के विरोधी तथा उसके स्थान पर कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के हामी थे। भगवान महावीर के जमाने मे उन्होने इन उदार सिद्धान्तो की व्यवस्था केवल उपदेश देकर नही की अपितु आवश्यक होने पर यज्ञयाग तथा जन्मना व्यवस्था का विरोध किया अपने सघ के अन्य साधु मुनिराजो को उन स्थानो पर भेजा। अस्पृश्यता का विरोध कराया। चाण्डाल कुलोत्पन्न किन्तु भगवान महावीर के सघ मे दीक्षित महानसयम आराधक हरिकेशी तथा मैतार्य मुनि के उदाहरण हमारे सम्मुख है जिन्होने ब्राह्मणो के द्वारा आयोजित यज्ञयाग के स्थान पर जाकर सक्रिय विरोध किया, उन जाति-दम्भ से पीडित ब्राह्मणो को मानवता का पाठ पढाया। यही दो उदाहरण इस बात के प्रबल प्रमाण है कि जैन साधु अन्याय का असहाय दर्शक मात्र नही है, अपितु वह उसका सक्रिय विरोध कर सकता है। वास्तव मे निवृत्ति तथा प्रवृत्ति जीवन के अविभाज्य अग है। जीवन मे जहाँ अनीतिमय बातो की निवृत्ति आवश्यक है वहाँ सत्कार्यो की प्रवृत्ति भी आवश्यक है। मै अनुभव करता हूँ कि गत कुछ शताब्दियो से जैनियो की अहिंसा केवल निवृत्ति-परक तथा नकारात्मक रुख के कारण शक्तिशाली नही रही है। जैन साधु केवल "अहिंसा' का शाब्दिक तथा मौखिक उपदेश देते है किन्तु अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध विरोध तथा विद्रोह की प्रवृत्ति नही करते। यही कारण है कि जैन अहिसा को शताब्दियो से "कायरता" के समकक्ष मानलिया गया है। महात्मा गाँधी जैसे तेजस्वी नेतृत्व ने जहाँ व्यक्तिगत जीवन से "अहिंसा'

को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन मे उपयोगी बना दिया वहाँ अत्याचार का सक्रिय विरोध व मुकाबला करके उसे जीवन दिया है, शूरवीरता का पद दिया है। मुनि श्री सुशीलकुमार जी इस अहिंसक आन्दोलन मे सक्रिय योग-दान करके सफल बना सके तो मेरा निश्चित विश्वास है कि वह जैन अहिंसा को मजबूत बना सकेंगे तथा विश्व मे अहिंसा के मूल्य की पुनः स्थापना हो जावेगी। वह कायर पुरुषो की नही अपितु शूरवीरो की अहिंसा हो जावेगी।

इस अवसर पर मैं एक बात जैन समाज से भी कहना चाहता हूँ। वह यह है कि वह स्वय इस प्रकार की वस्तुओ का उपयोग स्वेच्छा से त्यागें कि जिनमे पशु-पक्षियो के जीवित चमडे का उपयोग किया जाता है। यदि वह इस प्रकार का सामूहिक अभियान चला कर सामूहिक प्रतिज्ञा नही लेता है तो मुनि श्री को जैन समाज के विरुद्ध भी सत्याग्रह का आश्रय लेकर इस प्रवृत्ति को समाप्त कराना चाहिये। आज की स्थिति का चित्रण कवि के निम्न शब्दो मे —

फैशन के हित मारी जाती, आज गर्भिणी गायें अब।
वानरदल-वध कर बनती नर के लिये दवायें अब।।
और उदर हित जो पशु हत्या होती वह अन गिनती है।
किन्तु न कोई शासन सुनता उन मूकों की विनती है।।
अतः सभी से कहो, स्वार्थहित मत, मन ऐसे क्रूर करो।
उठो अहिंसा के वीरो हिंसा के गढ़ चकनाचूर करो।
ध्यान लगाया करते थे मुनि जिन नदियो के घाटो पर।।
मदिरा बशी लिये खडे रहते जब उनके घाटो पर।।
जिन तालाबो मे बोये जाते रहे सिगाडे भर।
वहीं मछलियाँ मारी जाती अब वर्षा जाड़े भर।।
अत शासको को अब उनकी हित रक्षा हित मजबूर करो।
उठो अहिंसक वीरो! हिंसा के गढ़ चकनाचूर करो।।

६

राष्ट्रीय जीवन और हमारा दायित्व

कवि ने कहा है कि

"स्वराष्ट्र चर्चा रहितानि यानि, स्मशान तुल्यानि गृहानि तानि"

कवि महोदय तो यह स्वप्न देखते हैं कि देश मे कोई घर ऐसा न रहे जो राजनीति की चर्चा से शून्य हो अथवा जो घर इस प्रकार की चर्चा से शून्य हो वह स्मशान कहलाये। बात वास्तव मे सत्य है, आज की बीसवी शताब्दी मे किसी राष्ट्र निवासी को राजनीति से नीरस नही रहना चाहिये। वह जमाना बदल गया जब यह कहकर राजनीति की खिल्ली उडायी जाती थी कि "कोउ नृप होय हमे का हानि" आज के युग मे वह हानि प्रत्यक्ष ही दीख पडती है। इस युग मे राजनीति के बिना मनुष्य जिन्दा नही रह सकता किन्तु आश्चर्य की बात है कि जैन समाज राजनीति से इतना उदासीन क्यो है? जैन समाज का भारतीय राजनीति मे क्या स्थान है इस पर विचार करना इस लेख मे अभीष्ट है। पाठको से अविदित नही कि भारत की जन सख्या मे जैन समाज का स्थान कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। जैन समाज सख्या मे कम होते हुए धन मे तथा व्यापारिक कुशलता मे इतना बढा चढा है कि उसकी और उपेक्षा नही की जा सकती। भारतीय व्यापार का बहुत सा अश जैन समाज के हाथ मे है किन्तु इतना महत्वपूर्ण समाज होते हुए भी आप भारतीय महासभा के इतिहास को उठाकर देख लीजिये जैन समाज ने भारतीय राजनीति मे क्या कार्य किया है पता लग जायगा। पूर्वजो के गुणगान तो इतिहास मे मिल जावेंगे, हम भी बडे गर्व के साथ भामाशाह इत्यादि महानुभावो के नाम लेगे किन्तु आधुनिक इतिहास मे कुछ नही मिलेगा। भारतीय महासभा जब से स्थापित हुई है उसकी नीति मे बराबर परिवर्तन होता रहा है। कभी वह कुछ इने गिने शिक्षितो की माग सरकार के समक्ष रखने वाली सस्था मात्र रही। समय ने पलटा खाया तो वह अपनी माग को अधिक दृढता के साथ

सरकार के समक्ष रखने लगी । समय ने फिर पलटा खाया भारतीय महासभा दिन प्रतिदिन केवल कुछ शिक्षितो की संस्था मात्र न रहकर सर्व साधारण की एक मात्र सस्था बनने लगी और उसने Swarajya is our birth right की आवाज बुलन्द की और उसने समय-समय पर अहिंसात्मक युद्ध लड़े जिनमे असहकार तथा सत्याग्रह के युद्ध तो इतने भयकर हुए कि अर्द्ध नग्न फकीर द्वारा सचालित इन युद्धो से ब्रिटिश सरकार के आसन कपायमान होने लगे । सक्षेप मे यह कि जैन समाज ने भारतीय राजनीति मे ऊपर निर्दिष्ट समय मे से कभी भी महत्वपूर्ण भाग नही लिया, वह तो बस श्री मैथलीशरण गुप्त जी के शब्दो मे "बस हाय पैसा हाय पैसा" करता रहा । यह बात नही कि भारतीय राजनीति मे व्यापार विषय को कोई दखल नही है बल्कि पाठको को ज्ञात होगा कि कभी कभी तो भारतीय महासभा ने व्यापार के कई प्रश्नो को राष्ट्रीय हानि-लाभ की दृष्टि से अपने हाथ मे लिया है । हिन्दू महासभा के इतिहास मे तो नाम लेने को श्री पद्मराज जैन आदि के नाम मिल जाते है किन्तु राजनीतिक जगत मे कोई ऐसे नाम जैन समाज के नही मिलते जिनकी भारतीय राजनीति मे खूब ख्याति हो । यो तो प्रान्तीय कार्यकर्ता कुछ हो सकते है । जैन समाज को अब इस ओर उदासीन नही रहना चाहिये यदि हम राजनीतिक वातावरण से इसी प्रकार उदासीन रहे तो हमारे अधिकार है वह भी जाते रहेगे ।

७

अभाव पीड़ित मानव-वेदना

उर्दू के एक कवि ने कहा कि

जिन्दगी क्या है अनासार की जहूरे-तरतीब ।
मौत क्या है उन्हीं अजजा का परेशां होना ।।

उक्ति मे कवि ने जीवन तथा मृत्यु का विश्लेषण करके बताया है कि मनुष्य का जीवन पच तत्व का व्यवस्थित समिलन है और काल प्रभाव से पच तत्व एकत्रित रहने मे विवशता अनुभव करते हैं तब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। भारतीय विचारको मे से कुछ ने आत्मा का अस्तित्व शरीर से पृथक् माना तथा कुछ ने केवल पच तत्व के एकीकरण से निर्मित शरीर को ही सब कुछ निरूपित किया। जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि जिन्दगी मे चेतना है। जीवन का लक्ष्य ही चैतन्य है, और मृत्यु मे उसका अभाव है। प्राचीन भारतीय विचारको न अपनी आशा शतायु पूर्ण जीवन तक केन्द्रित की, हालाकि वर्तमान युग के महान् सत गाधी जी ने अपनी इच्छा १२५ वर्ष की एक समय बताई थी। भारतीय ऋषि मुनियो ने जीवित रहने की कला का ससार को ज्ञान कराया। किस प्रकार मनुष्य कलापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे हर्षशोक रहित सात्विक जीवन व्यतीत करना कलापूर्ण जीवन कहा जा सकता है। अज्ञानी मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियो मे शोकाकुल हो जाता है। किन्तु ऋषि मुनियो ने सुकृत तथा दुष्कृत कर्म जन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति अथवा सुख-दुःख को हर्ष तथा शोक की भावना से रहित सहन करना उच्चतम जीवन निरूपित किया। इसी कारण उन्होने जीवन तथा मृत्यु को अधिक महत्व नही दिया। जब तक जीवन है निष्काम काम करो, जब मृत्यु आ जाये सहर्ष उसका वरण करो। गीताकार भगवान श्री कृष्ण ने इसलिये 'मृत्यु' को वस्त्र परिवर्तन की उपमा दी।

प्राचीन वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण की क्रिया का नाम मृत्यु तथा उसके परिणाम स्वरूप पुनर्जन्म बताया।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही॥

— गीता अध्याय २, श्लोक २२

इसी प्रकार कबीर ने भी जीवन धारणा को 'चादर' बताकर यत्नपूर्वक ओढने तथा मृत्यु के समय उसे वापसी का उपदेश दिया। यदि विचारपूर्वक अनुशीलन किया जाये तो चिर निद्रा का नाम मृत्यु है। वैसे आंशिक मृत्यु तो हमारी प्रतिदिन होती है, जब हम निद्रा लेते है।

इसी प्रकार के प्रेरणास्पद वचनो तथा उपदेशो के कारण मनुष्य ने मृत्यु को साधारण सी-चीज समझा और आत्मशुद्धि के लिये, वीरता के लिये, उत्सर्ग के लिये अथवा अन्य कारणो से प्राणत्याग मे हिचकिचाहट नही की। जैनियो के सथारे के विधान का उदाहरण अत्यन्त शानदार है। जब मनुष्य यह अनुभव करे कि मेरी जीवनशक्ति लगभग समाप्ति पर है तब वह सल्लेखना कर जीवन भर के उचित अनुचित कार्यों का पर्यवेक्षण करके जीवन तथा मृत्यु की आकाक्षा के बगैर सब कुछ त्याग देता है। भोजनादि नही करता, यह मृत्यु का वरण है, कि बिना किसी हिचकिचाहट के वर्तमान कठोर तथ्य को स्वीकार करना है। काफी समय पूर्व की महिलाओ की, राजपूत महिलाओ की "जौहर प्रथा" वीरता की दृष्टि से अनुपम मिसाल है। जब राजपूत महिला अपने पति को युद्ध म परास्त होते देखती और उसे युद्ध विजय की कोई आशा नही रहती तब वह स्वय चिता मे आग लगाकर स्वय भस्म हो जाती थी। सती प्रथा मे भी महिला अपने पति क साथ ही प्राणो का उत्सर्ग कर देती थी, 'काशी करवत' की प्रथा भी हमारे देश मे रही। उपरोक्त उदाहरणो से यह भली भाति प्रकट है कि मनुष्य ने स्वय के प्राणो का त्याग एक साधारण घटना समझी।

जहाँ पर इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हो वहा पर आज के समाज के कल्याण के दावेदार राज्य ने मनुष्य को प्राणत्याग के अधिकार से वञ्चित कर दिया, हालाकि कभी-कभी उसने अपनी सकुचित राष्ट्रीयता अथवा राजनीतिक स्वार्थ के लिये युद्ध घोषित होने पर सैनिक को युद्ध मे शत्रु का प्राण लेने तथा आवश्यकता होने पर स्वय का प्राण उत्सर्ग करना एक पवित्र कर्तव्य बतलाया। उसने समाज को व्यवस्थित चलाने के नाम स्वय निर्मित कानू द्वारा चाहे किसी भी विवशता के कारण ही आत्महत्या को निषिद्ध करार दे दिया। बेचारे

राज्य की शक्ति के यह तो परे था कि वह आत्महत्या सफल हो जाने पर सम्बन्धित मनुष्य को दण्डित करता किन्तु उसने असफलआत्महत्या की दशा मे मानव को दण्डित करने का विधान कर दिया । राज्य द्वारा निर्मित कानून का समर्थन कुछ धर्मशास्त्रो ने भी किया और उन्होने आत्महत्या को पाप बताया । यह बताया गया कि व्यक्ति एक अग है समष्टि का, इसलिये उसे समष्टि के हित मे जीवित रहना चाहिये किन्तु राज्य तथा समाज ने व्यक्ति को जीवित रखने के उत्तरदायित्व को नही निबाहा । वास्तव मे राज्य समाज-हित मे व्यक्ति से उसे जीवित रहने तथा कार्यरत रहने की आशा रखता है तो उस पर यह भी जिम्मेदारी है कि वह उसे जीवित रहने के साधन जुटा दे, किन्तु आज की स्थिति यह है कि राज्य व्यक्ति को पीडित देखकर भी उसके अभावकी पूर्ति करना जरूरी नही समझता,उसकी भूख मिटाने की जिम्मेदारी नही लेता । जब कभी देश मे भुखमरी फैलती है तब राज्य के कर्ता-धर्ता शब्द जाल से अपने बचाव मे कहते है कि अनाज तो देश मे है, किन्तु मनुष्य की क्रयशक्ति का ह्रास हो गया इस कारण वह क्रय नही कर पा रहा है, अथवा भुखमरी के कारण घटित मृत्यु को अन्य कारणो के परिणाम स्वरूप सिद्ध कर देते हैं किन्तु राज्य ऐसी स्थिति उत्पन्न नही करता कि कोई व्यक्ति बुभुक्षित न रहे । राज्य भिक्षावृत्ति-निरोधक कानून बनाकर प्रगतिशील शासन का दावा कर सकता है किन्तु उसने क्या ऐसी परिस्थिति निर्माण कर दी है कि व्यक्ति को भिक्षा याचना की आवश्यकता नही रहे समाज भी मनुष्य को भूख से तडपता देख सकता है, जब तक मनुष्य ने प्राण त्याग नही किये तब तक उसकी उसे चिन्ता नही है किन्तु जैसे ही प्राण त्याग हुए कि वह कफन तथा दाहसस्कार के लिये समाज मे चन्दा एकत्र करके दाहसस्कार का प्रबन्ध करेगा ।

वास्तव मे राज्य तथा समाज यदि आत्महत्या को कानून द्वारा निषिद्ध मानता है, आत्महत्या को निराशाजनक मानता है तो उसका यह पवित्र कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के जीवन पालन का भी प्रबन्ध करे, आज के इस कल्याणकारी राज्य Welfare State निर्माण के नारे के युग मे सद्भाव तथा अभाव की खाई चौडी होती जारही है, उस खाई को पाटने मे अभी तक राज्य तथा समाज सफल नही हो सका, आज का भूखा मानव कवि के निम्न शब्दो मे अपनी वेदना व्यक्त करता है—

भूखे पेट देशभक्ति सिखाने वालो ।
भूख इंसान को गद्दार बना देती है ।।

वास्तव मे पेट का गड्ढा जब तक न भर जाय तब तक मनुष्य को सामाजिक

जिम्मेदारी, पाप पुण्य का ख्याल नही रह सकता। इसलिये समाज विषमता तथा तज्जनित घृणा द्वेष के युग मे समानता, स्नेह तथा प्रेम के वातावरण निर्माण का महान कार्य राजनैतिक शक्ति के बगैर युगद्रष्टा आचार्य विनोवा भावे कर रहे है। भूखा मानव तो अनुभव करता है और ऊँचे स्वर मे कहता है कि यदि आत्महत्या पाप है, सामाजिक जिम्मेदारी से पलायन है तो कोई हर्ज नही किन्तु मेरे पेट का गड्ढा पूरा नही हो रहा है इस कारण इस चिर निद्रा के अतिरिक्त मेरा कोई साथी नही है, आखिर सामाजिक जिम्मेदारी निभाकर पुण्य लूटकर मुझे देवत्व प्राप्त होता हो तो मुझे स्वीकार नही है। मै तो इन्सान बने रहना चाहता हूँ, इसलिये यह पाप भी मुझे कर लेने दो, वह कहता है—

मै कभी मंदिर मे चला जाता हूँ,
कभी पूजा, कभी रोजा, कभी सिजदा किये जाता हूँ ।।
मै कभी इन्सान से देव न हो जाऊ,
इसलिये कभी पाप भी कर लेता हूँ।

वास्तव मे मनुष्य आत्महत्या को पुण्य नही मानता, वह पलायनवादी भी नही है, अपने प्राणो का त्याग स्वय किसी उच्च आदर्श तथा सिद्धान्तो से प्रेरित होकर किया है, इस कारण पलायनवादिता तथा परिणामस्वरूप आत्महत्या से उसे प्रेम नही है किन्तु वह देखता है कि राज्य तथा समाज एक तरफा जिम्मेदारी चाहता है तो उसे खेद होता है। राज्य व्यक्ति पर उसे जीवित रहने की जिम्मेदारी सौपता है किन्तु स्वय जीवनयापन के साधन जुटाने तथा जीवित रखने की जिम्मेदारी नही लेता तो विवश होकर वह प्राणत्याग का अधिकार चाहता है। वह राज्य को सबोधन करके कहता है—

तेरे कहने से हम जी रहे है,
तेरे कहने से हम मर रहे हैं।
अब तो तू मान जा जालिम,
तेरे इशारो पर हम चल रहे हैं।

किन्तु आज देश पर विपत्ति आई है, साम्राज्यविस्तारवादी चीन ने हमारी मातृभूमि पर आक्रमण करके हमको चुनौती दी है। उसी स्थिति मे आज मानव अपने प्राणत्याग के अधिकार को नही चाहता। वह राष्ट्र की खातिर जीवित रहकर राष्ट्र सेवा करना चाहता है, चाहे उसे भूखे रहकर भी जीवित रहना पड़े। यह वह अवश्य चाहता है कि राष्ट्र पर से जब विपत्ति समाप्त हो जावे तब राज्य उपरिनिर्दिष्ट जिम्मेदारी को उठाकर मनुष्य को जीवित रहने के लिये जीवन-यापन के साधन जुटाने का कार्य सर्वप्रथम अपने हाथ मे ले। ●

८

राष्ट्र भाषा तथा राष्ट्रीयता

मानव को अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए भाषण का आश्रय लेना होता है इसलिये "भाषा" मानव की अपने विचार दूसरो तक पहुँचाने का माध्यम कहा जाता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने विचार जिन लोगो तक पहुँचाना है, वह भाषा से परिचित हो कि जिसमे विचार प्रदर्शित किये जा रहे हैं। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि हमारे देश की जनता मे से बहुसख्य भाग "हिन्दी" से परिचित है, अंग्रेजी से नही। इस देश की आबादी मे से १,२ प्रतिशत लोग ही अँग्रेजी से परिचित है, इस कारण बहुसख्यक समाज पर अग्रेजी का लादा जाना न केवल अनुचित है बल्कि पाप है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी ने एक बार कहा था कि –

"राष्ट्र भाषा राष्ट्र का जीवन है। बिना राष्ट्र भाषा के भारत पूर्ण स्वाधीन नही माना जा सकता है। वह स्वतन्त्रता अधूरी रहेगी, इसलिए राष्ट्रभाषा का सीखना सभी का परम कर्त्तव्य होना चाहिये। जो ऐसा नही करते वे अपने कर्तव्य से पीछे रह जाते है।"

इसी विचार सारणि के अनुसरण मे हमारे देश की विधान निर्मात्री परिषद ने हिन्दी को राष्ट्र की भाषा घोषित की तथा शासकीय कामकाज मे अग्रेजी का स्थान हिन्दी ले सके इसलिए १५ वर्ष की समयावधि निश्चित की। इस समयावधि के पूर्ण होने के पूर्व ही राजनीति-विशारदो ने भाषा के प्रश्न को दूसरे दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दिया। कुछ प्रदेश के राजनीतिक लोगो ने देश की अखण्डता का भय बताकर पूरे देश के लिए राष्ट्र भाषा हिन्दी का विरोध किया, परिणाम स्वरूप वातावरण बडा क्षुब्ध हो गया। और भारत शासन ने राज भाषा विधेयक पास कराकर हिन्दी को सम्पर्क भाषा कहा। उसके पश्चात् कुछ राजनीति-विशारदो ने इसे काम चलाऊ भाषा कहा।

तात्पर्य यह है कि जिस उदात्त भावना से ओत-प्रोत विधान निर्मात्री परिषद ने उपरोक्त निश्चय किया तथा सारे देश ने उसे मान्यता दी वह उदात्त भावना पवित्र विचार कायम नही रह सके। आज भी शासकीय कामकाज अधिकतर पराई भाषा मे ही चल रहा है।

यह भी एक सुविदित तथ्य है कि सघ शासन अथवा राज्य शासन राष्ट्र भाषा हिन्दी को अपनाने मे चाहे जितनी शिथिलता, लापरवाही बताये किन्तु देश की कोटि-कोटि जनता उसे अपना चुकी है। चाहे शासकीय अधिकारी उसे सम्पर्क भाषा के नाम से सबोधित करे चाहे काम चलाऊ किन्तु वह जन-जन के द्वारा अपना लेने के कारण "राष्ट्र भाषा" के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। इस लम्बे चौडे देश मे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक चले जाने पर हिन्दी के द्वारा कारोबार चलाया जा सकता है। इससे किसी प्रान्तीय भाषा का अहित होगा यह कल्पना ही आमूल गलत है। एक बार राष्ट्रपिता गाधी जी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि "प्रत्येक प्रान्त मे प्रान्तभाषा, सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिन्दी, तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिये अग्रेजी का व्यवहार उचित होगा।"

पंचम आयाम

☐ **भगवान महावीर**

१

क्रान्तिदूत महावीर

१. उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने किसी समय निम्न पंक्तियो के द्वारा एक दृढ-प्रतिज्ञ नवयुवक के हृदय की प्रतिज्ञा को व्यक्त किया था। उक्त नवयुवक के हृदय मे धार्मिक तथा समाजिक क्षेत्र की भ्रांतिमूलक धारणाओ, अन्धविश्वास तथा विषमता के प्रति अत्यन्त असन्तोष व्याप्त था और फलस्वरूप उसके हृदय मे उक्त परिस्थितियो को परिवर्तित करने के लिए अत्यन्त वेग से विचार परिपक्व हो रहे थे, इसी कारण उक्त नवयुवक के हृदय के भावो को उर्दू का कवि निम्न शब्दो मे व्यक्त करता है —

काम है मेरा बगावत नाम है मेरा शबाब।
मेरा नारा इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाब॥

मेरा अनुमान है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को इस विश्व मे जिस महान व्यक्ति का अवतरण हुआ इस महान व्यक्ति के हृदय मे युवावस्था प्राप्त होने पर इसी प्रकार के विचार चल रहे थे। भगवान महावीर का जन्म बिहार राज्यान्तरगत वैशाली नामक स्थान पर ईसा से छ. शताब्दी पूर्व हुआ। भगवान महावीर क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुए थे तथा उनका वश ज्ञातृ-वश के नाम से प्रसिद्ध था। वैशाली वज्जियो की राजधानी थी, भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के राजा थे, किन्तु तत्कालीन राज्य व्यवस्था निर्वाचित गण-प्रतिनिधियो के द्वारा होती थी जिसमे राजा को हस्तक्षेप का अधिकार नाम-मात्र का था। उस समय की धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति इस प्रकार की हो चुकी थी कि जिसमे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती थी। धर्म के नाम पर ढोग का व्यवहार होता था। धर्म धार्मिक रूढ़ियो का पर्याय-वाची शब्दमात्र होता, धर्म के नाम पर हिसा का ताण्डव होता था, मनुष्य-मनुष्य मे भेद-भाव होता था, विशिष्ट जाति मे उत्पन्न व्यक्तियो को सामाजिक समानता का दर्जा प्रप्त नही था। शूद्र वर्ण मे उत्पन्न व्यक्ति को धर्मशास्त्र के

पठन-पाठन का अधिकार नही था। महिलाओ को पुरुषो से निम्नकोटि का समझा जाता था। इस प्रकार की धार्मिक व सामाजिक परिस्थिति को देखकर उनके प्रति विद्रोह की भावना निश्चय रूप से युवक महावीर के हृदय मे जागृत हुई और इसी कारण उन्होने अपनी पूर्ण यौवनावस्था मे (३० वर्ष की आयु मे ही) सामाजिक विषमता, सामाजिक अन्याय तथा अन्ध विश्वास को समाप्त करने के लिए विद्रोह की भावना को लेकर एक सन्यासी के रूप मे जीवन प्रारम्भ किया, इसमे सन्देह नही कि भगवान महावीर का हृदय उस समय की परिस्थित को लेकर विह्वल हो रहा था और इसीलिये उन्होने विषमता,अन्याय तथा अन्धविश्वास को समाप्त करने के लिए धर्मयुद्ध करने का निश्चय किया।

(२) इसमे सन्देह नही कि किसी भी कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये साधना की आवश्यकता है। तपस्या तथा साधना के बिना कार्य की सफलता की आशा उचित नही होती और इसी कारण भगवान महावीर ने साधक रूप मे जीवन प्रारम्भ किया। बारह वर्ष तक भयानक कष्टो को सहन करते हुए यत्र-तत्र विचरण करते रहे। इस बारह वर्षीय साधक जीवन मे जिन कष्टा-परिश्रमो को सहन किया उसका वर्णन लेखनी द्वारा सम्भव नही है भयानक उपसर्ग होते हुए भी अपनी लक्ष्य साधना मे विचलितता नही आने दी। अचल व अटल रूप से वीरतापूर्वक सहन करते रहे। इस साधना-काल मे उन्होने कभी उपदेश नही दिया, साधना के रूप मे जो तपस्या की, उसके परिणामस्वरूप उन्हे सर्वोच्च ज्ञान Supreme enlighltment प्राप्त हुआ।

(३) सर्वोच्च ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात भगवान महावीर ने अपने शेष जीवन-भर धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक विषमता व अन्याय को समाप्त करने का विश्व को सन्देश दिया है। उन्होने स्पष्ट रूप से बताया कि धर्म आत्मा का विषय है और रूढि से सर्वथा भिन्न है, उन्होने अहिसा जगत-कल्याण का एक मात्र मार्ग निरूपित किया। उन्होने अहिसा के सम्बन्ध मे संक्षिप्त मे एक सूत्र मे अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित किया "आत्मन प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्" जो कार्य तुम्हारी आत्मा को पसन्द नही उसका आचरण अन्य के प्रति न करो। वास्तव मे उन्होने बताया कि अहिसा वीरता-सूचक सिद्धान्त है, कायर व्यक्ति अहिसा का पालन नही कर सकता है, भगवान महावीर की अहिसा चतुर्मुखी थी, जहाँ उन्होने आचार मे अनेकान्त तथा वाणी मे स्याद्-वाद सिद्धान्त का निरूपण किया वहाँ आर्थिक क्षेत्र की विषमता की दृष्टि से अपरिग्रह तथा सीमित परिग्रह का उपदेश भी दिया। उन्होने स्पष्ट रूप से

सामाजिक-समता का सिद्धान्त निरूपित करके मनुष्य के भेद को कृत्रिम बताया, इसी प्रकार शूद्र तथा महिलाओ के प्रति व्यवहार मे समानता की आवश्यकता बताई। तात्पर्य यह है कि उन्होने जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया वे मनुष्य-समाज के लिए अनुपम थे और इसी कारण भगवान महावीर मानवता के उद्धार के रूप मे विश्व मे "आ चन्द्र दिवाकरौ" स्मरण किये जायेंगे।

(४) सन् १९५९ मार्च मे नेपाल यात्रा के समय वैशाली (भगवान महावीर के जन्म स्थान) के पवित्र स्थान का दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला। उस पवित्र स्थान को देख मैं गदगद् हुआ। और मुझे सहसा हिन्दी के कवि की निम्न पक्तियाँ स्मरण हो आई और मैं उन्हे बडी देर तक गुनगुनाता रहा।

वैशाली गण का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता,
जिसे ढूंढता आज देश उस प्रजातन्त्र की माता।
रुको, एक क्षण पथिक यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ,
राज समाधि की सिढियो पर फूल चढ़ाते जाओ।

क्योकि

सुना यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार,
त्याग दिये थे जिसने जग के भोग बिलास साज शृंगार।
जिसके निर्मल जैन धर्म का, देश-देश में हुआ प्रचार,
तीर्थंकर जिस महावीर के यश, अब भी गाता ससार।
है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण मे,
मत कह क्या-क्या हुआ अरे वैशाली के आँगन मे।

२

महावीर का जीवन-दर्शन

विश्व के जितने महापुरुष हुए है उनमे 'महावीर' का एक विशिष्ट स्थान है। यह महावीर की विशेषता थी कि उन्होने विश्व का यह अमोघ मन्त्र प्रदान किया कि जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मत्व प्राप्त कर सकता है। उन्होने मानव समाज को उसकी शक्ति का परिचय कराकर कहा कि आत्मा ही महात्मा तथा परमात्मा बन सकती है। आत्मा जितने भले कर्म करेगी उतनी ही अधिक स्वच्छ, निर्मल, बनकर महान हो सकती है और जब महान आत्मा अपने भले अथवा बुरे कर्मों का नाश कर देगी तब वह परमात्मा हो जावेगी। किन्तु हमने महावीर तथा उनके सदृश अन्य महान पुरुषो को भगवान बनाकर उन्हे मानव समाज से इतना दूर कर दिया कि कभी-कभी मानव समाज निराश होकर अनुभव करता है कि वह भगवान सदृश नही हो सकता और उनका उपदिष्ट पथ साधारण मानव के लिये अगम्य है तथा उसका यथावत अनुकरण असम्भव है। मै जानता हूँ कि प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे महावीर को 'भगवान' शब्द से अलकृत किया गया है किन्तु मुझे वह स्थल भी स्मरण है जहा पर महावीर को प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे 'महप्पा' महात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है। बहरहाल मै अनुभव करता हूँ कि यदि महावीर को हम भगवान के स्थान पर महात्मा ही मान कर चलते तो शायद मानव समाज उपदेशित मार्ग का सहज अनुकरण करता। इसमे सन्देह नही है कि हम धर्म अथवा महावीर द्वारा उपदिष्ट मार्ग को केवल स्थल तथा समय विशेष के लिये अनुकरणीय मानें तो यह उचित नही है। जो धर्म मानव जीवन को नही छूता उस धर्म को धर्म नही कहा जा सकता। वास्तव मे धर्म तो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करता है क्योकि हमारे धर्म ग्रन्थो मे धर्म की व्याख्या ही वस्तु का स्वभाव बताई गई है। ऐसी दशा मे यह कैसे सभव है कि आत्मा का स्वभाव धर्म होते हुए भी यह "धर्म" को स्थल तथा समय विशेष को छोडकर शेष स्थल व समय के लिये धर्म का परित्याग

कर दे। मानव की आत्मा का स्वभाव "धर्म" ही होने के कारण आत्मा "धर्म" का परित्याग एक क्षण के लिये नही कर सकती और यह भी सभव नहीं है कि एक आत्मा का कोई विशेष धर्म हो और उससे भिन्न अन्य आत्मा का कोई भिन्न धर्म हो।

मानव समाज का केवल एक ही "धर्म" था, है और रहेगा। और उसको "आत्म धर्म" कहा जा सकता है। पूर्व मे इसी "आत्म धर्म" के नाम से हमारी धर्म सस्थाये कार्य करती थी। पश्चात् किन्ही कारणो से धर्मों के नामकरण कर दिये गये हो। "धर्म" वास्तव मे आत्मा को भला बनाने, ऊँचा उठाने के मार्ग का ही तो दूसरा नाम है—'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजा" ऐसी दशा मे धर्म "सर्वोदय तीर्थ" का प्रतीक हो सकता है। यदि मानव समाज अपने मताग्रह तथा पूर्वग्रह को छोडकर सर्वोदय तीर्थरूप धर्म का अनुकरण करे तो निश्चयरूप से महावीर सदृश बन सकता है। हम बाल, युवा साधक सिद्ध महावीर के जीवन से अतिशयोक्ति पूर्ण घटनाओ को कम करके उसे अपने समक्ष रखें तो निश्चय ही हम उसी ऊंचाई पर पहुंच सकते है जिस पर महावीर पहुँचे थे। अतिशयोक्ति का मिश्रण चाहे किसी कारण से किया गया हो पर उसने, महावीर सदृश बनाने के लक्ष्य को असभव बना दिया है। हम समझने लगे-कि महावीर तो हिमालय की गौरीशकर चोटी पर है और हम भूमि के निम्नतम भाग मे। हम इस ऊचाई पर नही पहुंच सकते। जब कि वास्तविकता यह थी कि महावीर ने सामान्य जीवन से साधना के द्वारा अपना विकास किया और परमात्मत्व की प्राप्ति की। हम महावीर के शुभ जन्म दिवस पर इस दिशा मे गम्भीर विचार करके उनकी तरह बनने का प्रयत्न करें।

★

३

भगवान महवीर के जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व केवल भारतवर्ष मे ही नही, विश्व म ऐसी स्थिति हो गई थी कि जिसके निराकरण के लिए किसी महापुरुष के अवतरित होने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। हमारी इस पुण्यभूमि की परिस्थिति को ही लें तो यहा की जनता मे धार्मिक अंध-विश्वास, बौद्धिक दासता व्याप्त हो रही थी। धर्म के स्थान पर केवल रूढि के परिपालन पर तत्कालीन तथाकथित धार्मिक वर्ग जोर दे रहा था। धर्म के हृदय व उसकी आत्मा का कही पता न था। यही नही अपितु धार्मिक प्रश्नों के बारे मे शका उत्पन्न करना या उसके समाधान की जिज्ञासा का सवाल ही नही था। वर्णाश्रम के नाम पर जातीय उच्च नीच का प्रश्न समाज मे असमानता, विषमता उत्पन्न कर रहा था। नारी जाति की स्थिति पुरुष के समकक्ष न मानी जाकर उसको पुरुष की सम्पत्ति मान ली जाती थी। दास-प्रथा का अस्तित्व था। ये सब अत्याचार, धर्म के नाम पर चलाये जा रहे थे। ऐसे समय म बिहार मे एक महापुरुष ने चैत्रशुक्ला १३ को इस विश्व मे पदार्पण किया। इस महापुरुष को "वर्धमान" नाम से अभिषिक्त किया गया। किन्तु अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य के कारण "महावीर" के नाम से पहचाने गये। महापुरुष का शैशवकाल बीत गया पर यौवन काल म जैसे इस महापुरुष ने पैर रखा उसके हृदय म तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, उससे उत्पन्न अन्याय, अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना जाग गई। मेरा अनुमान है कि उर्दू के एक कवि के शब्दो मे व्यक्त विचार इस महापुरुष के अन्तरतम मे हिलोरें ले रहे थे --

खंजर चले किसी पर तड़पता है मेरा दिल।
कि सारे जहां का दर्द मेरे जिगर में है॥

वास्तव मे यदि हम इस महापुरुष के जीवन पर दृष्टिपात करें तो हमको यह स्पष्ट आभास होगा कि उसने सारे ससार का दर्द अपने हृदय मे समेट कर समस्त प्राणी जगत का कल्याण करने, कल्याण का मार्ग बताने का निश्चय किया था। वह सारी व्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन चाहते थे ताकि समाज मे व्याप्त अन्याय अत्याचार का अत हो सके। जैसाकि उर्दू के एक दूसरे कवि ने कहा था, उनके हृदय तथा वाणी पर यह भाव अकित हो रहे थे : –

काम है मेरा बगावत, नाम है मेरा शबाब।
इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाब।।

फिर भी यह महापुरुष क्राति का केवल नारा देने या नारा लगाने वाला नही था। वह युवक था, विद्रोह करना चाहता था किन्तु जब तक वह अपने जीवन मे साधना, तप के द्वारा तेजस्विता न ले आवे, अपना आचरण अपनी वाणी के अनुकूल न करलें। तात्पर्य यह है कि जब तक वह साधना के चरम शिखर पर पहुँचकर सारे प्राणी जगत के प्रति "समत्व योग" की प्राप्ति न करले तब तक वह केवल भाषण उपदेश देकर इस २०वी सदी की भाषा मे मार्ग दर्शन देना या आन्दोलन चलाना नही चाहते थे। वह आज का मनुष्य नही था जो स्वय के आचरण के प्रति दुर्लक्ष्य रखकर केवल समाज की क्रान्ति की बात कहता है, वैचारिक अपरिपक्वता मे ही मार्गदर्शन देने, आन्दोलन चलाने की बात सोचना है। उस महापुरुष ने मन, वाणी, शरीर की एक-वाक्यता, जब तक प्राप्त न हो तब तक कोई भाषण उपदेश न देने का निश्चय किया। जब तक साधना चरम शिखर पर न पहुँची, उससे पूर्णता प्राप्त नही की, तब तक मौन रखा। पूर्णता प्राप्त होने के साथ ही उसने आजीवन समाज के कल्याण का मार्ग बताया। जब उसने देखा कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम मे सशोधन की आवश्यकता है तब उसमे सशोधन करने म हिचकिचाहट नही की। तात्पर्य यह है कि श्रमण परम्परा हो, चाहे अन्य, जैसे विचार मे उन्हे युग बाह्यता नजर आई उसने परिवर्तन किया। भगवान महावीर की परम्परा के गौतम गणधर ने परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण मे चर्चा करके सामञ्जस्य का मार्ग प्रशस्त किया। इस परस्पर चर्चा का विवरण अलकारपूर्ण साहित्यिक भाषा मे "उत्तराध्ययन सूत्र" मे उपलब्ध है। भगवान महावीर ने अपने जीवन मे धार्मिक अन्ध-विश्वास, बौद्धिकदासता, सामाजिक अन्याय, अत्याचार, विषमता के विरुद्ध क्रान्ति का शखनाद किया, क्रान्ति के लिए अनवरत रूप से कष्ट सहन किया। भगवान महावीर का सारा जीवन विश्व के लिए अनुकरणीय है, शिक्षा प्रद है। यदि

हम इस महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य मे केवल एक ही शिक्षा ग्रहण करके निश्चय कर ले कि जब तक हममे वैचारिक परिपक्वता या, साधना का तेज नही होगा तब तक हम भाषण नही देंगे, न आन्दोलन चलावेंगे, वाणी का सयम रखकर केवल ऐसा नेतृत्व देंगे, जो हमारी कृति के अनुकूल होगा, तो मेरा अनुमान है कि आज के वातावरण मे जो उच्छृखलता, अनुशासनहीनता, अव्यवस्था हो गई है उस पर स्वय अकुश लग जायेगा। आज का युवक नेतृत्व मे जब कृति तथा वाणी मे अन्तर देखता है तो उसकी आस्था डगमगा जाती है। वास्तव मे आज का नेतृत्व "वाणी का सयम" भूल गया है, भाषणो का प्रवाह है जबकि उर्दू के एक कवि के शब्दो मे यह होना था कि मनुष्य —

कहे इन्सान एक, जब सुनले दो।
कि हक ने जबान एक दी कान दो।

प्रकृति ने सुनने का माध्यम शरीर मे दो तथा बोलने का माध्यम एक देकर अप्रत्यक्ष रूप से यह सकेत किया है कि मनुष्य अधिक सुने, कम बोले, मितभाषी रहे। मैं कभी-कभी देखता हूँ कि आज के युग मे सुनाने वाले को 'वक्ता को' अपनी बात कहने की अधिक चिंता है, जबकि श्रोता की इच्छा सुनने की कम है। यह विडम्बना है। श्रोता के हृदय मे वक्ता के प्रति आदर सम्मान नही है तब तक वक्तृत्व एक वाणी का अयाचित प्रवाह है। जैन आचार्यों ने श्रावक के २१ गुणो मे "मितभाषिता" का इसी कारण विधान किया था। एक कवि के शब्दो मे —

जीवन चरित महापुरुषो के हमे नसीहत करते है।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते है।

भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या, कष्ट सहन, परोपकार की भावना से परिपूर्ण था। इसीलिए साहित्यकार, कवि आदि ने उनकी प्रशसा मे अपनी रचनाएँ करके श्रद्धाजलिया अर्पित की है —

सुना, यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय यह राजकुमार।
त्याग दिये थे जिसने सब के भोग विलास, साज शृगार॥
जिसके जैन धर्म का देश में हुआ प्रचार।
तीर्थंकर जिस महावीर के यश गाता अब भी ससार॥
है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण मे।
मत कह क्या-क्या हुआ, इस वैशाली के आगन में॥

क्या देश का नेतृत्व भगवान महावीर के जीवन के एक पहलू "वाणी सयम" मे यथा शक्ति शिक्षा प्राप्त करके स्वय तथा देश की जनता को लाभ पहुँचाने की बात सोचेगा।

४

अहिंसा के अवतार भगवान महावीर

महात्मा ईसा के छह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आज ही चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ दिवस उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे आधुनिक बिहार राज्य तत्कालीन विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी मे अहिसा के अवतार भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।

भगवान् महावीर का लालन-पालन अत्यन्त लाड प्यार से हुआ। बाल्यकाल मे उन्होने कई साहसिक कार्य किये। एक बार उन्होने वृक्ष की जड मे लिपटे विकराल सर्प को देखा वह फुफकार रहा था। उनके साथी भागे किन्तु वे अटल खडे रहे और पश्चात् सर्प को हाथ से पकडकर दूर फेंक दिया। इस प्रकार के साहसिक कार्यों के कारण उन्हे "महावीर" के नाम से भी पुकारा जाने लगा। भगवान महावीर की शिक्षा सुव्यवस्थित ढग से हुई जिसमे उन्होने असाधारण बुद्धि का परिचय दिया। अध्यापक उनके सुविचारपूर्ण उत्तरो से सन्तुष्ट रहते थे। उन्होने बाल्यावस्था मे ही साहित्य, व्याकरण आदि विविध विषयो का अध्ययन कर लिया था।

भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक सासारिक जीवन व्यतीत किया, तथा इस काल मे उन्होने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो का गहन अध्ययन किया और उन्होने इस सारी स्थिति के पीछे जन-साधारण का अज्ञान पाया। उन्होने अनुभव किया कि लोग अपनी जिह्वा-लोलुपता के लिये जीव-हिसा कर रहे है, अत उन्होने जगत् की मिथ्या धारणाओ का उन्मूलन करके मानव को अज्ञान की गति से उबारकर जगत को कल्याण का मार्ग बतलाने तथा वास्तविक धर्म की स्थापना करने का निश्चय किया। इस प्रकार अपनी ३० वर्ष की आयु मे वे समस्त ऐश्वर्य, सम्पत्ति, कुटुम्ब तथा बन्धु-बान्धवो को छोडकर प्रव्रज्या लेकर एकान्त आत्म-साधना को निकल पडे। उन्होने क्षत्रिय कुण्ड ग्राम

के बाहर उद्यान मे जाकर पंच-मुष्टि केशलोच किया तथा श्रमणत्व दीक्षा अगीकार की। उन्होने निश्चय किया कि किसी प्रकार की विघ्न-बाधा, उपसर्ग आदि के होते हुए भी आत्म-साधना से विचलित न होऊगा तथा धीरता पूर्वक क्षमा-भाव से प्रत्येक परिषह सहन करता रहूँगा। उक्त निश्चय के परिणामस्वरूप भगवान ने १२ वर्ष तक अपने साधक-जीवन मे बहुत ही भयकर कष्टो का शान्ति से सहन किया। सुख-दुख आत्मा के शुभ-अशुभ कर्मों का फल होता है। अत उन्होने आत्मा के शुभा-शुभ कर्मो को नष्ट करने के लिए एक धर्म युद्ध प्रारम्भ किया। इस धर्म-युद्ध मे वे एक वीर योद्धा की तरह परिव्राजक के रूप म एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करने लगे। इस प्रकार के जीवन मे उन्हे अनेक प्रकार के परिषह उपसर्ग आदि भयानक कष्टो को सहन करना पडा। विशेष रूप मे लाढप्रदेश मे भगवान् को अत्यधिक कष्ट उठाना पडा। यह प्रदेश एक प्रकार से अनार्यप्रदेश माना जाता था। इसके निवासी स्वभाव के क्रूर परिणामो थे। वे भगवान् पर कुत्ते छोड दिया करते थे। भगवान् किसी ग्राम मे जाते तो अज्ञान वश उन्हे गुप्तचर अथवा चोर समझकर रस्सी से बाध देते थे। किन्तु महावीर ने अत्यन्त निर्भयता से उक्त परिषहो को सहन किया। एक बार महावीर ध्यानमग्न थे। एक ग्वाला वहा आया, उसने अपने बैलो को पास ही छोड दिया और चला गया। जब वह वापस आया तब उसे बैल नही दिखाई दिये। फलत उसने महावीर से पूछा किन्तु भगवान् के उस समय मौन व्रत होने के कारण उत्तर न दे सके। ग्वाला ने क्रुद्ध होकर उनके कानो मे लकडी की कीलें ठोक दी। इससे भगवान् को असह्य वेदना हुई किन्तु उन्होने उसे शान्त भाव से सहन किया। इस प्रकार १२ वर्ष की साधना के पश्चात् भगवान महावीर को जृम्भीय ग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के तट पर एक खेत मे शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न अवस्था मे आत्मबोध हुआ तथा सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हुई जिससे विश्व के कल्याण का मार्ग दृष्टिगोचर हुआ। ऐसे ज्ञान को जैन शास्त्रो मे "केवल ज्ञान" की सज्ञा दी गई है।

भगवान् महावीर ने अपनी आत्म-साधना के १२ वर्षीय काल मे कोई उपदेश नही दिया। वे अविरत तपस्या मे लीन रहते थे। जब भगवान् को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई तब उन्होने ससार को वास्तविक सुख तथा कल्याण का मार्ग बतलाना प्रारम्भ किया। उन्होने-ससार को अहिसा का मूल मन्त्र दिया और उसे ही जगत्-कल्याण का एक मात्र मार्ग बतलाया। उन्होने अपने जीवन मे अनुभव किया कि ससार का प्रत्येक प्राणी जीवन चाहता है। मृत्यु किसी को प्रिय नही है। इस कारण अहिसा को उन्होने अपने उपदेशो मे

सर्वोच्च स्थान दिया। "जीवो जीवस्य भोजनम्" के घातक सिद्धान्त के स्थान पर "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उन्होने स्पष्ट रूप से बताया कि यज्ञ-याग आदि मे धर्म के नाम पर अन्धश्रद्धा के वशीभूत जीव-हिंसा की जाती है। वह वास्तव मे हिंसा ही है। हिंसा से धर्म का किसी प्रकार सम्बन्ध नही हो सकता है। उनका कथन था कि अहिंसा का सिद्धान्त वीरता-सूचक है। कायरता-सूचक कदापि नही। कायर व्यक्ति अहिंसक नही हो सकता, जो व्यक्ति वीरतापूर्वक अपने जीवन का उत्सर्ग कर सकता है वही अहिंसक हो सकता है। भय के कारण अहिंसक होने का ढोग वास्तव मे कायरता है। इसीप्रकार अहिसा के सिद्धान्तो का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन मे ही नही, अपितु सामाजिक तथा सामूहिक जीवन मे भी किया जा सकता है। उन्होने एक स्थान पर कहा था कि —

जे एग जाणई से सव्व जाणई।
जे सव्व जाणई से एगं जाणई ॥

उपरोक्त सूत्र मे भगवान ने व्यष्टि एव समष्टि का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दर्शाया है। वास्तव मे व्यक्ति समाज का ही एक घटक है। समाज के बिना व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व नही हो सकता। इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा केवल व्यक्तिपरक नही अपितु सामाजिक भी है। सक्षिप्त मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जो कार्य प्रवृत्ति अपने को उचित नही लगती उसी प्रकार की प्रवृत्ति तुम अन्य के प्रति मत करो। भगवान् महावीर का अहिंसा का उपदेश केवल मनुष्य अथवा पशु-पक्षियो तक ही सीमित नही था अपितु जिन वस्तुओ मे प्राण-संचार हो सकता है अथवा प्राण-सचार होने की सम्भावना है उन सब को प्राणी की परिभाषा मे सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार उन्होने अहिंसा को अत्यन्त व्यापक रूप मे ससार के सम्मुख प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल एक नकारात्मक सिद्धान्त नही बताया अपितु उन्होने प्राणिमात्र के हृदय मे करुणा, दया आदि का सचार किया। अहिंसा के सिद्धान्त के पालन के लिए केवल प्राणी का प्राण-हरण ही न किया जाना पर्याप्त नही है अपितु प्राणीमात्र के लिए हृदय मे करुणा, दया का होना भी आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के साथ-साथ सामाजिक समता की ओर ध्यान देकर सामाजिक न्याय स्थापित किया। यह तथ्य है कि भगवान् महावीर के समय मे ऊँच-नीच वर्ण का अभिमान चरम सीमा पर था। अहिंसा को सामू-

हिक रूप देने के लिए उन्होने अपने उपदेशो मे समता की ओर विशेष जोर दिया। उनका कहना था कि जब तक समाज मे ऊँच-नीच, छोटे-बडे, धनी-निर्धन आदि की विषमता विद्यमान है हम अहिंसक नही हो सकते। वर्णाश्रम धर्म की स्थापना प्राचीन काल मे कार्य-विभाजन के आधार पर की गई थी। किन्तु कालान्तर मे उक्त व्यवस्था का आधार केवल जन्म-गत माना जाने लगा। और इस कारण समाज मे जातिमद, कुलमद का आविर्भाव हुआ। भगवान् महावीर ने आठ प्रकार के अहकार को वर्जित बतलाया जिसमे जाति-मद एव बुद्धि-मद का भी समावेश था। उन्होने प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य समान है चाहे वह किसी कुल मे जन्मा हो। मनुष्य की महानता अथवा लघुता उसके कर्मो पर निर्भर है, भगवान की धर्मसभा मे प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति, जाति, कुल तथा वर्ण-भेद के बिना एकत्रित होते थे। जिनके साथ भेद-भाव का कोई व्यवहार न होता था। चाहे वह निम्नजाति तथा कुल मे ही क्यो न जन्मा हो। इतना ही नही उन्होने एक चाण्डाल को साधु जीवन की दीक्षा देकर आदर्श उपस्थित कर दिया। उन्होने तत्कालीन विद्वानो की भाषा सस्कृत को त्यागकर जन-साधारण की भाषा मागधी एव अर्धमागधी मे उपदेश दिया जिसका जन साधारण पर अद्भुत प्रभाव पडा।

भगवान् महावीर ने बतलाया कि मनुष्य अपने कर्मों से ही नीच या उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य जितने शुभ कर्म करेगा उसकी आत्मा उतनी ही उच्च अवस्था को प्राप्त करेगी। जिस समय किसी प्राणी के शुभ-अशुभ कर्मो का क्षय हो जायगा तब वह आत्मा अत्यन्त शुद्ध निर्वाण अवस्था को प्राप्त होगी। जन-साधारण उस अवस्था को परमात्मा की सज्ञा देता है। वास्तव मे इस सर्वोच्च अवस्था का नाम ही ईश्वरत्व है। तब इस प्रकार भगवान ने लगभग ३० वर्षों तक जगत् को कल्याण-मार्ग बताकर अपने समस्त शुभ-अशुभ कर्मो का क्षय करके ७२ वर्ष की आयु मे मोक्ष-पद प्राप्त किया और ससार के आवागमन से मुक्त हो गये।

●

५

भगवान महावीर और उनकी अहिंसा

उर्दू के एक कवि ने ठीक कहा है —

बड़ी मुश्किल से पैदा एक वह आदमजात होता है।
जो खुद आजाद, जिसका हर नफस आजाद होता है॥

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आधुनिक बिहार राज्यान्तर्गत तत्कालीन मगध देश मे एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ था। जिसने मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मुक्ति' प्राप्त की। उस महापुरुष का नाम 'वर्द्धमान' था किन्तु उसके जीवन मे अभूतपूर्व साहस विद्यमान होने के कारण उनको 'महावीर' के नाम से अभिहित किया गया।

ऐसे महापुरुषो की कडी मे, वर्तमान तीर्थंकरो की सूची मे, सबसे प्रथम भगवान ऋषभदेव का नाम आता है चाहे आधुनिक इतिहासकारो ने भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व स्वीकार न किया हो किन्तु यह तथ्य इतना सुनिश्चित है कि उनकी गुणगाथा जैन-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य तथा अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य मे वर्णित है। भगवान ऋषभदेव सारी आर्यजाति के उपास्य देव थे। यही कारण है कि उनकी मान्यता देश की प्राचीन जातियो मे अद्यापि प्रचलित है। उन्होने मानव जाति को 'सभ्यता' का पाठ पढाया और नैतिक तथा धार्मिक नियम स्थिर किये। इनके पश्चात् अन्य तीर्थंकरो का युग आता है।

बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ भारतवर्ष के उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ तथा कर्मयोगी श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। उन्होने तत्कालीन क्षत्रिय-समाज मे प्रचलित मांसाहार प्रथा के विरुद्ध अपने व्यक्तिगत सुखो को तिलांजली देकर एक ऐसी आदर्श रीति से विद्रोह का शख फूंका कि वह प्रथा उस समय नि शेष हो गई। यही कारण है कि आज काफी अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी

सौराष्ट्र मे (जो भगवान नेमिनाथ का कार्यक्षेत्र रहा है) पशु-हिंसा के विरुद्ध आज भी घृणापूर्ण वातावरण है। उसके पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ का युग आता है। उस समय देश मे अविवेकपूर्ण हिंसामिश्रित तपस्या (जिसमे केवल देहदमन ही होता था) के स्थान पर मानव-समाज को 'विवेकपूर्ण अहिंसक तप' का सदेश दिया। उन्होंने बताया कि तप का उद्देश्य 'देहदमन' ही नही है अपितु आत्मा का आध्यात्मिक विकास उसका उद्देश्य है। तत्कालीन तापस-सम्प्रदाय के द्वारा प्रचलित लोकमूढ मान्यता के बजाय अधिक सस्कृत तथा 'अहिसक तपस्या' का मार्ग मानव जाति को बताया। कुछ विद्वान इस मत के है कि देश मे प्रचलित "नाथ-सम्प्रदाय' इन महापुरुषो के सदुपदेश से प्रभावित रहा है और उक्त सम्प्रदाय ने भारतीय अध्यात्म को बहुत प्रेरणा दी है। भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् ही 'वर्द्धमान' महावीर का अवतरण होता है। जिनकी शुभजन्मतिथि आगामी चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। श्रमण-सस्कृति मे दोनो समकालीन महापुरुष भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध निश्चय रूप से भगवान पार्श्वनाथ के "चातुर्याम धर्म' से प्रभावित रहे है। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी ही थे।

भगवान बुद्ध ने भी ज्ञान-लाभ प्राप्त करने के पूर्व जिन विभिन्न पथो को अगीकार किया उनमे 'निर्ग्रन्थ सप्रदाय' भी था। यह निर्विवाद है कि भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी सम्प्रदाय ही 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' कहा जाता था। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर का उपदेश-सदेश पूर्व मे निर्ग्रन्थ सप्रदाय के नाम से अभिहित था। किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ७५ वर्ष पश्चात् निर्ग्रन्थ सप्रदाय का नाम "जैन" धर्म प्रारम्भ हो गया। आचार्य काका कालेलकर के शब्दो मे --

'धर्मानन्दजी इस निश्चय पर पहुँचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से ही बौद्ध और जैन ये दो धाराएँ निकली है। उनका यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध धर्म और जैन विचार-पद्धति की बुनियाद मे जो दार्शनिक जीवनदृष्टि है उसे स्वीकार करने से ही समाजवाद और साम्यवाद कृतार्थ हो सकेंगे। और मानवजाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ मे आयेगी।"

(श्री धर्मानन्द कोसाम्बी द्वारा लिखित भगवान बुद्ध की प्रस्तावना पृष्ठ छ)।

भगवान महावीर का समग्र जीवन तत्कालीन प्रचलित सामाजिक विषमता, धार्मिक अन्ध-विश्वास, अन्याय अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह का जीवन था उनके लगभग ३० वर्ष के साधनामय जीवन मे उन्होने अपने शरीर की ममता

छोडकर भयकर तप-साधना की। उसके परिणामस्वरूप उन्हे 'कैवल्य' लाभ हुआ और समाज को अपना सदेश देना प्रारम्भ किया। लगभग १२ वर्ष तक इस प्रकार मानवजाति मे अमृत वर्षा करते हुए निर्वाण प्राप्त किया एव मुक्त हो गये।

यदि हम इन समस्त महापुरुषो के उपदेशो पर दृष्टिपात करें तो हमे इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि समस्त उपदेश का सार 'अहिंसा' था। समस्त महापुरुषो ने अपने उपदेश मे इस बात पर अत्यधिक जोर दिया कि मनुष्य किसी प्राणी को मन, वचन, काया से हानि न पहुँचावे, वध न करें, न किसी के द्वारा हानि पहुँचावे या वध करावे, न किसी हानि पहुँचाने वाले या वध करने का अनुमोदन करे। यदि हम जैन-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ "आचाराग सूत्र" के निम्न उद्धरण पर विचारें तो तथ्य की पुष्टि होगी।

'से बेमि जे अइया, जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरतेहं ते सव्बे एव-माईक्खंति, एव भासति, एव पण्णाविति एवं परूविति—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न धातव्वा, न अज्जावियव्वा, न परियाएयव्वा, न उद्दवेयव्वा।'

आचाराग सूत्र प्र० श्रुत स्कन्ध ४ अ० १ उ०

इसमे भी कोई सदेह नही कि यदि कोई मनुष्य किसी प्राणधारी को सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि मे शोषण करें तो वह भी हिसा कही जानी चाहिये। भगवान महावीर से पूर्व 'अहिंसा' का रूप क्या था ? उसमे सामा-जिक आर्थिक शोषण भी हिसा की परिभाषा मे शामिल किया था यह विद्वानो के लिये खोज का एक विषय है। आजकल जो जैन-साहित्य उपलब्ध है, वह अतिम तीर्थकर भगवान महावीर द्वारा उपदेश के आधार पर गणधरो द्वारा निर्मित 'साहित्य' हे। वह बहरहाल भगवान महावीर के पूर्व का कोई साहित्य (जैन) आज उपलब्ध नही इस कारण उक्त प्रश्न की खोज सरल नही है। किन्तु इतना निश्चित है कि "अहिंसा" का विकास जो भगवान महावीर के काल मे हुआ वह अद्वितीय था। उन्होने केवल सामाजिक शोषण, आर्थिक शोषण को ही हिसक नही माना अपितु वैचारिक हिसा को भी त्याज्य माना। भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म मे पुरुष के लिये स्त्री 'परिग्रह' माना जाता था और इसी कारण सभवत उसका समावेश 'अपरिग्रह' व्रत मे कर लिया था। यह स्पष्ट है कि इसमे स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व होने से इनकार किया गया था। किन्तु भगवान महावीर ने इस विचार के स्थान पर स्त्री का स्वतत्र अस्तित्व मानकर पाच महाव्रतो की स्थापना की।

इसीप्रकार भगवान महावीर ने देखा कि विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कई 'वाद' देश मे विद्यमान हैं। और उनके पास आंशिक सत्य भी है। तो उन्होने अन्य वादो को 'एकान्ती' कहा और ससार को 'अनेकान्ती मार्ग' का उपदेश दिया। वास्तव मे अपने से भिन्न विचारधारा के किसी व्यक्ति के प्रति न्याय करना चाहते हैं तो हमे अनेकान्त का सिद्धान्त अपनाना आवश्यक है। 'अनेकान्त विचार पद्धति' वास्तव मे 'बौद्धिक अहिंसा" है। विश्व की प्रत्येक वस्तु धर्मात्मक है। इस कारण उन वस्तुओ के किसी एक पहलू को दृष्टिगत रखकर जो विवेचन होगा वह वस्तु का समग्र चित्र नही हो सकता इस कारण यदि हम उन वस्तुओ के भिन्न-भिन्न पहलुओ के वर्णन को एकत्रित करलें तो समग्र सत्य के दर्शन हो सकते हैं। अनेकात-विचार पद्धति के द्वारा जिन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो को जिस भाषा मे व्यक्त किया जा सकता है उसे "स्याद्वाद" कहा जाता है। जैन तार्किक विद्वानो ने इसे सप्तभगी न्याय तथा सप्त नयवाद भी कहा है। तात्पर्य यह है कि तार्किको ने 'अनेकात विचार पद्धति' अथवा 'स्याद्वाद' को 'सख्या' मे सीमित करने का प्रयत्न किया। वास्तव मे जैन विचारको ने मोटे तौर पर केवल दो नय (निश्चय तथा व्यवहार) स्वीकार किया। किन्तु विशालता की दृष्टि से 'नय' की सख्या उतनी ही बताई जितनी विचार-पद्धति हो सकती है। तात्पर्य यह है 'नयो' की सख्या अगिनत है इसे सीमित नही किया जा सकता। यह सत्य है कि जैनागमो मे यह विचार बीजरूप से मौजूद थे। किन्तु उसका विस्तार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अनेक जैनाचार्यों ने किया है। जिनमे सिद्धसेन दिवाकर, समतभद्र, हरिभद्र, अकलक देव, यशोविजय, माणिक्यनदि आदि मुख्य है।

इन विद्वानो ने इस विचार-पद्धति पर विपुल साहित्य का निर्माण किया। यह निर्माण कार्य भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात प्रारम्भ हुआ। इसमे सदेह नही कि यदि विश्व मे प्रचलित विभिन्न वाद, पथ, मत के प्रति न्याय करना होता तो इस विचार-पद्धति को अपनाये बिना चारा नही है। न सत्य को सीमाओं म बाधा जा सकता है। इसका सीधा मार्ग 'समन्वय' है। मानव जाति को धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्म-समभाव-अनेकात-विचार पद्धति से प्राप्त हो सकती है। इसे आधुनिक सीधी सरल भाषा म 'अनाग्रही विचार' भी कहा जा सकता है। एक जैनाचार्य ने एक वाक्य मे इस विशाल सिद्धान्त का निचोड रख दिया है। आग्रही व्यक्ति का दृष्टिकोण 'यन्मदीय तत्सत्य' रहता है। जबकि अनाग्रही का 'यत्सत्य तन्मदीयम्' रहता है।

एक जैन विद्वान् ने भारतीय षड्दर्शनो मे आंशिक सत्य का दर्शन भिन्न

भिन्न नयो (दृष्टिकोण) के माध्यम से देखा। उन्होने नैगम नय द्वारा न्याय-वैशेषिक दर्शन, सग्रह नय द्वारा वेदान्त-दर्शन, ऋजसूत्र नय द्वारा बौद्ध-दर्शन, शब्द नय द्वारा साख्य-योग व्यवहार नय द्वारा चार्वाक दर्शन का अस्तित्व स्वीकार किया।

मानवजाति के सन्मुख यह एक अत्यन्त आश्चर्य का विषय रहेगा कि जिस जैन-धर्म ने विश्व के प्रचलित विभिन्नवादो, पथो धार्मिक मान्यताओ के समन्वय का दावा किया तथा समस्त वादो, पथो, धार्मिक मान्यताओ के आशिक सत्य का दर्शन किया उसी के अनुयायी समाज मे श्वेताम्बर, दिगम्बर विवाद कैसे पैदा हो गया? इस विवाद मे समय के प्रभाव से सदैव वृद्धि होती गई। दोनो सप्रदायो मे उप-सप्रदायो का निर्माण हुआ जिसके परिणामस्वरूप आज जैन धर्मानुयायी जैन समाज सम्प्रदाय, उप सप्रदाय आदि मे विभक्त है। इस सम्बन्ध मे पिछला इतिहास बहुत कटु है। हमारे पूर्वजो मे से अधिक ने छोटे-छोटे मतभेद के प्रश्न को महत्वपूर्ण निरूपित करते हुए पृथक्-पृथक् उप-सप्रदायो का निर्माण किया। यह विश्व के आश्चर्यो मे एक आश्चर्य है। यह माना जावेगा कि हमारे पूर्वज सद्धान्तिक दृष्टि से अनकाती विचार पद्धति के हामी होते हुए भी व्यवहार मे उप-सप्रदायो के निर्माण के कारणीभूत मतभेदो का निराकरण नही कर पाये, भिन्न मत अथवा भिन्न रुचि मे आशिक सत्य का दर्शन नही कर पाये। इसमे सदेह नही कि हमारे पूर्वाचार्यों मे कई ने इस सम्बन्ध मे उदार दृष्टिकोण अपनाया किन्तु उनकी वाणी अधिक प्रभावशाली न हो सकी। वास्तव मे इन उप-सप्रदायो के भीतर निर्मित गच्छ-भेद-रुचि-वैचित्र्य एक महत्वपूर्ण कारण था। यदि हमारे पूर्वाचार्य इस वास्तविकता पर पूर्ण ध्यान दे सकते तो भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिसा के बौद्धिक पक्ष 'अनेकात विचार पद्धति' को अधिक बल मिलता और जैन समाज अधिक अखड बलशाली रहता। यह कटु सत्य हमे स्वीकार करना चाहिये कि इसी कारण जैन-समाज मे प्राणी-हिसा के विरुद्ध जो वातावरण गत २५०० वर्षो मे निर्मित हो सका उतना अच्छा वातावरण सामाजिक, आर्थिक, एव बौद्धिक अहिसा के लिये तैयार नही हो सका। जाति-पाति, छुआ छूत का एक दम विरोधी जैन-धर्म अपने अनुयायी जैन समाज मे यह राग इतने लम्बे काल मे भी समाप्त नही कर सका। अपरिग्रहवाद का हामी जैन-धर्म अपनी अनुयायी जैन समाज मे परिग्रह-परित्याग व्रत को popular नही कर सका। और इसी प्रकार अनेकात विचार पद्धति का हामी जैन-धर्म अपने आन्तरिक मतभेदो का 'समन्वय' करके विशाल जैन समाज का निर्माण नही कर सका। क्या अभी समय नही आया है कि जब 'अहिंसा' सिद्धान्त की विशालता को

ध्यान में रखकर अहिंसा के अन्य पक्ष सामाजिक तथा आर्थिक न्याय, सर्वधर्म समभाव धार्मिक सहिष्णुता, बौद्धिक 'अहिंसा' पर भी और जोर डाले।

जेण विणा वि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंत-वायस्स॥

अर्थ—जिसके बिना ससार का व्यवहार सर्वथा चल नही सकता, ऐसे त्रिभुवन के गुरुरूप 'अनेकान्तवाद' को नमस्कार हो।

आशा है कि समाज का प्रबुद्ध विचारक वर्ग इस दिशा मे विचार करेगा।

६

भगवान महावीर की अनेकान्त दृष्टि

(समन्वयात्मक दृष्टिकोण)

विश्व के भावी इतिहासकार के सम्मुख यह एक महान् आश्चर्य का विषय रहेगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'अनेकान्त सिद्धान्त' का हामी जैन समाज अपने भीतर उत्पन्न मत-भिन्नता तथा उसके आधार पर स्थापित विभिन्न सम्प्रदायो का गत शताब्दियो मे समन्वय क्यो नही कर पाया ? यह एक ऐसी समस्या है कि जिसका निराकरण आज तक कोई विचारक नही कर पाया। इस सदर्भ मे यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है कि क्या जैन समाज ने भगवान महावीर का उक्त सिद्धान केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से अपनाया था या उस पर व्यवहार करके साम्प्रदायिक विभिन्न मान्यताओ तथा उसके कारण उत्पन्न वैषम्य को शमन करने के लिए ? अथवा समाज के महान आचार्य विभिन्न सम्प्रदायो में आशिक सत्य होना स्वीकार नही करते थे।

भगवान महावीर के समय मे इस देश मे विभिन्न विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करने वाले "वाद" विद्यमान थे और भगवान महावीर ने उन वादो का समन्वय किया है। इसी विचार सारणी के अनुकरण मे पश्चातवर्ती जैन आचार्यों ने भारतीय इतर दर्शनो मे आशिक सत्य की अनुभूति की। एक दूसरे जैनाचार्य ने देश मे प्रचलित विभिन्न दर्शन मे विशिष्ट नय की अपेक्षा से सत्यता का आभास पाया। यही कारण है कि विभिन्न दर्शन आशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करते है। इस कारण उनमे पाखण्ड होने की घोषणा की गई। किन्तु उक्त जैनाचार्य ने यह उद्घोष करने मे हिचक नही की कि जैन दर्शन पाखण्डो का समूह है। इस 'उद्घोष' मे जैनाचार्यों के हृदय मे जो विचार काम कर रहा था वह यह था कि जैनदर्शन मे सब दर्शनो के आशिक सत्य का

समन्वय करके पूर्ण सत्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण जैनाचार्यों ने अपने निश्चय की यह घोषणा भी की।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

उक्त जैनाचार्य ने भगवान महावीर के वचनो के प्रति पक्षपात तथा कपिल आदि मुनियो के वचनो के प्रति द्वेष न होना प्रगट किया। उन्होने केवल युक्तिपुर्ण वचनो को अगीकार करने का निश्चय किया।

प्राचीन ग्रन्थ इस बात के साक्षी है कि भगवान महावीर के समय मे भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण विद्यमान थे। दोनो श्रमणो के विचार तथा आचार मे कुछ भिन्नताएँ थी। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य उत्तराध्ययन सूत्र के तेइसवें अध्ययन मे दोनो मान्यताओ के प्रमुख श्रमणो का सम्मेलन हुआ और उस सम्मेलन म समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। उक्त सम्मेलन सफल हुआ और दोनो परम्पराओ का प्रतिनिधित्व करने वाले मुनिराज "अहिसा धर्म" के प्रचार-प्रसार करने म जुट गये।

भगवान महावीर के समय मे भी श्रमणवर्ग मे सचेल और अचेत श्रमण विद्यमान थे और दोनो भगवान महावीर द्वारा उपदेशित 'अहिंसाधर्म' को देश भर मे फैलाने के कार्य मे जुटे थे। किन्तु भगवान महावीर के कई शताब्दि पश्चात् सचेल-अचेल का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया और उसके आधार पर जैन समाज मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दो परम्परायें विभाजित हो गई। वैमनस्य और विद्वेष के इस बीज ने और विकराल रूप धारण किया और श्वेताम्बर परम्परा मूर्ति और मन्दिर के प्रश्न को लेकर दो भागो मे विभाजित हो गई। दुर्भाग्य यही समाप्त नही होता अपितु अमूर्तिपूजक समाज अहिसा के विधानात्मक तथा निषेधात्मक पक्ष के एकातिक आग्रह के आधार पर स्थानकवासी तथा तेरापन्थी ऐसे दो भागो मे विभक्त हो गया। दिगम्बर समाज भी तेरहपथ, बीसपथ, तारणपन्थ आदि भागो मे विभक्त हो गया। विभाजन के इस दौरान मे उपरोक्त सम्प्रदायो मे भी विभाजन करके अत्यन्त सकुचित घेरे मे बन्द कर दिया। यह एक आश्चर्य का विषय रहेगा कि हमारे प्राचीन जैनाचार्य उपरोक्त सम्प्रदायो उप-सम्प्रदायो की मान्यताओ का समन्वय क्यो नही कर पाये? मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि विचारभेद का समन्वय तत्कालीन जैनाचार्य कर पाते तो उनके द्वारा जैनदर्शन की अधिक सेवा हुई होती। इसमे सन्देह नही कि प्राचीन जैनाचार्यों ने समाज मे शान्ति स्थापनार्थ यह उद्घोष किया कि

न श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे ।
न पक्ष-सेवाश्रयेण मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

उन्होने श्वेताम्बर अथवा दिगम्बरत्व मे मुक्ति नही मानी । न तर्कवाद मे, न तत्ववाद मे । उन्होने यह भी कहा है कि पक्षपात दृष्टिकोण से मुक्ति प्राप्त नही हो सकती । कषाय मुक्तता से ही केवल मुक्ति प्राप्त हो सकती है किन्तु कोई ऐसा सफल प्रयत्न विभिन्न सम्प्रदायो अथवा उपसम्प्रदायो का समन्वय करने की दिशा मे किया जाना नही पाया जाता । यही कारण है कि गत दो सहस्र वर्षो मे जैन समाज के विभक्त हो जाने के कारण बहुत बडी हानि हुई । परस्पर कलह वैमनस्य हुआ और उसके परिणामस्वरूप तीर्थ, मन्दिरो, और धार्मिक स्थलो के सम्बन्ध मे मुकदमेबाजी हुई । यदाकदा दो सम्प्रदायो के दरम्यान शास्त्रार्थ मे समाज की शक्ति तथा धन का अपव्यय करना पडा इसमे कोई सन्देह नही ।

गत कुछ शताब्दियो मे शास्त्रार्थों की परम्परा समाज से विदा हुई यह एक आशाप्रद सकेत है कि जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदाय परस्पर निकट आने की दिशा मे प्रयत्नशील है । देश मे प्रत्येक वर्ष भगवान महावीर का जन्म दिवस सम्मिलित रूप से मनाये जाने की प्रथा काफी सीमा तक सफल हुई है । समाज का विचारकवर्ग जैन समाज के अन्य पर्व दिवसो को सम्मिलित रूप से समारोहपूर्वक मनाने की दिशा मे प्रयत्नशील है । इसमे सन्देह नही कि, इन प्रयत्नो से समाज की विचारप्रणाली मे कुछ अन्तर हुआ है । किन्तु यह प्रयत्न इस भागीरथ काम को लक्ष्य मे रखकर अत्यन्त अपर्याप्त मालूम होते है । इस बात की बडी आवश्यकता है कि समाज को इस दिशा मे प्रगति करने के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया जाय । और विभिन्न सम्प्रदाय उक्त कार्यक्रम पर विचार करके उस पर अमल करें ।

इसमे भी कोई सन्देह नही कि किसी भी समाज मे वैचारिक क्रान्ति के लिए काफी समय लगता है । किन्तु इसमे अधीर होने की आवश्यकता नही । यदि हमारी दिशा सही है तो समाज चाहे देर से सही, उस लक्ष्य तक पहुँचेगा । इस दृष्टिकोण से समाज के सन्मुख इस लेख के माध्यम से एक योजना प्रस्तुत की जा रही है । मेरा विश्वास है यदि समाज ने इस को कार्यान्वित किया तो हम लक्ष्य पर पहुँचने मे सफल हो सकेगें ।

(१) जैन समाज के किसी सदस्य को अपने परिचय के लिए 'जैन' शब्द से अधिक नही बताना चाहिए । परिचय मे साम्प्रदायिक भेद-प्रभेदो का उपयोग नही होना चाहिए ।

(२) जैन समाज के अन्तर्गत जो साम्प्रदायिक मान्यताओ मे मतभेद है उनका आलोचनात्मक सार्वजनिक रूप से प्रचार नही किया जाना चाहिए।

(३) जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायो को पर्युषण-पर्व एक ही साथ मनाना चाहिए। श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदायो मे जो अलग-अलग रूप से पर्युषण-पर्व मनाया जाता है, उसके स्थान पर कोई सर्वसम्मत हल निकाल कर एक साथ मनाना चाहिए।

(४) जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायो को सवत्सरी, वर्ष मे एक साथ, एक ही दिन मनानी चाहिए।

(५) विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रति आलोचनात्मक साहित्य का प्रकाशन न करें।

(६) सर्वसाधारण जनता मे प्रचार के लिए समन्वयात्मक दृष्टिकोण का साहित्य ही प्रकाशित किया जाना चाहिए।

(७) समाज द्वारा सचालित शिक्षा-सस्थाओ के पाठ्यक्रम मे इस प्रकार के साहित्य को विशिष्ट स्थान देना चाहिए जिसमे समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया हो।

(८) प्रत्येक सम्प्रदाय अपने यहाँ के कार्यक्रमो मे जैन समाज के अन्य सदस्यो को निमन्त्रित किया करे।

(९) नगर मे विभिन्न सम्प्रदाय के सन्त या साध्वी आएँ तो उनके स्वागत, प्रवचन आदि मे इतर सम्प्रदाय के व्यक्ति भी भाग ले।

(१०) यदि सयोगवश विभिन्न सम्प्रदायो के प्रतिष्ठित सन्त एक ही नगर मे हो तो सम्मिलित-व्याख्यानो की पद्धति प्रारम्भ की जानी चाहिए।

७

भगवान् महावीर और उनका समाजवाद

भगवान महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के रूप मे प्रसिद्ध है। उनका कार्य काल आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। अब यह निर्विवाद मान लिया गया है कि भगवान महावीर एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका ७२ वर्ष का सक्षिप्त जीवन तीन विभागो मे विभक्त है। प्रथम ३० वर्ष तक राजकुमार के रूप मे, उसके पश्चात् श्रमण के रूप मे लगभग १२ वर्ष तथा, कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् ३० वर्ष तक जगत को मोक्ष मार्ग के उपदेष्टा के रूप मे। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु मे निर्वाण प्राप्त किया। भगवान महावीर के युग मे तात्कालीन समाज की व्यवस्था कैसी थी? उसमे आर्थिक वैषम्य तथा अर्थ जन्य द्वेष ईर्ष्या आदि विद्यमान थी या इससे विपरीत सब क्षेत्रो मे समता विद्यमान थी? यह महत्व पूर्ण प्रश्न कई विचारको के सम्मुख है। तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो चित्र जैन आगमो मे विद्यमान है, उससे यह नि सकोच कहा जा सकता है कि उस युग मे भी अर्थिक विषमता, द्वेष, ईर्ष्या सब कुछ था। प्रश्न परिमाण (डिग्री) का नही है। परिमाण जानने के लिए आज निश्चित साधन हमारे पास नही है। किन्तु तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो शब्द चित्र लगभग २५०० वर्ष के पश्चात् भी उपलब्ध है, उससे यह कहा जा सकता है कि उस समय समाज के सदस्यो मे सग्रहवृत्ति भी थी। इस कारण जहाँ पर एक व्यक्ति बहुत धनी था वहाँ दूसरा व्यक्ति अत्यधिक अभावग्रस्त था। गृहस्थ अपने यहाँ नौकर-चाकर रखते थे, केवल यही नही अपितु दास प्रथा तक विद्यमान थी। डा० जगदीश चन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक "जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज" मे "ऋण-दास, दुर्भिक्ष दास, दासचेट, दास चेटिया आदि का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि इस प्रकार के दासी की मुक्ति किस प्रकार हुआ करती थी। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज व्यवस्था विशेषत. अर्थ मे सदभाव तथा

अभाव (Haves and haves not) की समस्या थी। निश्चित रूप मे इस कारण विषमता, द्वेष, ईर्ष्या सब हुआ करती थी। यदि हम जैन आगम (अग साहित्य) मे से 'उपासक दशाग' का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होगा कि १० श्रावको की जीवन-गाथा उक्त साहित्य मे वर्णित की गई है, उनके पास कितनी प्रचुर मात्रा मे सम्पत्ति थी। केवल यही नही, अपितु धन के उत्पादन के मुख्य साधन (भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध) पर उनका अधिकार (चाहे एकाधिकार न हो) था। उस देश की प्राचीनअर्थ व्यवस्था विशेषत ग्रामीण-क्षेत्र मे (कृषि पर अवलम्बित थी। इन श्रावको के अधिकार मे विपुल भूमि थी, पशु अत्यधिक मात्रा मे थे। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि समाज के छ सदस्यो के पास जहाँ विपुल सम्पत्ति थी वहाँ अर्थोपार्जन के प्रमुख साधन भी विपुल मात्रा मे थे। इस कारण कोई धनी अधिक नही होता जाये, इसमे आश्चर्य की बात नही।

प्रश्न यह है कि भगवान महावीर ने इस समस्या का हल क्या किया ? उपरोक्त चित्र के पश्चात् भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि केवल पूँजी बल पर तत्कालीन समाज व्यवस्था मे "शोषण" की गुजायश कम थी। तत्कालीन समाज व्यवस्था मे मशीन का आविष्कार नही था और न बड़ कल-कारखाने ही थे। सत्य यह है कि इस प्रकार की मनुष्य-भक्षी "मशीन" के अभाव के कारण आज जैसा शोषण नही हो सकता था। उस समय मनुष्य स्वय श्रम से अथवा अपने नौकरो के द्वारा उत्पादन कराता था। निश्चित रूप से शोषण तो था किन्तु उसकी मात्रा नगण्य थी। इस परिस्थिति मे भगवान महावीर ने आर्थिक वैषम्य, द्वेष, ईर्ष्या की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह (इच्छा परिमाण व्रत) का विधान किया। कहा जाता है कि मनुष्य की इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है (इच्छाहु आगाससमा अणतया) यदि मानव की इच्छाओ पर नियत्रण न हो तो वह राक्षस बन सकता है, यह ध्यान रखने योग्य बात है "इच्छा" का नियन्त्रण किया गया है। इच्छा तथा आवश्यकता मे बड़ा अन्तर है। यह सत्य है कि आवश्यकताओ का भी वर्गीकरण, आवश्यकता, अति आवश्यकता, अनिवार्य आवश्यकता आदि किया जा सकता है। भगवान ने जगत मे व्याप्त दु ख, अशाति, सघर्ष की समस्या का हल निकाला कि मनुष्य अपनी धन-सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छाओ को नियत्रित करे, साथ ही अपने स्वय के भोगोपभोग की वस्तुओ का भी परिमाण निश्चित करे। (श्रावक के व्रतो मे पचम "अपरिग्रह" तथा सप्तम भोगोपभोग परिमाण व्रत) इस प्रकार समस्या का हल आत्मा के नियन्त्रण के रूप मे जगत के समक्ष रखा। इसके अतिरिक्त भगवान ने सतोष का जीवन व्यतीत करने तथा दान

का भी उपदेश दिया। अभाव-पीडित व्यक्ति को संतोष की बात कहना पर्याप्त नही है। उसको अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती है। इसके लिये "दान" का विधान किया गया। यह सत्य है कि आज के कुछ विचारक इस (संतोष तथा दान) उपदेश की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं उनका कहना है कि संतोष की बात अभाव-पीडित व्यक्ति हृदय मे भाग्यवादिता का आरोपण करके यथास्थिति मे (गरीबी मे) जीवन व्यतीत करने के लिए निश्चित करती है तथा दान देकर उसकी गरीबी को सदैव के लिए स्थिर रखती है। यह सत्य है कि आज के साधन-सम्पन्न धनी समाज की ओर से इस प्रकार का उपदेश शोभा नही देता। संतोष उसे स्वय करके आदर्श उपस्थित करना चाहिए। आज का दान इस प्रकार से कीर्ति दान (यश की इच्छा से दान) है। यदि हम प्राचीन परम्परा को देखें तो ज्ञात होगा कि दान दाता, दान देकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता था। तात्पर्य यह है कि भगवान ने जहाँ सग्रह के विसर्जन के लिए दान का उपदेश दिया वहाँ भविष्य मे सग्रह न होने के लिए नियन्त्रण का उपदेश दिया। मानव की सदसद् विवेक बुद्धि ऐसी थी कि वह अपने पर राज्य द्वारा निर्मित कानून के नियन्त्रण के बजाय स्वय पर नियन्त्रण रखना उचित समझती थी। इस कारण राज्य द्वारा इस प्रकार के प्रयत्नो की चर्चा प्राचीन साहित्य मे नही है कि जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि राज्य ने सम्पत्ति की सीमा बाध दी या भूमि की अधिकतम सीमा लगाकर शेष भूमि राज्य ने "अधिगृहीत" कर ली।

तत्कालीन समाज व्यवस्था के अध्ययन के परिणामस्वरूप हम इस निश्चय पर भी पहुँचते है कि आर्थिक वैषम्य होते हुए भी समाज मे अर्थ-प्रधानता नही थी। भगवान की सभा मे राजा-रंक का कोई भेद नही था। राजा श्रेणिक को जो स्थान प्राप्त था, वही समाज के अभाव-ग्रस्त गरीब व्यक्ति को। एक समय किसी ने भगवान से श्रेणिक के परलोक गमन के सम्बन्ध मे प्रश्न किया कि उसे मृत्यु उपरान्त कौन सी योनि मिलेगी? भगवान ने श्रेणिक (जो भगवान का परम भक्त था) के सम्बन्ध मे कहा कि वह नरकगामी होगा। भगवान की सभा मे सबके साथ समान व्यवहार होता था।

जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थई।

जिस प्रकार पुण्यवान को उपदेशक उपदेश देता है उसी प्रकार दीन दरिद्र को भी उपदेश देता है। जिस प्रकार दीन दरिद्र को उपदेश देता है उसी प्रकार

पुण्यवान् सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश देता है। तात्पर्य यह कि दोनो के प्रति एक-सा भाव रखना चाहिये।

वास्तविकता यह है कि भगवान महावीर का जीवन जितना त्याग-मय था, उसके अनुसार यह सभव नही था कि समाज मे अर्थ का प्राधान्य हो या अर्थ पूजा की वृत्ति उत्पन्न हो। किसी भी धर्मोपदेष्टा के व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पडना अनिवार्य है। यही नही, भगवान महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध तथा उनके पश्चात्‌वर्ती महात्मा ईसा तथा हजरत मुहम्मद की जीवनी त्याग की भावना से ओतप्रोत थी इस कारण तत्कालीन समाज पर उसका प्रभाव पडेगा ही। महात्मा ईसा का वह वाक्य प्रेरणा-स्तभ है जिसमे कहा था कि "यह तो सभव है कि सूई के छेद मे से ऊँट निकल सके किन्तु यह सम्भव नही है कि धनी व्यक्ति स्वर्ग के द्वार मे प्रवेश पा सके।" धर्मोपदेष्टा का स्वय का जीवन प्रेरणादायी होता है उस समय "Charity begins at home" का सिद्धान्त होता था, आज परिस्थिति विपरीत है। सम्भवत. वर्तमान परिस्थिति मे यह आवश्यक नही माना जाता कि किसी राजनीतिक दर्शन या आर्थिक दर्शन का प्रचार करने वाले का स्वय जीवन उसी प्रकार के सिद्धान्तो से परिपुष्ट हो इसी कारण आज 'वाद' का महत्व बढ गया है। समाजवादी व्यवस्था मे विश्वास रखने वाले या उसके उपदेष्टा के लिये यह आवश्यक नही है कि वह तत्सम सिद्धान्तो के अनुकूल अपना जीवन बितावें। यह पर्याप्त है कि उस 'वाद' मे विश्वास करता हो।

यूरोप मे गत १००-२०० वर्षों मे औद्योगिक क्राति हुई, उसके परिणाम-स्वरूप यूरोप मे बडे-बडे कलकारखानो का निर्माण हुआ और स्वय-चालित मशीनो के कारण मानव की उपयोगिता कम होती गई। इस औद्योगीकरण ने कई समस्याओ को जन्म दिया। किसी कार्य को सम्पन्न करने मे जितनी मानवीय शक्ति Man-power की आवश्यकता थी, उससे बहुत कम की आवश्यकता रह गई। बडे उद्योग बहुत बडी पूँजी लगाकर ही स्थापित किये जा सकते है। पूंजी-पतियो ने अपनी सचित पूंजी का उपयोग करके अपने स्वामित्व के कारखाने कायम किये, उत्पादन की विपुलता के कारण वह पूंजी पति और अधिक सम्पन्न होता गया। इधर मजदूरो के श्रम की कीमत पर यह सब हो रहा था, उनका शोषण किया जा रहा था। इस कारण उनमे असन्तोष, ईर्ष्या, द्वेष के भाव जागृत हुए। यूरोप के अनुकरण के परिणाम स्वरूप हमारे देश मे भी औद्योगीकरण किया गया तथा किया जा रहा है। जिस प्रकार यूरोप मे औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धनी अधिक धनी हुआ, मजदूर बेकार हुआ। इसी प्रकार हमारे देश मे भी यही स्थिति हुई। देश मे आर्थिक विषमता परस्पर

ईर्ष्या, द्वेष का निर्माण हुआ और वर्ग-संघर्ष हुए। इसके परिणामस्वरूप जगत मे दुःख, अशान्ति तथा सघर्ष है। प्रश्न यह है कि इस स्थिति के निराकरण का क्या उपाय ? उपरोक्त परिस्थिति मे मानव समाज के सम्मुख समस्या यह है कि समाज के कुछ व्यक्तियो के पास सम्पत्ति अधिक संग्रह होती जा रही है तथा साथ ही उत्पादन के साधनो पर उनका अधिकार है जिसके द्वारा वह अभाव-ग्रस्तों का शोषण करता है। कुछ आधुनिक विचारकों के मत मे सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्ति के पास नही रहना चाहिये सम्पत्ति का स्वामी समाज रहे। यह पृथक् बात है कि इस प्रकार के स्वामित्व के लिये सम्पत्ति मे निवास योग्य मकान या ऐसी ही अनिवार्य सम्पत्ति सम्मिलित न की जाए। दूसरे कुछ विचारको का मत है कि सम्पत्ति की सीमा का बन्धन कर दिया जाए। यह भी हो सकता है कि अमुक मूल्य तक की सम्पत्ति के उपरान्त की सम्पत्ति पर कर-भार अधिक कर दिया जाए, किन्तु समस्या यही समाप्त नही होती। यदि उत्पादन के साधन पर समाज का आधिपत्य न हो तो मनुष्य पुन सम्पत्ति-शाली हो जावेगा तथा शोषण करता रहेगा। इसके लिये मुख्य उद्योग समाज के अधिकार मे होने चाहिये, उसका सचालन समाज करे तो व्यक्ति शोषण न कर सकेगा।

डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद' मे यह लिखा है कि आज कल हो नही, प्राचीन काल मे ऐसे उदार-चेता व्यक्ति हुए जिनके हृदय मनुष्यो के पारस्परिक कलह, उत्पीडन, शोषण, वैषम्य को देखकर व्यथित हो उठे थे। उन्होने ऐसे जगत् के मानस-चित्र खीचे जिसमे सभी सुखी तथा समान होगे। ऐसे काल्पनिक जगत् का चित्र खीचने वाली प्रसिद्ध पुस्तक 'यूटोपिया' है जिसके लेखक सर टामसमोर है। आज से १५० वर्ष पूर्व मशीनो का निर्माण नगण्य था। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचने के साधन सकुचित थे। उस समय यह रोग नही था। आजकल की वैज्ञानिक सभ्यता ने जिस प्रकार के उत्पीडन, दरिद्रता, तथा शोषण को जन्म दिया, उसके शमन के लिए वैज्ञानिक समाजवाद की सृष्टि की गई है, (पृष्ठ ८६) वास्तव मे देखा जाए तो आज की समस्या का हल समाजवाद के पास है। इसमे सन्देह नही है कि समाजवाद भारतीय होगा। देश के अनुकूल परिवर्तन करके भारतीय परिस्थिति के अनुसार उसे ढालना होगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय-करण के प्रश्न पर भी पुन विचार करना होगा। आज के युग मे राष्ट्रीयकरण के परिणाम देश स्वय अनुभव कर रहा है। प्रशासन-तन्त्र जब तक ईमानदार, कुशल, परिश्रमशील नही होगा, तब तक राष्ट्रीयकरण का पूरा लाभ राज्य या समाज को नही मिल सकता। इसलिए प्रशासन तथा प्रबन्धक

(राष्ट्रीयकृत उद्योग से सबधित) की समस्या पर पूरा ध्यान दिया जाना अनिवार्य है।

वैसे समाजवादी विचार की कई धाराएँ हैं पर इसमे सबसे प्रौढ वह है कि जिसके प्रवर्तन का श्रेय कालमार्क्स तथा फ्रेडरिक एगेल्स को है इसके दो ग्रन्थ विशेष रूप मे प्रामाणिक है। मार्क्स एगेल्स लिखित कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो (सन् १९०५ मे प्रकाशित) और दूसरी मार्क्स लिखित 'दास केपिटल' सन् १९१४ से १९५१ तक प्रकाशित (पृष्ठ ८७) सम्पत्ति पूरे समाज के स्वामित्व मे रहे तथा उत्पादन के साधनो पर समाज का आधिपत्य रहे। इस विचारधारा के लिये आवश्यक है कि शासन का सूत्र समाजवादी हाथो मे रहे। जब समाजवाद मे आस्था रखने वाले के हाथ मे शासन सत्ता होगी तब ही वह इस प्रकार के प्रयत्न तेजी से करेगा कि जिसके द्वारा समाज मे व्याप्त बुराइयो की समाप्ति हो सके। आज-कल कई लोगो के लिये यह एक प्रगतिशीलता-परिचायक शब्द हो गया है और यदाकदा उसका उपयोग वे भी करते रहे है जिनको इस पद्धति मे अधिक आस्था नही है। इसी परिस्थिति को ध्यान मे रखकर एक अग्रेजी विचारक ने कहा था कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है जो किसी भी सर पर फिट हो सकती है। वास्तविक समाजवाद का भी एक दर्शन है कि जो सामूहिक जीवन के विकास तथा परिवर्तन को समझ कर तदनुकूल अपनी अर्थप्रणाली निश्चित करने मे सहायता देता है। (डा० सम्पूर्णानन्द की पुस्तक 'समाजवाद" पृष्ठ ८९)।

हमारे देश मे चाहे प्राचीन काल मे इस प्रकार के समाजवाद या साम्यवाद की चर्चा न रही हो किन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन ऋषि-मुनियो के मन-मस्तिष्क मे इसके तत्व के रूप मे विचार वर्तमान थे। उन्होने जन-मानस को उपदेश दिया (असविभागी न हु तस्स मोक्खो) इतना भेद आवश्यक था कि उनकी समाजवादी विचार-प्रणाली स्वात्मनियन्त्रित थी। किसी शासन सत्ता का जबरन लादा हुआ सिद्धान्त नही था। स्वेच्छा-पूर्ण आत्म-नियन्त्रण अधिक सफल होता था। आज की समाजवादी-प्रणाली शासन-सूत्र ग्रहण किये बिना तथा उसके द्वारा अगीकृत नीति या वैधानिक मान्यता के बिना कार्यान्वित नही हो सकती।

इसमे सन्देह नही कि आधुनिक समाजवाद हो या साम्यवाद, उसे दार्शनिक जीवन-दृष्टि भी अपनानी पडेगी। उसी भावना से समाज के कल्याण की आशा की जा सकती है। बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्द जी कोशाम्बी की पुस्तक

'भगवान बुद्ध' मे ख्यातनामा साहित्यकार काका कालेलकर ने श्री कोसाम्बीजी का परिचय देते हुए लिखा था—

"धर्मानन्द जी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म मे से बौद्ध और जैन यह दो धारा निकली है। उनका यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध और जैन विचार-पद्धति की बुनियाद मे जो दार्शनिक जीवन-दृष्टि है उसको स्वीकार करने से ही समाजवाद और साम्यवाद कृतार्थ हो सकेंगे और मानव-जाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ मे आवेगी।"

८

भगवान महावीर के प्रति एक सच्ची श्रद्धांजलि

उर्दू के एक कवि ने कहा है—

किस्सये अज़मते माज़ी को, न मुहमिल समझो।
कौमें जाग उठती हैं, इन अफसानो से॥

विश्व मे यह सामान्य प्रथा रही है कि जब ससार मे अधर्म, अन्याय, अत्याचार का वर्चस्व हो जाता है अथवा मनुष्य मे जब मनुष्यत्व कम हो जाता है धर्म, अधविश्वास का रूप ले लेता है, वह केवल रूढियो का समूह रह जाता है तब इस स्थिति का सुधार करने के लिये किसी महापुरुष का ससार मे अवतरण होता है। यदि हम लगभग ३००० वर्ष पूर्व के धार्मिक इतिहास पर नजर डालें तो हम श्रमण-परम्परा मे एक महान् क्रान्तिकारी महामानव 'पार्श्वनाथ' का अवतरण होना पाते है, उन्होने अपने समकालीन प्रचलित तापस-परम्परा (जो अज्ञानपूर्ण तप करके केवल देहदमन करती थी) मे काफी सुधार करके तपस्या का मर्म जगत को बताया, चातुर्याम-धर्म का उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उसके केवल २५० वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर का अवतरण हो जाने के पश्चात् आज भी अजैन क्षेत्रो मे भ० पार्श्वनाथ अधिक परिचित है। भ० महावीर के समय भ० पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित चतुर्विध सघ अस्त-व्यस्त हो चुका था, यह अत्यन्त आवश्यक था कि उसका पुनर्गठन किया जावे। भ० महावीर के माता पिता भ० पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमणो के उपासक थे। यही नही कुछ विद्वानो की मान्यता है कि भ० महावीर के समकालीन भ० बुद्ध ने बोधिलाभ-प्राप्ति से पूर्व जिन धर्मगुरु के पास कठिन तपस्या की थी, वह भ० पार्श्वनाथ के श्रमण थे। जो कुछ हो, किन्तु प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० श्री धर्मानन्द कोसाम्बी का यह मत रहा है कि भ० महावीर तथा भ० बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ से अवश्य प्रेरणा प्राप्त की है।

भ० महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ का पुनर्गठन करते समय भ० पार्श्वनाथ से संबंधित श्रमणवर्ग विद्यमान था तथा दोनो परम्पराओ मे विस्तार के संबध मे कुछ मतभेद था। भ० पार्श्वनाथ की परम्परा मे चातुर्याम धर्म तथा भ० महावीर की परम्परा मे पच महाव्रत रूप धर्म की मान्यता थी। इस कारण दोनो परम्परा के प्रतिनिधि मुनियो का मधुर-मिलन होकर समस्या का समाधान हुआ। श्रमण-परम्परा की इस महान् घटना ने विश्व के सन्मुख यह सिद्ध कर दिया कि सैद्धान्तिक मतभेदो तक का निराकरण अनेकांत-पद्धति से निश्चित रूप से किया जा सकता है। विश्व की कोई ऐसी समस्या नही कि जिसका समाधान समन्वयवादी मार्ग द्वारा न हो सकता हो। दोनो परम्पराओ मे सामजस्य स्थापित हो जाने के पश्चात् भ० महावीर की केवल एक ही परम्परा रही और दोनो परम्परा के अनुयायी महाभाग श्रमणो ने भ० महावीर द्वारा उपदेशित पच महाव्रत रूपी अहिंसाधर्म का सारे देश मे अनवरत परिश्रम करके प्रचार-प्रसार किया। उसका यह परिणाम हम देखते है कि भ० महावीर के समकालीन भ० बुद्ध द्वारा उपदेशित बौद्ध धर्म को इस से पलायन करना पडा किन्तु भ० महावीर द्वारा उपदेशित अहिंसाधर्म आज २५०० वर्ष के पश्चात् भी भारतीय जन-जीवन मे लोक-प्रिय है। कई व्यक्तियो के प्रेरणा का केन्द्र है।

भ० महावीर का प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारतीय रग-मच पर अवतरित हुआ। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी उनका शुभ जन्म-दिवस है। इस कारण यह उपयुक्त होगा कि इस सक्षिप्त लेख द्वारा उनके मानव धर्म, उदारतापूर्ण दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे विचार किया जावे। भ० महावीर के उपदेशो मे कोई एक ऐसा उदाहरण नही दिया जा सकता जिसमे उदार दृष्टिकोण के बजाय सकुचित दृष्टिकोण अपनाया गया हो। प्राचीन जैन साहित्य मे यत्र-तत्र इस प्रकार के विचार बीजरूप मे विद्यमान है कि जिनका मानवतावादी दृष्टिकोण गोचर होता है। जहाँ इधर कई धर्माचार्यों ने मुक्ति अथवा स्वर्ग की ठेकेदारी केवल अपने अनुयायियो के लिये सुरक्षित होना बताया। जहाँ कुछ धर्माचार्यों ने स्वय द्वारा उपदेशित धर्म मे दीक्षा लिये बिना स्वर्ग प्राप्ति सभव न होने का विधान किया, वहाँ भ० महावीर ने यह स्पष्ट विधान किया कि मनुष्य १५ प्रकार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। 'अन्यतीर्थ सिद्धा' तथा "अन्य लिंग सिद्धा" भी हैं। तात्पर्य यह था कि मुक्ति-प्राप्ति के लिए निर्ग्रन्थ धर्म मे दीक्षित होना तथा उसके प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड, वेष आदि का स्वीकार करना आवश्यक नही था। निर्ग्रन्थ धर्म मे प्रचलित सर्वमान्य "नमोक्कार मत्र" (नमस्कार मत्र) मे जहाँ साधु मुनिराज को नमस्कार किया गया है वहाँ "णमो लोए सव्व साहूण" (लोकके सब साधुजनो को नमस्कार) शब्दो का प्रयोग

किया गया है। तात्पर्य यह कि साधुता की ठेकेदारी निर्ग्रन्थ धर्म के आचार्यों ने केवल जैन साधुओ तक नही रखी। अपितु विश्व के समस्त साधुजनो को नमस्कार किया। सच बात यह है कि जो वेष-भूषा अथवा अन्य प्रकार से वेष्टित साधु है उनमे साधुता होगी ही यह दावा नही किया जा सकता। वेषधारी साधु से अपेक्षा अवश्य की जाती है कि उसमे साधुता के गुण हो किन्तु यह भी अनुभवो मे आया है कि कई मर्तबा यह अपेक्षा असत्य ठहरती है। वास्तव मे 'साधुता', हृदयगत कोमल भावना, परोपकार वृत्ति, अहिंसक जीवन आदि पर अवलम्बित है। सतकवि तुलसीदास का कहना है कि—

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन पर कहै न जाना।
निज परिताप द्रवं नवीनता, पर दुःख द्रवं सो संत पुनीता।

इसलिए—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

हमको साधुता के सम्बन्ध मे उदार दृष्टिकोण जो निर्ग्रन्थ धर्म मे अपनाया गया है उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना मुश्किल है। वास्तव मे जिन धर्माचार्यो ने सकुचित दृष्टिकोण अपनाया है वह धर्माचार्य नही अपितु विशिष्ट सम्प्रदाय के आचार्य कहे जा सकते है। भगवान महावीर ने जो उदार दृष्टि-कोण अपनाया था उनके प्रमुख शिष्यो मे जो अनेकान्त-पद्धति से विचार करने की क्षमता थी उनका जो समन्वयवादी दृष्टिकोण था, वह भगवान के निर्वाण के पश्चात् कुछ वर्षो तक ही रह सका। कहा जाता है कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी तक निर्ग्रंथ धर्म मे प्रचलित अचेल तथा सचेल परम्परा मे सामजस्य रहा। इसमे सदेह नही कि श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी एक प्रतिभा-सम्पन्न तेजस्वी आचार्य थे। किन्तु उनके पश्चात् सचेल तथा अचेल परम्परा मे सामजस्य न रह सका। नग्न श्रमण, वस्त्र सहित श्रमण को भगवान की आज्ञा के विरुद्ध और सवस्त्र श्रमण सभी नग्न श्रमणो को इसी प्रकार मानने लगे। उत्कृष्ट तथा निम्न की भावना उत्पन्न हो गई, परिणामस्वरूप श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायो का श्री गणेश हो गया।

इसमे सन्देह नही कि आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् कई उदारमना आचार्यो ने दिगम्बर-श्वेताम्बर विवाद के बारे मे उदार, समन्वयवादी रुख अपनाया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे॥
स्व पक्ष-सेवाश्रयेण न मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥

किन्तु यह एक कठोर सत्य है कि इसके बाद भी दोनों, विचार परम्परा का एकीकरण नही हो पाया। कहा जाता है कि किसी समय एक "यापनीय"

सघ का अस्तित्व था जिसकी कुछ कुछ-मान्यता श्वे० सम्प्रदायानुमोदित तथा कुछ दिगम्बर सम्प्रदायानुमोदित थी। किन्तु आज उसके बारे मे अधिक माहिती उपलब्ध नही है, न उक्त सघ का अस्तित्व ही है। यह एक विडम्बना है कि अनेकात-पद्धति से विचार करने तथा स्याद्वाद-पद्धति से उसको प्रचारित करने वाले महान् विद्वान् आचार्यों को इस दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के एकीकरण मे सफलता नही मिल सकी। तात्पर्य यह है कि उसक पश्चात् निर्ग्रंथ धर्म के अनुयायियो का इतिहास भेद-प्रभेद की दृष्टि से निराशाजनक रहा है।

निर्ग्रंथ धर्म के दो बडे भेद (दिगम्बर श्वेताम्बर) स्थापित हो जाने के पश्चात् दोनो सम्प्रदायो मे उप-सम्प्रदायो का निर्माण कुछ-कुछ बातो के मत भेदो को लेकर हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे स्थानकवासी तथा मूर्तिपूजक-देरावासी भेद हो गये। स्थानकवासी उपसम्प्रदाय मे रुचिभेद अथवा प्रान्तीय वातावरण की भिन्नता के कारण प्रथम दो सम्प्रदायो का निर्माण हुआ। मूर्ति-पूजक देरावासी उपसम्प्रदाय मे खरतर गच्छ-तपागच्छ आदि सम्प्रदायो का निर्माण हुआ। श्वेताबर तथा दिगम्बर सम्प्रदायो मे 'तेरह पथ' की स्थापना की गई। दिगम्बर सम्प्रदाय मे तारणपथ, बीसपथ, आदि स्थापित हुए। तात्पर्य यह है कि लगभग २ हजार वर्षो से जैन (निर्ग्रंथ धर्म) मे भेद-उपभेद का जो वातावरण निर्माण हुआ उसके कारण जैन धर्म, उसकी समाज व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती गई। इस लम्बे काल मे कोई ऐसा सफल प्रयत्न नही हुआ कि जिसके कारण धार्मिक मान्यताओ का समन्वयवादी मार्ग निकालकर सगठित श्रीसघ का आविर्भाव हो सके। इतना ही नही इस धार्मिक मान्यताओ के भेद ने धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे नाना प्रकार के झझट उत्पन्न कर दिये। इस सक्षिप्त लेख मे इन सबका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना सम्भव नही है।

वास्तविकता यह है कि इन धार्मिक मान्यताओ के भेद-प्रभेद का अस्तित्व अधिकतर श्रद्धा पर आधारित है कि विभिन्न-भेद प्रभेदो के हामी गुरुजनो ने उनका आधार मौलिक बताकर इस प्रकार की स्थिति निर्माण कर दी है कि अनुयायियो का पृथक् सोचना, नाश का कारण मालूम पडता है। इसके लिये श्रावक, श्राविकाओ, अनुयायियो मे धार्मिक साहित्य का अज्ञान अधिक जिम्मेदार है, जहाँ हमारे पूर्वाचार्यों ने धर्म के तत्व को अपनी बुद्धि से समीक्षा करके निश्चय करने का आदेश दिया था वहाँ अध श्रद्धा ने मनुष्य के मन, मस्तिष्क पर कब्जा कर लिया। कहा है—

पन्ना-समिक्खए धम्म तत्त तत्त-विणिच्छियं॥

आज समाज के सम्मुख विशेषकर समग्र जैन धर्म तथा जैन समाज की

भाषा मे सोचने वाले वर्ग के सम्मुख प्रश्न यह है कि वर्तमान स्थिति मे अच्छाइयो का समावेश किस प्रकार किया जा सकता है ? धार्मिक क्षेत्र मे अन्ध श्रद्धा, साम्प्रदायिकता का बोलबाला है। हम धार्मिक क्षेत्र मे अंध-श्रद्धा, साम्प्रदायिकता के दोषो से मुक्त रह सकते हैं। आगामी श्री महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर क्या यह सच्ची श्रद्धाजलि नही होगी, यदि हम अपने-अपने अन्त करण से अन्ध श्रद्धा, साम्प्रदायिकता से अलग रहने का सकल्प करें। मेरे मत मे यह सच्ची श्रद्धाँजलि होगी। मै जैन समाज के प्रबुद्ध वर्ग से अपील करता हूँ कि वह इस दिशा मे सक्रिय पहल करें। तभी हम पूर्वाचार्यो के सर्वोदय तीर्थ की रचना साकार देख सकेंगे। और निर्ग्रंथ धर्म को विश्व धर्म के रूप म मूल्याकन कर सकेंगे।

विश्व समन्वय, अनेकान्त पथ, सर्वोदय का प्रतिपल गान ॥
मैत्री करुणा सब जीवो पर, विश्वधर्म जग ज्योति महान् ॥

५

महावीर-जयन्ती और हमारा दायित्व

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान महावीर का जन्मदिवस है। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि गत कुछ वर्षों से भगवान महावीर का जन्मदिवस "महावीर जयन्ती" के नाम से सारे भारतवर्ष मे अधिकतर अखिल जैन समाज के द्वारा मनाया जाता है। इतना ही नही बल्कि विदेशो मे भी कई स्थानो पर प्रवासी जैन सज्जनो के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप मनाया जारहा है। मुझे स्मरण है कि जब सन् १९५६ मे मै तथा जैन समाज के विद्वान श्री सुमेरुचन्द्रजी 'दिवाकर' विश्व धर्म सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिये जापान गये थे तो जापान की राजधानी टोकियो मे सौराष्ट्र (भारतवर्ष) निवासी श्री शेठ से हम लोगो ने अनुरोध किया और उन्होंने उसको स्वीकार करके आगामी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को महावीर जयन्ती का आयोजन करने का निश्चय किया। श्री शेठ के प्रयत्न के फलस्वरूप अप्रैल सन् १९५७ मे जापान की राजधानी टोकियो मे महावीर जयन्ती मनाई गई। उन्होने हमारी माहिती के लिए हमे उस समय का एक फोटो भेजा। इसी प्रकार मेरे परिचित एक लेक्चरार श्री लाल चन्द्र जैन, आजकल उच्चतर अध्ययन के लिये अमेरिका गए हुए हैं। उन्होने मार्च १९६० के पत्र मे अमेरिका मे महावीर जयन्ती मनवाने की दिशा मे प्रयत्नशील होने की अभिलाषा व्यक्त की है। आज यदि हम कुछ वर्ष पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करे तो हमे विश्वास नही होगा कि भारतवर्ष मे कुछ वर्ष पूर्व ही महावीर भगवान की जयन्ती जैन समाज की ओर से सम्मिलित रूप मे नही मनाई जाती थी। आपस मे इतनी दूरी थी कि सम्मिलित रूप से मनाना सम्भव ही नही था। आज स्थिति मे परिवर्तन हो गया है।

किसी भी महापुरुष की जयन्ती जिन उद्देश्यो को लेकर मनाई जाती है। वह यही है कि हम उन महापुरुष के जीवन से कोई पाठ पढ़े, सद्-उपदेशो को अपने जीवन मे उतारे। अग्रेजी के एक विद्वान ने कहा था कि—

Lives of all great men all remind us,
We can make our lives sublime,
And departing leaves behind us,
Foot prints of the sends of live

ठीक इसी प्रकार से हिन्दी के एक विद्वान ने इसी आशय के विचार व्यक्त किये थे

जीवनचरित्र महापुरुषो के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।
हमें चाहिए हम भी अपने बना जाय पद-चिन्ह ललाम।
इस जीवन की रेती पर जो वक्त पड़े आवें कुछ काम।

इस दृष्टि से क्या यह आवश्यक नही कि हम प्रतिवर्ष केवल महावीर जयन्ती मनाकर, भगवान महावीर का गुण-गान करके अपने कर्तव्य की इति श्री समझने की अपेक्षा उनके उच्च आदर्शों को अपने मे अवतरित करने का प्रयत्न करे।

भगवान महावीर के जन्म के पूर्व भारतवर्ष मे धर्म, रूढि, का पर्यायवाची शब्द बन गया था। समाज मे धर्म के नाम पर केवल रूढि का चलन था। धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण होता था। धर्म के नाम पर निरीह पशुओ की हत्या की जाती थी और इस प्रकार देश मे हिंसा का ताण्डव नृत्य होता था। मानवता की कोई कद्र नही थी अपितु समाज का एक वर्ग अपने को उच्च जाति का कह कर दूसरे वर्ग पर अत्याचार करता था। इस प्रकार की अधर्म-जन्य परिस्थिति को समाप्त करके धर्म का प्राधान्य स्थापित करने के लिए भगवान महावीर ने प्रतिकूल परिस्थिति मे भी कार्य किया, सामाजिक ढाँचे मे आमूल चूल परिवर्तन करने के लिए क्रान्तिकारी पग उठाया और इस कारण उन्हे अपने जीवन मे कई बार कष्ट उठाना पडा।

भगवान महावीर जैसे धीर वीर महापुरुष का ही कार्य था कि उन्होने प्रतिकूल परिस्थिति मे सामाजिक मान्यताओ के विरुद्ध विद्रोह करके समाज को उदार तथा नई दिशा प्रदान की। यह सर्वमान्य है कि अनुकूल परिस्थिति मे कार्य सरल होता है जबकि प्रतिकूल परिस्थिति मे कठिन।

पूर्व के अन्य सब तीर्थंकरो के जीवन काल की अपेक्षा भगवान महावीर का जीवनकाल बहुत कम था। उस अल्प काल मे उन्हे अपनी आत्म-साधना भी करनी थी। उन्होने सकल्प किया था कि जब तक स्वय Supreme enlightenment (केवलज्ञान) प्राप्त न करें उपदेश नही देंगे। तात्पर्य यह कि जीवन

का बहुत कम समय उन्हें समाज मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने को मिला किन्तु उन्होंने अद्वितीय साहस करके समाज की कायापलट दी और केवल ७२ वर्ष की आयु मे मोक्ष पद प्राप्त किया।

भगवान महावीर के पश्चात् भी कुछ काल तक उनके अनुयाइयो मे वही उदार दृष्टिकोण रहा। किन्तु उनके निर्वाण के कुछ शताब्दी पश्चात् सकुचितता-अनुदारता प्रविष्ट हो गई। अनुयाइयो ने मतभेदो के नाम पर पृथक-पृथक सम्प्रदाय स्थापित कर दिए। उन सम्प्रदायो मे भी नगण्य मतभेदो को लेकर उप-सम्प्रदाय स्थापित हुए, तात्पर्य यह कि भगवान महावीर के कार्यकाल मे जो उदारता व समन्वयवादिता थी वह लुप्त होने लगी, विभिन्न सम्प्रदायो मे आपसा मनोमालिन्य भी होने लगा। जो जैनधर्म अनेकान्त का पुजारी था उसी के अनुयायीगण एकान्त के पुजारी हो गए। केवल उनकी मान्यता सत्य होने अन्य की मान्यता मिथ्या होने का आग्रह दृढतर होता गया। भगवान महावीर के जन्मदिवस पर आज यह अपेक्षा अनुचित नही होगी कि जैन समाज उदारता का पाठ ग्रहण कर। जैनेतरो को महावीर का उपदेश सुनाने की अपेक्षा वह स्वय उनके जीवन, उपदेश से मार्गदर्शन प्राप्त करके अनेकान्त का सच्चा अनुयायी बने।

मैं भारत जैन महामण्डल के मुख पत्र "जैन जगत" मे प्रकाशित लेखक के एक लेख 'जैन समाज मे एकता' तथा मुनि नेमीचन्द्र जी के एक लेख 'जैन-सघ-ऐक्य की व्यावहारिक रूपरेखा' की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। उक्त दोनो लेखो मे अखिल जैन समाज को उदारतापूर्णक अपने आंतरिक मतभेदो का समन्वय करके ऐक्य स्थापित करने के लिए आग्रह किया गया है।

यदि हम आज के शुभ दिवस पर इतना भर कर सकें तो निश्चय पूर्वक हमे भगवान महावीर के उपदेशो को बताने की आवश्यकता नही होगी। हमारी कृति उनके उपदेशो का प्रचार करेगी।

१०

महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दि और हमारा धर्म

श्रमण सस्कृति के एक महान ज्योतिर्धर महापुरुष भगवान महावीर के परिनिर्वाण को आज लगभग २५०० वर्ष हो रहे है। निश्चित रूप से सन् १९७४ के नवम्बर मास मे भगवान महावीर निर्वाण की २५वी शताब्दी मनाई जावेगी। भगवान महावीर के समय की परिस्थिति का यदि हम जायजा लें तो हमे घोर निराशा होनी है। तत्कालीन परिस्थिति अत्यन्त निराशाजनक तथा प्रतिकूल थी, युग अन्धकारमय था। मानव पूर्व के तीर्थंकरो की वाणी को विस्मृत कर चुका था, जिसमे उससे कहा गया था कि "मानव! तू अपने कर्मों का स्वय निर्माता है। कोई भगवान, परमेश्वर, देव तेरे को बुरे कर्मो से क्षमा नही कर सकता। यदि तू अच्छे कर्म करेगा तो तुझको पुण्य प्रकृति का बध होगा, अन्यथा पाप प्रकृति का। मानव जन्म दुर्लभ है, उसकी प्राप्ति के लिये देवता तक तरसते है। मानव ने उपनिषद के ऋषि की वाणी को भी विस्मृत कर दिया है कि जिसमे कहा गया था कि "ए मानव! जगत म तू ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, तुझसे बढकर कोई प्राणी नही है।" किन्तु इन सब प्रेरणा सूचक बातो को भूलाकर वह देवाधीन भगवान् अथवा परमेश्वर का गुलाम बनकर उसकी कृपा प्राप्ति के लिये उपासना करता है और इस तरह वह आत्म-गौरव, साहस, पुरुषार्थ, पराक्रम खोकर "परमुखापेक्षी" जीवन व्यतीत कर रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति मे इस महामानव का अवतरण हुआ। उसने देखा कि धर्म के नाम पर केवल रूढियो का ककाल मात्र अवशेष है। धर्म की आत्मा मार दी गई है। केवल शरीर को लेकर लोग लकीर पीटते है। विभिन्नवाद के आग्रही धर्माचार्य बौद्धिक व्यायाम करके परस्पर दार्शनिक प्रश्नो पर वितडावाद कर रहे है। उस महामानव ने परिस्थिति का आकलन करके सुधार करने का दृढ निश्चय किया तथा मानव को धर्म की आत्मा का

स्पर्श कराने का तय किया। दार्शनिक वितडावाद को समाप्त करके "अनेकान्त दृष्टि" दी। तात्पर्य यह है कि महामानव ने विश्व को एक ऐसी देन दी कि जिसका मूल्याकन कर सकना मुश्किल है। तभी कवि दिनकर ने अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करते हुए कहा था —

वैशालीगण का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता
जिसे ढूंढता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता।
रुको एक क्षण पथिक, यहां मिट्टी को शीश नवाओ
राज-सिद्धियों की समाधि पर फूल चढ़ाते जाओ॥

और कवि ने कहा था --

सुना यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार
त्याग दिये थे जिसने जग के भोग-विलास, साज-सिंगार।
जिसके निर्मल जैनधर्म का, देश-देश में हुआ प्रचार
तीर्थंकर जिस महावीर के, यश अब भी गाता संसार।
है पवित्रता भरी हुई, इस विमल भूमि के कण-कण में
मत कह क्या-क्या हुआ, इस वैशाली के आंगन में।

कहा जाता है कि भगवान महावीर ने विश्व को अहिसा का एक अनूठा सिद्धान्त दिया और स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, जीवन चाहता है, इसलिये मनुष्य को भी आचार मे अहिंसा का पालन करना चाहिये। इस युग के महापुरुष विनोबाजी ने एक समय कहा था कि भगवान महावीर के पूर्व मे भी अहिसा का विचार मौजूद था किन्तु भगवान महावीर की सबसे बडी देन 'अनेकात विचार पद्धति' है। इसमे सन्देह नही कि अनेकान्त विचार पद्धति भी एक प्रकार से अहिसा का ही एक अग है, इसे बौद्धिक अहिंसा कहा जाना चाहिये। राजनीति के शब्दो मे यह 'दार्शनिक प्रजातन्त्र' है। जिस प्रकार प्रजातन्त्र मे अपने से भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति की बात मे भी सार ग्रहण करना आवश्यक माना जाता है। उसी प्रकार अनेकान्त दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति अपने से भिन्न विचार रखने वाले के प्रति सहिष्णुता का वर्ताव करता है। इस शताब्दी के महापुरुष पूज्य बापू ने भी सब धर्मों के सार रूप तत्व को ग्रहण करके समन्वय की बात कही थी और 'सर्व धर्म समानत्व' के विचार को अपने आश्रम के ११ व्रतो मे महत्वपूर्ण स्थान दिया था। क्या यह विडम्बना की बात नही है कि भगवान महावीर के अनु-यायी, उनको अपना आदर्श मानने वाले स्वय एकागी दृष्टिकोण से युक्त हैं और सम्पूर्ण जैन समाज कई सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदायो मे विभक्त है। यह

सब कोई जानते हैं कि भगवान महावीर के समय मे नग्न तथा सवस्त्र दोनो प्रकार के साधुजन उनके सघ मे थे, अत यह महत्वहीन है कि हम उस समय के नग्न मुनि को जिनकल्पी कहे या कुछ और ? या सवस्त्र मुनि कितना अल्प वस्त्र का उपयोग करते थे या आज कितना ? तत्व की बात यह है कि आज की भाषा मे दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनो प्रकार के मुनि सघ मे थे । कही कोई ऊँचे नीचे का प्रश्न नही था, किन्तु भगवान् के निर्वाण के पश्चात् इसी आधार पर दो पृथक सम्प्रदायो का निर्माण हो गया । यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बरत्व का प्रश्न केवल साधु मुनि का प्रश्न था, श्रावक तो कोई दिगम्बर (नग्न) रहता ही नही । फिर भी श्रावक दिगम्बरत्व के साये मे आ गया । दुर्भाग्य यही तक नही रहा । गत २००० वर्ष मे यह प्रश्न इतनी गहरी जड जमा गया कि अब हमे जैनत्व की चिंता नही, केवल दिगम्बर, श्वेताम्बरत्व की चिन्ता अधिक है । इसमे सन्देह नही कि दिगम्बरत्व अपरिग्रह की चरमसीमा है, केवल यही नही, कोई पूर्ण रूप से अविकारी हुए बिना दिगम्बर रहने का साहस नही कर सकता । यह भी सच है कि वस्त्र रखने वाले साधुजनो ने वस्त्रो की मात्रा मे यदा-कदा वृद्धि कर ली और अन्य उपकरणो मे भी वद्धि कर ली । प्रश्न यह है कि जिस प्रकार दिगम्बर मुनि 'मूर्च्छा रहित' अन्य उपकरण रखकर भी पूर्ण अपरिग्रही माने जाते है, उसी प्रकार अत्यल्प वस्त्र के धारी साधु को भी 'मूर्च्छा रहित' वस्त्र तथा अन्य उपकरण रखने पर अपरिग्रही क्यो नही माना जा सकता ? दोनो विचारो मे ऐकातिकता है, किन्तु जहाँ हमारे मानस इतने पूर्वाग्रहो से युक्त हो कि हम वस्त्र तथा नग्नता के विवाद की पूर्ति हेतु तीर्थ आदि से सयुक्त करके आपसी मुकद्दमेबाजी मे उलझे । समय और शक्ति का अपार व्यय किया । अहिंसक होने के बावजूद तीर्थो के विवाद मे हत्याएँ हुई । उस विपरीत दशा मे 'अनेकान्ती दृष्टिकोण' अपनाकर एक दूसरे का समन्वय कर सकेंगे, इसकी आशा कम ही है । इस सारे लम्बे काल मे समय-समय पर ऐसे सज्जन भी हुए कि जिन्होने मतभेद की खाई को अधिक चौडा किया । कहाँ-कहाँ मतभेद है, इसकी लम्बी सूची बनी । किन्तु समान विचार कहाँ-कहाँ हैं, इसकी तरफ समाज ने कम ध्यान दिया । मैं जानता हूँ कि कुछ जैनाचार्य अतीत मे ऐसे समन्वयवादी दृष्टि सम्पन्न हुए है और उन्होने अपनी रचनाओ द्वारा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की आलोचना करके तीखे व्यग तक किये है किन्तु समाज ने उनके बहुमूल्य विचारो को अधिक महत्व नही दिया, न उस पर अमल किया परिणामस्वरूप समाज अपनी साम्प्रदायिकता का ही शिकार रहा । इसमे आगे का इतिहास और दु खद है कि जिसमे श्वेताम्बरत्व के अन्तर्गत देरावासी, स्थानकवासी, तेरहपथी की

स्थापना हुई । इन सबके भीतर भी छोटे-छोटे प्रश्नो पर पृथक-पृथक दल बने । दिगम्बरत्व के भीतर तेरहपथी, बीसपथी-तारणपथी आदि । इस लेख का उद्देश्य इन उप-सम्प्रदायो का विशद् विवेचन करना नही है । इसके लिये तो पृथक् रूप से स्वतन्त्र लेख आवश्यक है, किन्तु इस लेख का उद्देश्य यह है कि क्या आज ऐसा उपयुक्त समय नही आ गया है, जब भगवान महावीर के समस्त अनुयायी इन मूलभूत प्रश्नो पर सोचकर एक ऐसा रास्ता चुनें कि सब अपनी अपनी मान्यता को अक्षुण्ण रखते हुए सारी सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय या दल भिन्न-भिन्न रुचि एव विचार वैभिन्य के परिणाम हैं, यह मानकर सह अस्तित्व का मार्ग चुनें । दूसरे शब्दो मे हम एक दूसरे को मिथ्यात्वी न कहकर अपने से भिन्न विचार रखने वाले मे भी आशिक सत्य है तथा वह भी भगवान महावीर का उतने अशो मे ही अनुयायी है कि जितने अश मे हम, यह स्वीकार करे । तात्पर्य यह है कि मानसिक कटुता समाप्त हो, कषाय से मुक्त हों, जैसा कि एक प्राचीन जैनाचार्य ने कहा था --

नश्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे
न तत्ववादे न च तर्कवादे ।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।।

यदि उपरोक्त परिस्थिति का निर्माण हो गया तो कालान्तर मे जाकर हम इस योग्य हो सकेंगे कि हम सारे मत-भेदो पर पूर्वाग्रह से मुक्त निष्पक्ष भाव से विचार कर सके और समन्वय का मार्ग अपना सकें और यह भगवान महावीर के प्रति हमारी विनम्र किन्तु महत्वपूर्ण और वास्तविक श्रद्धाजली होगी ।

भगवान महावीर का २५००वा निर्वाण शताब्दी महोत्सव सन् १९७४ के नवम्बर से एक वर्ष (नवम्बर ७५) तक मनाया जावेगा तथा उसे शताब्दी वर्ष कहा जावेगा । जहाँ तक मुझे स्मरण है निर्वाण शताब्दी की चर्चा लगभग ७, ८ वर्ष से चल रही है । विभिन्न कार्यक्रम बनाये जा रहे है । केन्द्रीय शासन तथा कई राज्य शासन अपने-अपने क्षेत्र मे समिति की स्थापना करके कार्यक्रम पर विचार कर रहे है । यदि अखिल जैन समाज उपरोक्त विचार सारिणी के अनुरूप कोई योजना बनाकर "अनेकान्त आश्रम" का निर्माण करें जहाँ जैन दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय एव दलो से सम्बन्धित साहित्य लेकर समन्वयात्मक साहित्य का निर्माण कराया जावे कि जिससे एक दूसरे के निकट

आया जा सके। कहा जाता है कि किसी समय जैन समाज मे एक "यापनीय सघ" था कि जिसकी कुछ मान्यता श्वेताम्बरत्व के अनुरूप तथा कुछ मान्यता दिगम्बरत्व के अनुकूल थी। आज उसका विस्तृत साहित्य उपलब्ध नहीं है किन्तु इस दिशा मे विद्वानो से खोज कराकर समन्वय के लिये मार्ग प्रशस्त किया जा सके तो हम भगवान महावीर के निर्दिष्ट पथ पर चलने का एक विनम्र प्रयास कर रहे है ऐसा, कहा जा सकेगा।

★

११

श्रमण-संस्कृति के दो महापुरुष

सृष्टि का यह नियम है कि जब धर्म के मार्ग मे विकृति उत्पन्न हो जाती है तो उसकी (यानी नियम, धर्म की) आत्मा का नाश होकर वह कोरा अस्थि-पजर रह जाता है। ऐसे समय मे धर्म के मार्ग-दर्शन के हेतु कोई अन्य महापुरुष जन्म लेता है। इस प्रकार जैन ग्रन्थो के अनुसार वर्तमान युग (जो पारिभाषिक शब्दो मे "अवसर्पिणी" से प्रारम्भ होना कथित किया गया है) के प्रथम महापुरुष "ऋषभदेव" द्वारा प्ररूपित आत्मोन्नति का मार्ग शिथिल हो गया तब उस के पश्चात एक महापुरुष के कार्य को दूसरे ने पूर्ण किया। इस प्रकार वर्तमान युग के २३ वें महापुरुष "पार्श्वनाथ" थे जिन्होने मनुष्य की आत्मा को सुसस्कृत बनाने का कार्य किया। यदि हम इतिहास का अध्ययन करें तो इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि आज से ३००० वर्ष पूर्व इस प्रकार की स्थिति हो गई थी कि मानव समाज अपने उद्धारक की खोज मे था। इस समय अपने देश मे यज्ञ यागादि कर्म काड प्रचलित था। धर्म के नाम पर हिंसाए की जाती थी—और उसे हिंसा नही माना जाता था। उस युग मे ब्राह्मण श्रेष्ठ समझा जाता था। स्त्री तथा शूद्रो को धर्मग्रन्थो के पठन-पाठन का अधिकार नही था। दास-प्रथा प्रचलित थी तथा अन्य वस्तुओ की भाति दासविक्रय किया जाता था तात्पर्य यह कि धर्म केवल रूढि का अपर नाम था। मनुष्य की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता स्पष्ट थी। इस युग मे ब्राह्मण सस्कृति की प्रधानता थी जो केवल वेद को ही प्रमाण मानकर वेद के नाम पर कथित व्यवस्था करते थे।

वेद-कालीन ऋषि मुनि मत्रो के द्वारा भौतिक साधनो की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते थे। मनुष्य की भूख ऐसे भौतिक साधनो से तृप्त नही होती थी। उसे तो कुछ अन्य चाहिये था। इसके पश्चात कुछ प्रगति हुई। आध्यात्मिकता का आयोजन "उपनिषदो" से हुआ परन्तु उस समय प्रवृत्तिप्रधान मार्ग ही

जीवन का लक्ष्य था। कितने ही तपस्वी वन मे जाकर कठिन तपस्या करते थे किन्तु वह तपस्या भी अविचार पूर्ण हिंसा से परिपूर्ण थी। यह तो मात्र देह दमन ही था उसमे आध्यात्मिकता का कुछ भी अंश न होता था। इस परिस्थिति के कारण इस मार्ग के उद्धार की आवश्यकता खडी हुई और उसका प्रारम्भ ऋषभदेव ने किया। इसकी वृद्धि इस युग के २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ ने की। इस पृष्ठ भूमि मे २३ वे महापुरुष 'पार्श्वनाथ' का जन्म हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने अपन जीवन मे सनातन शाश्वत सत्य मार्ग को पुन स्थापित किया। इनके निर्वाण के २५० वर्ष पश्चात "वर्धमान" (२४ वें महापुरुष) का जन्म हुआ। वर्धमान का जन्म भी पार्श्वनाथ के अनुयायी एक क्षत्रिय कुल मे चैत्रशुक्ला १३ के दिन हुआ। अनेक वीरता पूर्ण कार्यों के कारण ये "महावीर" कहे गये। वास्तव मे महावीर अपने पूर्व के २३ वें महापुरुष "पार्श्वनाथ" के उत्तराधिकारी बने। आज जो श्रमण सस्कृति दिखाई देती है उसका आरम्भ ऋषभदेव से हुआ परन्तु उसे व्यवस्थित रूप दिया पार्श्वनाथ तथा महावीर ने। पार्श्वनाथ की भाति उन्होने भी धर्म का वास्तविक रूप मनुष्य के समक्ष रखा। उन्होने बताया कि धर्म केवल रूढि नही है धर्म का सबध तो मनुष्य की अर्न्तवृत्ति के साथ है। मनुष्य चाहे जिस कुल, गोत्र जाति मे जन्म ले परन्तु वह अपने कर्म के अनुसार ही ऊँच-नीच होता है। उन्होने जन्मना जाति का घोर विरोध किया था। इसी प्रकार स्त्री तथा शूद्रो के समान अधिकार को स्वीकार किया। दास-दासी के विक्रय का विरोध किया। यज्ञ की व्याख्या को परिवर्तन कर मनुष्य को अपना आत्मयज्ञ कर उसके द्वारा अपनी आत्मशान्ति प्राप्त करने का विचार दिया। अपनी इच्छाओ का निरोध कर निवृत्ति मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की। मात्र देह दमन रूपी तपश्चर्या के स्थान पर आध्यत्मिकता पूर्ण तप के महत्व को स्थान दिया। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणसस्कृति के इस युग मे श्रमण सस्कृति का पुनरुद्धार किया गया। मनुष्य की आध्यात्मिक क्षुधा तृप्त हुई। उसका ध्येय भौतिक साधनो की प्राप्ति अथवा स्वर्ग प्राप्ति न रहकर आत्म कल्याण का हो गया। अपनी आत्मा को सुसस्कृत करते हुए मोक्ष प्राप्ति का ध्येय बनाया गया। अपने देश मे इस समय लगभग ३००० वर्षों से ब्राह्मण तथा श्रमण सस्कृति मनुष्य समाज की आत्मा को सुसस्कृत करने तथा उसको प्रगतिशील बनाने के लिये कार्य कर रही है। ब्राह्मण सस्कृति का मूल आधार वेद हैं ब्राह्मण सस्कृति का उदय "ब्रह्मन्" शब्द से विकसित हुआ। ब्रह्मन शब्द मे स्तुति, यज्ञ याग, प्रधान थे। इधर श्रमण सस्कृति, सम, शम के विचार से सदैव फली फूली। जिस युग मे श्रमण सस्कृति का पुनरुद्धार हो रहा था उस समय एक ओर धर्म की विडम्बना हो रही थी तब दूसरी ओर केवल

विचार हीन तपस्या के द्वारा देह-दमन किया जा रहा था। तीसरी ओर चार्वाक दर्शन के अनुयायी केवल शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति को मनुष्य का ध्येय बताते थे। इसी समय श्रमण सस्कृति के दो महापुरुष का एकही क्षेत्र (विहार) मे जन्म हुआ। वर्धमान ने वेद को अप्रमाण माना और अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। मानव समाज की उन्नति के लिये पार्श्वनाथ के चातुर्याम मे देश-काल के अनुरूप परिवर्तन कर पच महाव्रत-प्रतिपादित किया। सबसे महत्वपूर्ण बात तो उन्होने "अनेकात-सिद्धान्त" द्वारा मनुष्य को सत्याभिमुख करके की। धार्मिक-सहिष्णुता का पाठ सिखाया। वर्धमान ने मनुष्य को स्वय को स्वय का ही निर्माता सिद्ध किया तथा दिखा दिया कि मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकास से ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उन्होने सासारिक आत्माओ के ससार भ्रमण का कारण "कर्म" को बताया तथा सिद्ध किया कि जबतक जीव के साथ शुभाशुभ कर्मों का योग रहेगा तब तक मुक्ति नही मिलेगी। शुभ-अशुभ कर्मों की समाप्ति ही मोक्ष है। उनके समकालीन शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध ने भी वेद को अप्रमाण बताकर चार आर्य सत्य नामक नवीन मार्ग की स्थापना की। जहा भगवान महावीर पूर्व के महा-पुरुषो के विशेषकर पार्श्वनाथ के द्वारा स्थापित मार्ग के उत्तराधिकारी बने वहाँ शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध को अपने पूर्ववर्ती किसी महापुरुष का उत्तराधिकार नही मिला। बौद्ध साहित्य से प्रगट हे कि गौतम बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पूर्व जिन-जिन पथो को अगीकार किया था उनमे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय भी था। यह तो निर्विवाद सत्य है कि "निग्रंथ सम्प्रदाय" ही भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर का अनुयायी सम्प्रदाय था। बुद्ध के पूर्व जीवन के वृत्तात के अध्ययन से मालूम होता है कि चाहे थोडे समय के लिये ही सही, वह पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा मे रहे थे और दूसरे सब पथो को त्याग करके "मध्यम" मार्ग का निरूपण किया। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य को सुसस्कृत बनाने के कार्य मे श्रमणसस्कृति ने जो योग दान दिया है उसमे भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर की भाति ही शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का भी योगदान है।

भगवान महावीर ने धार्मिक-सहिष्णुता के लिये, सत्य की शोध के लिये अनेकात सिद्धान्त को स्वीकार किया। किसी एक वस्तु से विभिन्न दृष्टिकोण की सभावना को स्वीकार करने, एक ही दृष्टिकोण का आग्रह न रखने का निर्णय किया। विरोधी दृष्टिकोण के प्रति अन्याय न होने का यह भी कारण हुआ। मनुष्य जागृति मे किसी सिद्धान्त से जो अमूल्य लाभ हुआ उसके मूल मे अनेकातवाद का यह अपूर्व सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के कारण भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य व गौतम तथा पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण की

चर्चा जिस सुन्दर वातावरण मे हुई और चातुर्याम तथा पचमहाव्रत धर्म का समन्वय हुआ और वह मानव समाज के लिये पथ प्रदर्शक हुआ यह अतिशयोक्ति नही है। इसकी विस्तृत चर्चा उत्तराध्ययन सूत्र मे है परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग के सबध मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण क्यो नही अपनाया गया ? मुझे विश्वास है कि दोनो महापुरुष एक दूसरे से प्रभावित हुये थे। किन्तु दुर्भाग्य वश ऐसा कोई सुअवसर प्राप्त नही हुआ जब दोनो महापुरुष का शुभ मिलन होकर कोई समन्वयात्मक मार्ग निकल सकता। उत्तराध्ययन सूत्र तथा धम्मपद की कितनी ही गाथाएँ तथा उनके विचार समान है। यह इस बात की द्योतक है कि दोनो महापुरुषो के हृदय मे मानव समाज को सुसस्कृत बनाने व उसकी उन्नति करने के लिये कितना उत्साह था। यदि कोई दार्शनिक विद्वान शोध करके कोई समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके तो वास्तव मे मानव समाज उसका अत्यन्त ऋणी रहेगा।

*

छठा आयाम

आचार-मीमांसा

१

आचार; जैनधर्म का अधिष्ठान

मानव जाति के इतिहास मे "धर्म" से अधिक महत्वपूर्ण शब्द का प्रादुर्भाव नही हुआ। "धर्म" शब्द विभिन्न अर्थों का द्योतक है। एक विचारक ने कहा कि धर्म शब्द की अभी तक लगभग १० हजार व्याख्यायें हुई है। किन्तु फिर भी सर्वांगपूर्ण व्याख्या हो चुकी, ऐसा नही माना जा सकता। सच्चाई यह है कि "धर्म" शब्द का अर्थ सदर्भों की पृष्ठभूमि मे लगाया जाना चाहिए। प्रस्तुत स्थान पर "धर्म" से अर्थ, कर्तव्याकर्तव्य अथवा विधि-निषेध के सिद्धान्तो से है।

विश्व मे प्रचलित प्रत्येक "धर्म" का प्राण उसके द्वारा विहित "आचार-पद्धति" है। जैन-धर्म ने भी मानव जाति के लिए आचार सहिता Code of Conduct का निर्माण किया है। यदि हम सूक्ष्मता से इस आचार-पद्धति का विश्लेषण करे, इस पद्धति के निर्माण की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो हमको यह भली भाँति स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि इस प्रकार की पद्धति, नियम निर्माण के पीछे जो भावना रही है उसका उद्देश्य मनुष्य को मानवता का पाठ पढाना, उसे भले बनाने, समाज के उपयोगी बनाने का रहा है। प्रत्येक नियम के पीछे जो भावना काम कर रही है, वही उसकी आत्मा है। नियम की अतरात्मा मुख्य है। नियमो का बाह्य रूप गोण है। यदा-कदा ऐसे प्रसग भी आते हैं, जबकि व्यक्ति बाह्यरूप मे धर्म पालन करता दिखाई देता है। किन्तु उसके पीछे जो पृष्ठभूमि होती है, मानसिक स्थिति जिस प्रकार की होती है, वह निम्न धरातल की होती है। इस कारण जो व्यक्ति केवल बाह्य-रूप को देखता है, वह उसे धर्मात्मा मानता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वह ऐसा नही है। यदा-कदा इसके विपरीत Vice versa होता है। जैसा कि एक विद्वान ने कहा था —

मनसैव कृत पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिगिता कांता, तैनैवालिंगिता सुता॥

वास्तविक रूप मे पाप-पुण्य बध का कारण मानसिक स्थिति अधिक है। इसके बिना पाप बन्ध नही होता। यही कारण है कि जैन साहित्य मे वर्णित श्रीमद् प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के शरीर द्वारा कष्टसाध्य तपस्या करते हुए भी उस क्षण नरकगामी होना बताया गया। जब उनके परिणाम (मानसिक स्थिति) की शुद्धि हुई तब उनको स्वर्गगामी होना प्ररूपित किया गया।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है, धर्म की आत्मा उसके द्वारा विहित आचार-शास्त्र है। यद्यपि प्रचलित प्रत्येक धर्म मे मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य विधिनिषेध का प्रावधान है। जैनधर्म ने तो मानव के आचार धर्म पर अधिक जोर दिया है। एक विद्वान किन्तु चारित्रभ्रष्ट व्यक्ति का जैनधर्म मे महत्व नही है। एक विद्वान ने ठीक ही कहा है—

सरसो विपरीतश्चेत सरसत्व न मुञ्चति।
साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्॥

तात्पर्य यह है कि सरस सच्चरित्र व्यक्ति यदि विपरीत हो जावे तो भी अनिष्ट नही कर सकता। सरस को विपरीत लिखा जाने पर भी सरस ही रहता है। किन्तु साक्षर (विद्वान) विपरीत होने पर राक्षस हो जाता है। चारित्रभ्रष्ट विद्वान एक ऐसा व्यक्ति है, जो पगु है। इस कारण यह स्वाभाविक था कि जैन श्रमण मे चारित्र के प्रति अधिक सजगता रखी जावे। यह भी निर्विवाद है कि जैन आचार-पद्धति का मूल अहिसा है। प्रत्येक यम, नियम-अहिसा के विचार से ओत-प्रोत है। श्रमण वर्ग की आचार के प्रति जागरूकता के कारण नियमो की उत्कृष्टता की ओर अधिक ध्यान रखा गया। एक प्रकार से (Competition) रहा। जो नियम को अधिक सख्ती, सूक्ष्मता से पालन करे, उसे उच्च माना जाने लगा। इस प्रतियोगिता मे परस्पर छोटे-छोटे मतभेद-मतभिन्नता के कारण पृथक् सम्प्रदायो की स्थापना होती रही। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति मे नियमो का बाह्य रूप दृष्टि से अधिक समीप रहा। उसकी भावना, नियमो के पीछे रही भावना, दृष्टिकोण से ओझल होता रही। यही कारण रहा कि Quality के स्थान पर Quantity का महत्व स्थापित होता रहा। एक प्रदेश या प्रात मे विचरण करने वाले मुनिराज के नियम दूसरे प्रदेश मे विचरण करने वाले मुनिराज से कई बातो मे भिन्न होते गए, मान्यता भिन्न होती गई। इस आचार-गत भिन्नता मे सामजस्य, समन्वय का कोई प्रयत्न नही हुआ। कभी-कभी ऐसा विचार होता है कि जैन धर्मान्तर्गत स्याद्वाद अथवा अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग केवल द्रव्यानुयोग तक सीमित रहा है। चरित्रानुयोग उससे एक दम अछूता रहा।

इस मत-भेद, भिन्नमान्यता के कारण इन उपसम्प्रदायों के तथा उनसे सबन्धित मुख्य मुनिराजो मे परस्पर सोहार्द नही रहता था। यदा-कदा आक्षेप-प्रति-आक्षेप से अनुगामी श्रावक वर्ग तक में मनोमालिन्य बढ़ता जा रहा था। इस सारी स्थिति का निराकरण करने के लिये समाज के चिन्तको ने आचार-गत भिन्नता मे समन्वय करने का प्रयत्न किया। स्थानकवासी जैन समाज के इतिहास में एक श्रमण सघ का निर्माण एक ऐतिहासिक अभूतपर्व घटना थी। एक आचार्य, एक विधान, एक समाचारी के साथ "श्रमण सघ हो अविचल निश्चय" का मगलगान होता रहा। किन्तु यह दुख के साथ स्वीकार करना चाहिये कि आचार-गत कई प्रश्नो का निराकरण वर्षों की चर्चा के पश्चात् भी नही किया जा सका। उच्छृखल तथा विलगाव की स्थिति निर्माण हो गई हे, उसका निराकरण श्रमण सघीय विचारक, विद्वान, अधिकारी, मुनियो को करना चाहिये।

इसमे सदेह नही कि जैन धर्म मे विशेषकर स्थानकवासी समाज से सबधित मुनिवरो मे "आचार" के प्रति अधिक आग्रह रहा है। यह उचित भी था तथा है। किन्तु गत वर्षों से यह भय होता है कि कही इस वृत्ति मे स्वय के आचार के प्रति आग्रह के स्थान पर हमारे कई मुनिवरो मे परदोष दर्शन की वृत्ति का आधिक्य तो नही हो रहा है। यह सच है कि जिस मुनि के साथ अधिकार-शक्ति हो, जिन पर श्रमण सघ के मुनिराजो पर अनुशासन रखने, आचार पालन न करने पर प्रायश्चित देने आदि की जिम्मेदारी हो उसको, सब पर अपने आचार के प्रति जागरूकता रखते हुए दूसरो पर कडी नजर रखनी पडती है। किन्तु "कडी नजर" के साथ ही अपर्याप्त, अपुष्ट समाचार, अफवाह के आधार पर प्रकट या गुप्त रूप मे प्रचार किया जावे तो वह अनुचित है। साथ ही आचारगत नियमो के महत्व पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। सदैव "शिथिलाचार" के नाम पर अत्यन्त महत्वहीन नियमो के उल्लघन के कारण श्रमणसघीय मुनिवरो के सम्बन्ध मे प्रचार अनुचित माना जाना चाहिये। इस अनर्गल प्रचार के कारण जहाँ श्रावक-श्राविका वर्ग मे अश्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ अन्य सम्प्रदायो, अन्य धर्मावलबियो मे भी मुनियो के प्रति घृणा का भाव जाग्रत होता है। इस सम्बन्ध मे भी कोई मार्ग निकालना चाहिये।

जब हम अपनी प्राचीन स्थिति का अवलोकन करते हैं तो पता चलता है कि हमारे यहा पर तो सामायिक-प्रतिक्रमण के पाठो मे कई स्थान पर 'निंदामि, गरिहामी, अप्पाण, वोसरामि" का उच्चार करते है। इन शब्दो को केवल

मुख से उच्चारण करने के बजाय हम हृदयगम करके स्वय के दोषदर्शन मे अधिक समय लगावें तो उद्धार हो जावे ।

"जो घट शोधू आपणू , मौ सम बुरा न कौय ।"

मुझे इस समय ईसामसीह के युग की एक घटना स्मरण हो जाती है कि कुछ लोग एक दुराचारिणी महिला को ईसा के सम्मुख लाये ताकि वह उसे दड दे सके । ईसा ने उसको एक-एक पत्थर मारने का दड दिया, किन्तु शर्त यह लगाई कि जो स्वय निरपराध हो वही पत्थर मार सकेगा । परिणाम यह हुआ कि भीड बिखर गई, सब व्यक्ति वहाँ से चले गये । आत्मनिरीक्षण की यह वृत्ति कम होती जा रही है ।

इस वृत्ति मे समाज की सारी शक्ति इसी ओर लग जाती है । अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान नही जाता । जैन समाज के सन्मुख बडे-बडे प्रश्न है । श्रमण सस्कृति के विरोध मे बडी-बडी शक्तियाँ काम कर रही है । श्रमण सस्कृति कमजोर हो रही है । उसकी मान्यता के विरुद्ध शासकीय नीति आज जोर-शोर से कार्य कर रही है । किंतु किसे अवकाश है कि इस ओर ध्यान दे तथा इस स्थिति का निराकरण करे । हम अन्य ही छोटे-छोटे प्रश्नो मे उलझते जा रहे है । जिसमे सारी शक्ति लग जाती है । न समाज मे रचनात्मक कार्य हो पाता है, न श्रमण शक्ति के रक्षण का कार्य हो पाता है । यह युग केवल स्थानकवासी समाज ही के नही, अपितु अन्य सम्प्रदायो के भी आत्मनिरीक्षण का युग है । ताकि महत्व के प्रश्नो को हाथ मे लेकर उनका निराकरण कराया जा सके ।

एक आध्यात्मिक महान् सत आनन्दघन जी ने जैनधर्मान्तर्गत सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, गच्छ, सगाडा, आदि भेद-प्रभेद तथा उनके नाम पर परस्पर मनोमालिन्य अपनी मान्यता का दुराग्रह देखकर एक समय निम्न पद कहा था—

गच्छना बहुभेद नयने निहालता,
तत्वनी बात करता लाज नी आवे ।
उदर भरणादि निज काज करता थका,
मोह नडिया कलिकाल राजे ।।"

उक्त दो पक्तियो मे उस महान सन्त ने साम्प्रदायिक मनोभावना से वेष्ठित साधु समाज के प्रति अपना सात्विक क्रोध बताते हुए मीठा उलाहना दिया है । काश ! हम अन्तर्निरीक्षण करके कोई समन्वयात्मक मार्ग निकाल सके ।

२

हमारा आचार-विचार कैसा हो ?

[पिता का पत्र, पुत्र के नाम]

प्रिय, आशीर्वाद !

तुमको स्मरण होगा कि दि० २५-११-५८ को जब कि तुम इन्दौर मे मिलने आये थे। उस समय भोजनादि के सबन्ध मे तुमसे जो वार्तालाप हुआ उससे मुझे आश्चर्य हुआ। इसमे कोई सन्देह नही कि उक्त प्रश्नो के तुम्हारे उत्तर अविवेकपूर्ण थे, लापरवाही से दिये गये थे। उसमे अशुद्ध आहार के प्रति जो गुस्सा, क्रोध, घृणा होना चाहिये उसका अभाव था। मेरा यह भी विश्वास है कि तुम्हारे हृदय मे उस प्रकार की मान्यता नही है अपितु तुम शुद्ध खानपान, रहन-सहन मे विश्वास करते हो तथा इसीप्रकार रहते हो। मेरा उद्देश्य इस पत्र के द्वारा तुम तक मेरे विचार पहुँचाने का है। मैं कई दिनो से देख रहा हूँ कि कॉलेज जीवन बिताने वाले विद्यार्थी, जिनमे जैन विद्यार्थी भी सम्मिलित है, अशुद्धभोजी विद्यार्थीयो के सहवास के कारण सकोचवश अशुद्ध खानपान मे नही हिचकता है। अपितु सम्मिलित भोजन, जिसमे शुद्ध तथा अशुद्धभोजी हो, मे अपने आपको शुद्धभोजी होने मे लज्जा का अनुभव करते हैं, सम्भव है यह उनकी अल्प सख्या का कारण हो, मेरी यह मान्यता है कि केवल अल्प सख्या मे होने के कारण उन्हें निम्न कोटि का मानने की या लज्जित होने की आवश्यकता नही है। अपितु जिस प्रकार के भोजन को वह सिद्धान्तत: अच्छा समझते हो उस पर आग्रह करना चाहिये, दृढता होनी चाहिये। केवल कोई हमे क्या कहेगा ? इस विचार से अपने विचारो मे कमजोरी लाना अनुचित है।

मेरे मत मे विरुद्ध प्रकार के भोजन करने वालो को शुद्धभोजी व्यक्तियो की भावना का आदर करना चाहिये। किन्तु यदि वे ऐसा नही करते तो न करें। हर बात की नकल उचित नही है। हर बडा आदमी जो काम करता है उसकी

नकल की जाती है, उसी का नाम कुछ लोग आदर्श रख देते हैं। शुद्ध आचार-विचार वाले व्यक्तियो को स्वय भी इस प्रकार का अनुभव करना चाहिये। किसी दिन ऐसा होगा कि, अन्य लोग उसकी नकल करने लगे। मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमारे कुटुम्ब के बालको मे जैन सस्कार की कमी है। इसका कारण यह है कि बालको को जैनसस्कृति की शिक्षा प्राप्त नही हुई और न इस प्रकार का वातावरण मिला कि जिसके कारण बालको के मन मे जैनत्व के सस्कार अँकुरित हो। इसी का यह परिणाम होने वाला है कि कुटुम्ब मे वर्तमान मे जिस परिमाण मे जैन सस्कार है भविष्य मे उसमे काफी कमी होगी, यह आशका मेरी अस्वाभाविक नही है।

मै केवल जैन सस्कार की दृष्टि से ही नही सोचता अपितु भारतीय सस्कृति की दृष्टि से भी सोचा करता हूँ। तुमको स्मरण होगा कि मैने तुमको कई बार "भोजन" शब्द के स्थान पर "खाना" शब्द के प्रयोग पर टोका है। मैं सोचता हूँ कि हमारे बालक भारतीय सस्कृति मे पाले जावे, उनमे जैन सस्कार हो। मेरी इस इच्छा का यह तात्पर्य नही है कि हमारे बालक केवल "प्राचीनता" के कायल हो। सक्षेप मे मेरी यह इच्छा है कि बालको मे उस सीमा तक प्राचीनता की छाप हो जिस सीमा तक अर्वाचीन युग मे आवश्यक हो। मेरे कथन को अधिक स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया जावे तो यह है कि बालक को जो अच्छी अनुकरणीय बात "नवीन" प्रतीत हो उसे अवश्य अपनावे। केवल "प्राचीनता या नवीनता" के नाम से उनके विचार नही। इस दृष्टिकोण से मै प्रत्येक बालक मे निम्न बातें आवश्यक मानता हूँ -

१- तुमको सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि मानव जीवन को कायम रखने के लिये भोजन अति आवश्यक है जिस प्रकार का भोजन किया जावेगा उसी प्रकार के मनुष्य मे विचार होगे।

(१) सात्विक, (२) राजसी और (३) तामसी-- तीन प्रकार के भोजन होते हैं। यदि हम सात्विक आहार करते है तो हमारे विचार भी सात्विक होगें। हमारे विचारो मे दया, करुणा, मैत्री आदि भावनायें जाग्रत होगी। इसके विपरीत राजसी भोजन करने से आलस्य आदि दुर्गुण आवेंगे। इस प्रकार का भोजन भी यदा-कदा क्षम्य हो सकता है। किन्तु तामसी भोजन से हमारे विचारो मे क्रूरता, कठोरता उत्पन्न होगी और दया का अभाव होगा।

हमारी चित्तवृत्ति कैसी हो, इस सम्बन्ध मे जैन आचार्य ने एक श्लोक मे बहुत ही सुन्दर बात कही है।

"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।

तात्पर्य यह है कि हम जीवो के प्रति मैत्री भावना रखे । गुणीजनो को देखकर हमारे हृदय प्रसन्न हो । कष्टप्राप्त जीवो के प्रति हम मे करुणा का सचार हो । जो हम से विपरीत हो उनसे हम माध्यस्थ भाव रखें यह हमारी चित्त-वृत्ति हो, यह मेरी देव से प्रार्थना है ।

(२) तुम जानते हो अशुद्ध आहार प्राणी वध-करके प्राप्त किया जाता है । केवल जैन धर्म ने ही नही अपितु ससार के लगभग प्रत्येक धर्म ने प्राणी हनन करना अनुचित बताया है । हमारी दया, करुणा केवल मनुष्य तक ही सीमित नही होनी चाहियें अपितु प्राणी मात्र तक विस्तृत होनी चाहिये । जैन दर्शन मे "जीवविज्ञान" (प्राणीशास्त्र) पर अत्यधिक सूक्ष्मता से विचार किया गया है । एक कवि ने कहा है—

"नही सताऊँ किसी जीव को नही किसी पर क्रोध करूँ ।
बने जहाँ तक इस जीवन मे औरो का उपकार करूँ ।"

(३) हमे सप्ताह मे कम-से-कम एक बार या पर्व-तिथियो पर एकासना, एक समय भोजन या रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिये, इसके लिये कोई दिन या पर्व नियत कर लेना चाहिये । हमे एकासन की आदत डालना चाहिये इससे "पाचक यत्र" को सप्ताह मे एक बार विश्राम मिल जाता है । हो सके तो मास मे एक बार उपवास करना चाहियें इससे भी "पाचक यत्र" को एक दिन का विश्राम हो जाता है । स्वास्थ्य की दृष्टि से सन्ध्या को सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना आवश्यक है । ताकि शयन से पूर्व ३-४ समय पानी पिया जा सके, और पचन मे सहायता हो । मै जानता हूँ कि आजकल यह नियम प्रति-दिन कठिन है अत सप्ताह मे एक बार तो इसे अवश्य पालन करना चाहिये । प्रातःकाल पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार मनुष्य Break fast लेता है । इस शब्द के पीछे भी यही रहस्य था कि रात्रि भर का fast कर लिया जावे । प्रात काल break किया जावे । If you have not observe fast in the night, how you are entitled to take break fast सम्भवत महाभारत मे इसलिये कवि ने कहा है—

मृते स्वजनगोत्रे पि सूतक जायते किल ।
अस्तगते दिवानाथे भोजन क्रियते कथम् ।

यदि कुटुम्ब मे कोई मृत्यु हो जाती है तो मनुष्य सूतक पालता है । फिर सूर्य के अस्त हो जाने पर मनुष्य भोजन कैसे करता है, यह आश्चर्य की बात है । हमे रात्रि को जल्दी सोना चाहिये और जल्दी प्रात काल शय्या त्याग करना चाहिये । रात्रि को अधिक देर तक जागरण, उसके परिणामस्वरूप प्रात काल सूर्योदय के पश्चात् शय्या त्याग करना रोग को जन्म देता है । अपचन,

कब्ज आदि पेट सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते है। वैसे भी प्रात काल मे सूर्योदय का दृश्य कितना सुन्दर तथा लुभावना होता है। प्रात काल सूर्योदय से पूर्व शय्या त्याग से ही दिन भर का कार्यक्रम ठीक समय पर पूरा होता है और उसी के परिणामस्वरूप रात्रि को जल्दी सो सकते है, अन्यथा नही। अँग्रेजी मे भी एक विद्वान ने ठीक ही कहा था Early to sleep and early to rise. Makes a man healthy, wealtby and wise

(५) प्रातःकाल शय्या त्याग के पश्चात् शौच, मुखमार्जन से निवृत्त होकर कुछ समय प्रार्थना करनी चाहिये। इसके लिये प्रारम्भ मे "मेरी भावना" पुस्तक उपयोगी है। सरल भाषा हिन्दी पद्य मे प्रार्थना से मन निर्मल होता है, विचारो मे शुद्धता आती है। प्रार्थना का तात्पर्य गुणी जनो का आदर्श जीवन अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न है।

(६) प्रतिदिन प्रार्थना के समय मनुष्य को कुछ-न-कुछ उस दिन के लिये नियम से ले लेना चाहिये। अगर किसी प्रकार के विकार त्याग के नियम लिये जावें तो बहुत ही अच्छा है। मनुष्य के जीवन मे त्याग का महत्व है नियम को ही हम ब्रत-प्रत्याख्यान कहते है। जिस व्यक्ति का किसी प्रकार का ब्रत नियम नही होता वह बिना लगाम का व्यक्ति होता है। यदि हम खान-पान मे उस दिन अपनी इच्छा पर नियन्त्रण करना चाहते हो तो उस प्रकार नियम लेना चाहिये। ब्रत, प्रत्याख्यान से मनुष्य अपनी इच्छाओ को नियन्त्रित करता है। यह हमारे जीवन का एक अग होना चाहिये।

(७) यह नियम बना लेना चाहिये कि शौच, मुखमार्जन के पूर्व कोई वस्तु न खाई जावे। आजकल पश्चिम का अन्धानुकरण करने वाले लोग Bed tea लेते है। यह अत्यन्त हानिकारक है। उमसे भी प्रात काल शौच मुख-मार्जन के पूर्व tea ली जाना और भी हानिकारक है। इसके अतिरिक्त सफाई के नियम के अनुसार मुख मार्जन, शौच के पूर्व कोई वस्तु लेना अनुचित है मै विनोद मे कहा करता हू कि मनुष्य यदि चाय लेना अनिवार्य समझता है तो उसे Good tea लेना चाहिये Bad tea लेना तो सर्वथा अनुचित है।

Bad tea will creat bad taste in yonr life

(८) इसी प्रकार वस्त्रों के सम्बन्ध के प्रश्न मे हमे इस प्रकार के वस्त्र परिधान करने चाहिये जो कि हमारी दैनिक चर्या तथा दैनिक कर्तव्य की पूर्ति मे सहायक हो। मनुष्य वस्त्र सर्दी, गर्मी, प्रतिकूल ऋतु मे शरीर के सरक्षण हेतु पहनता है। साथ ही यह सभ्यता का एक अग है। इसलिये वस्त्र सुन्दर हो। और ठीक सलीके से पहिने जावें तो अधिक कीमती वस्त्र न हो तब भी सुन्दर

लगते हैं। वेष-भूषा जहाँ तक दैनिक कार्यों तथा कर्तव्य पालन मे बाधक न हो वहाँ तक भारतीय वेष भूषा ही उचित है। आजकल लोग पश्चिम की नकल करके गर्मी के दिनो मे भी गरम सूट पहिनते हैं, यह पश्चिम का अन्धानुकरण करते हैं जो हास्यप्रद है। इसी प्रकार भारतीय वेष-भूषा के कारण किसी के हृदय मे निम्न भावना नही होनी चाहिये। मध्य भारत निर्माण के समय मैंने एक सज्जन को जिन्होने केवल "नीम आस्तीन" पहनकर कमरे मे बैठे होने के कारण विनोद मे आपत्ति की थी। कहा था कि वास्तव मे पाश्चात्य सभ्यता द्वारा आविष्कृत "बुश शर्ट" या "बुश कोट" भारतीय सभ्यता द्वारा अंगीकृत "निमास्तीन" की नकल है। निमास्तीन का अर्थ आधी बाँह का कपडा होता है। तुम उसे Half Sleaves होने के कारण "बुश शर्ट" या "बुश कोट" कहते हो।

यह बात तो प्रारम्भिक है। इनका पालन तो अत्यन्त आवश्यक है। यदि तुमने इन बातो मे रस लिया तो फिर और कभी आगे बातें लिखूँगा। मेरी अपनी भी कुछ कमजोरी है। कई बातो का मैं स्वय पालन नहीं कर पाता हूँ। जिनमे रात्रि भोजन त्याग भी है। मैं उसे अपनी कमजोरी मानता हूँ और उसके लिये शर्मिन्दा हूँ। और प्रयत्न कर रहा हूँ कि इनका पूर्ण पालन करूं।

३

सामिष एवं निरामिष भोजन का प्रश्न और हम

प्रत्येक भारतवासी यह भलीभाँति जानता है कि विदेशी शासन से भारतवर्ष की मुक्ति अहिंसा तथा सत्य के मार्ग पर चलने से ही हुई है। भारत के संत 'महात्मा गांधी' ने राजनैतिक लक्ष प्राप्ति के हेतु 'अहिंसा तथा सत्य' का प्रयोग इस देश में किया और उन्होंने भारतीयों में असहकार, सक्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह आदि द्वारा निर्भयता का संचार किया तथा अपने न्यायोचित अधिकार प्राप्ति के लिये बेचैनी पैदा की। हालांकि भारतीय प्राचीन इतिहास में भी इस प्रकार के प्रयोग के कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं थे फिर भी संत हृदय गांधीजी ने आत्म-विश्वास के साथ इस प्रकार का प्रयोग करना तय किया और उन्हें सफलता मिली। इस कारण भारतीय विशेषकर अहिंसक समाज (ऐसा समाज जिसे अहिंसा तथा उसकी शक्ति में विश्वास था चाहे वह वैष्णव हो, जैन हो, ईसाई, पारसी हो) में इस प्रकार की आकांक्षा स्वाभाविक थी कि भारतवर्ष का केन्द्रीय तथा विभिन्न राज्यों का शासन देश में अहिंसक वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न करेगा। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य शासन की ओर से इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसके विपरीत केन्द्र तथा राज्य शासन की ओर से जो भी कार्य अभी तक हुये हैं, उन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट गोचर होता है कि शासन की नीति हिंसा को प्रोत्साहन देने की है। मुझे एक घटना का स्मरण आता है, जब राज्य शासन के एक मंत्री महोदय ने लेखक के इस सम्बन्ध के उपालम्भ का उत्तर अपने भाषण में देते हुये बताया था कि शासन अहिंसक वातावरण को निर्माण करने के लिये उपदेशक का कार्य नहीं कर सकता। वास्तव में यह धारणा भ्रम पर आधारित है। प्रजातंत्रीय पद्धति में मंत्रीगण प्रजा के नेता माने जाते हैं, इस कारण शासन में जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले नेतृत्व का यह कर्तव्य है कि वह जिस दिशा में अपने देश को ले जाना

चाहता है, मार्गदर्शक का कार्य करे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शासन द्वारा अपनाई गई नीति से यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि शासन देश को हिंसा के मार्ग पर ले जाना चाहता है और उसकी ओर से निर्मित वातावरण मे अहिंसकता का अभाव है। ऐसी दशा मे देश मे सात्विक वातावरण के निर्माण की आशा करना गलत है। आज हमारे देश के नागरिको मे सहनशीलता का अभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साधारण-से साधारण बात पर मतभेद उत्पन्न होकर एकदम इतने तीव्र हो जाते हैं कि शान्ति भग हो जाती है। प्रजातन्त्र के सफल होने की पहली सीढी ही यह है कि देश के नागरिको मे इतना सयम हो कि वे अपनी उचित बात को भी मनवाने के लिये अनुचित तरीके का (हिंसा का) उपयोग नही करें। चाहे उन्हे इस तरीके से कार्य करने मे कितने ही कष्ट भोगना पडे या कितनी ही अधिक देरी का सामना करना पडे। आज इस बात से इन्कार करना वास्तविकता से इन्कार करना होगा कि देश मे सहनशीलता की बहुत कमी आती जा रही है। परिणाम यह है कि एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ वैसा अच्छा सम्बन्ध नही है जैसा कि चाहिये था। इस बात को समझने के लिये मालिक व नौकर के आपसी सम्बन्धो, छात्रो शिक्षको के आपसी सम्बन्धो राजनैतिक दलो मे कार्य करने वाले एक दल के लोगो के आपसी सम्बन्ध की वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डाली जा सकती है।

यह कहने की आवश्यकता नही कि केवल भौतिक उन्नति ही जीवन को वास्तविक सुख व आनन्द देने मे समर्थ नही हो सकती है। भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है कहा जाता है इसमे मनुष्य की भूख अध्यात्मिकता से जाती है। ऐसी दशा मे भारतवर्ष के केन्द्रीय तथा राज्य शासन की ओर से विदेशी मुद्रा अर्जित करने के हेतु हिंसा के व्यापार को प्रारम्भ तथा उसको प्रोत्साहन दिया जाना अत्यन्त आश्चर्य तथा खेदजनक है। कहा जाता है कि इस व्यापार से देशवासियो का जीवन यापन का स्तर Stanard of Living मे प्रगति होती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है इस देश के जीवन यापन के स्तर मे प्रगति की आवश्यकता है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह कार्य केवल "हिंसक" व्यापार के अतिरिक्त किसी और प्रकार से सभव नही रह गया है? मै नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि 'जीवन यापन तथा प्रगति' के कई मार्ग हैं जिन पर हमारे केन्द्र तथा राज्य शासन का ध्यान ही नही गया है। शासन की इस नीति के परिणाम स्वरूप जहाँ देश मे सात्विक जीवन का अभाव होता जा रहा है, मनुष्य की सहनशीलता कम होती जारही है वहा नागरिको मे चमडे की वस्तुओ के अनियमित उपयोग की वृत्ति वृद्धि पर है। जिस वस्तु का निर्माण चमडे के अतिरिक्त

अन्य रीति से हुआ है वह सुन्दर तथा टिकाऊ होने के बावजूद हमारे आकर्षण की वस्तु नही होती। हम 'चर्म निर्मित वस्तु' की माग करते हैं। पाठक भली-भाँति जानते है कि कुछ वस्तु जीवित पशुओ को मारकर उत्पन्न चमडे से निर्माण की जाती है और वह अधिक मुलायम होती है तथा 'फैशन परस्त' लोग उसकी अधिक माग करते है, देश मे 'सामिष आहार' का रिवाज बढता जा रहा है। इसमे दो मत नही हो सकते कि 'मामिष आहार' सात्विक नही होता। भारतीय प्राचीन ग्रन्थो मे तो तामसी, राजसी भोजन वर्ज्य बताये जाकर केवल सात्विक आहार को प्रमुखता दी गई है किन्तु भारतीय शासन तथा उसके प्रमुख नेतागण अपने व्यवहार से ऐसा उदाहरण उपस्थित नही कर सके कि जिससे नागरिको मे सादगी का वातावरण का निर्माण होता और चर्म-निर्मित वस्तुओ के उपयोग को प्रोत्साहन न मिलता किन्तु शासन का ध्यान सभवत सादगी पर नही टिकता। इसी प्रकार सामिष भोजन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। अन्न की कमी का बहाना बताकर सामिष भोजन तथा मत्स्योद्योग प्रोत्साहन का कार्य शासन एक उपदेशक के रूप मे करता रहा है। देश की धर्म-प्राण जनता चाहती है कि यदि शासन 'शाकाहारी उपदेशक' होना पसन्द नही कर सकता तो मौन साधे किन्तु वह 'मासाहारी उपदेशक' तो न बने। इस दृष्टि से हमारे केन्द्रीय शासन के एक भतपूर्व मत्री के विभाग द्वारा प्रचारित परिपत्र द्वारा जनता को जो परामर्श दिया गया था वह अहिंसक समाज के हृदय को काफी आघात पहुचाने वाला था। अहिंसक समाज से 'कर' के रूप मे प्राप्त आय का इस प्रकार 'मासाहार तथा मत्स्य भोजन प्रचार' मे दुरुपयोग किया जाना अनुचित है। इसी सदर्भ मे एक राज्य के मुख्यमत्री तथा मध्यप्रदेश राज्य के एक मत्री के ताजे वक्तव्यो से भारतीयो के हृदय को काफी ठेस पहुँचती है। ऐसा ज्ञात होता है कि शायद जनता के इन तथाकथित नेतागण ने मासाहार तथा मत्स्य-भोजन प्रचार का कार्य अपने जीवन का उच्चतम ध्येय बना लिया है।

मुझे एक घटना का स्मरण आता है जिसने मुझे सोचने के लिये पर्याप्त अवसर दिया। सन् १९५४ मे शिमला मे अखिल भारतीय स्वायत्त शासन मत्रीगण की एक Conference आयोजित की गई थी। मै पूर्व म० भा० के स्वायत्त शासन मत्री के रूप मे उक्त सम्मेलन मे सम्मिलित हुआ, वहाँ पर एक दिन शासकीय भोज मे निमत्रण जारी किया गया कि जिसमे निमित्रितो को एक सूचना दी गई थी कि यदि वह शाकाहारी हो तो सूचित करें ताकि विशेष व्यवस्था की जाये। प्रश्न यह है कि भारतीय शासन भारतीयो शाकाहारी मानता है या मासाहारी। मेरे अनुमान से हिमाचल प्रदेश का शासन

भारतवासियो को मासाहारी मानता है। As a rule वह मासाहार की व्यवस्था आवश्यक मानता है, अपवाद के रूप मे शाकाहार की व्यवस्था करना चाहते हैं जबकि स्थिति इसके विपरीत है। मैं यह अनुभव करता हूं कि हम जार्ज बर्नाड शा के कथन को स्मरण करने मनुष्य के पेट को पशुओ की कब्र बनने से रोकें।

४

श्रावक वर्ग की आचार-संहिता का प्रश्न

जिस प्रकार हम साधु, मुनिराजो, के लिए देश, काल, द्रव्य क्षेत्र को दृष्टि -गत रखते हुए, आचार संहिता, निर्माण करने तथा उसके पालन करने पर बल दे रहे हैं, उसी प्रकार क्या श्रावक, श्राविकाँओ के लिये न्यूनतम आचार-संहिता निर्माण तथा उसके पालन करने पर बल देने की आवश्यकता नही है। जब मैं यह अनुभव करता हूँ कि श्रमण सघ से रूठे हुए साधु, मुनिराज तथा उनके अनुयायी श्रावक समुदाय श्रमण सघ मे सम्मिलित साधु मुनिराज के छोटे-छोटे दोषो को बताकर शिथिलाचार का प्रचार करते है तब ही मेरे मन मे एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित होता है कि क्या इस प्रकार का आलोचक श्रावक समुदाय भगवान महावीर द्वारा अपेक्षित श्रावक गुण सम्पन्न श्रावक है? अथवा जैनशास्त्रो मे अपेक्षित साधु मुनिराज के माता पिता जैसा व्यवहार करके उनको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर रहे है? इसमे सन्देह नही कि जिन साधु मुनिराज के आचार की आलोचना की जाती है उनको इस बात से कोई सरोकार नही होना चाहिये कि आलोचक का आचार क्या है? यदि उनमें वास्तव मे दोष है तो उसको खुले दिल से स्वीकार कर प्रायश्चित ले लेना चाहिये किन्तु इस प्रसग मे मेरे मन मे जो उप-प्रश्न उठता है वह यह कि हमारे मित्रो की उक्त आलोचना का प्रभाव क्यो नही हो पाता? जैन-धर्म का प्रत्येक अनुयायी जानता है कि हमारी वाणी मे तब ही प्रभाव होगा जब हमारा व्यवहार उत्तम हो, हमारे कौल फैल मे कोई अन्तर न हो। हमारे वाणी तथा कर्म मे सामन्जस्य हो। तात्पर्य यह कि हम को अपनी वाणी को प्रभावशाली बनाने के लिए हमारा आचार उसी प्रकार का हो जिस प्रकार के आचार की अपेक्षा हमसे की गई है। इसी दशा मे हमारी आलोचना केवल किसी को नीचा गिराने, बदनाम करने के लिये न होकर गोपनीय रूप से सुधार

करने के लिये होगी और हम माता-पिता के रूप मे साधु मुनिराज को सन्मार्ग पर लाने के लिये सफल हो सकेंगे। इस पृष्ठभूमि मे मेरे मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि श्रावकोचित आचार-संहिता का निर्माण हो, उसमे अल्पतम अपेक्षित नियमो का समावेश हो, उसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का लिहाज रख कर युगानुकूल विचारो का भी प्रतिनिधित्व हो तथा उसके पालन पर बल दिया जावे। इस सम्बन्ध मैं मैंने अजमेर सम्मेलन के समय आयोजित सभाओ मे अपने विचार व्यक्त किये उन विचारो को गुजराती जैन प्रकाश तथा मुम्बई समाचार (गुजराती) ने काफी Response दिया।

भगवान महावीर की स्तुति करते हुए श्रीमद् नदीसूत्र के प्रारम्भ मे उन्हे "जीव-योनि-विज्ञाता" कहा गया है। उन्होने विश्व की समस्त जीव योनियो मे—"मनुष्य जीवन" अत्यन्त दुर्लभ, महत्वपूर्ण निरूपित किया साथ ही उन्होने यह भी निरूपित किया कि समस्त चराचर विश्व मे मोक्ष का अधिकारी मनुष्य ही है, देवता भी अधिकारी नही है जब तक वह मनुष्य जन्म धारण न करे। उस समय का युग-'देव-वाद' से आवेष्टित था। उन्होने मनुष्य की प्रतिष्ठा प्रस्थापित की तथा यह प्ररूपित किया कि व्रत सयम की आराधना मनुष्य कर सकता है इसलिये मनुष्य-योनि से ही मोक्ष सम्भव है। यह निश्चित तथ्य है कि केवल मनुष्य योनि की प्राप्ति पर्याप्त नही है उसमे व्रत-सयम आवश्यक है और तभी उस मनुष्य मे "मनुष्यता" आ सकती है। भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था—

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्त, सुई, सद्धा, सजमंमि य वीरिय॥

उपरोक्त गाथा के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि मनुष्य तथा मनुष्यता मे अन्तर है केवल मनुष्य-योनि पर्याप्त नही है। अपितु उसमे "मनुष्यता" आवश्यक है। तात्पर्य यह कि मनुष्य मे मनुष्यता तब आ सकेगी जब वह व्रत, यम, नियम, सयम का आराधक हो। मनुष्य तथा पशु मे यही अन्तर बताया गया है कि मनुष्य जिसमे ज्ञान, सद्-असद् विवेक मनन की शक्ति प्राप्त हो और वह मनन चिन्तन के द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय का निर्णय करे। स्वय का जीवन दूसरो को क्षति पहुँचाये बिना, मर्यादित रूप मे व्यतीत कर सके। पशु जीवन इन बातो से अनभिज्ञ माना गया है। "मननात् इति मनुष्यः" मनुष्य तथा पशु जीवन का अन्तर बताते हुए भारतीय विचारको ने बताया था—

आहार-निद्रा-भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मोहि तेषा अधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समाना ।।

पुनः

येषां न विद्या न तपो न दानम्, ज्ञान न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मृत्युलोके भूमि-भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

पाश्चात्य विचारको ने मनुष्य के बंधन रहित, अमर्यादित जीवन को अनुचित बताया है । बन्धन रहित, अमर्यादित जीवन मे पतन अवश्यम्भावी है । इस प्रकार के जीवन मे मनुष्य दूसरे के अधिकारो का रक्षण नही कर सकता, परिणामस्वरूप सघर्ष होगा,अशान्ति फैलेगी इसी कारण मनुष्य को अपना जीवन व्यतीत करने के लिए स्वय अथवा समाज शासन द्वारा विचारको द्वारा निर्मित नियमो का पालन करना होगा । मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त है उसकी पूर्ति मनुष्य अपना लक्ष बनाले तो उसके एक नही अनेको जीवन समाप्त हो जावे तो भी पूर्ति नही हो सकेगी, इच्छाओ को आकाश के समान अनन्त बताया गया है इसलिए भारतीय ऋषि ने स्पष्ट उपदेश दिया कि—

आत्मन प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य मे मनुष्यता लाने के लिये यम, नियम-व्रत, सयम अत्यन्त आवश्यक है तभी मनुष्य मे मनुष्यता आवेगी । इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भगवान महावीर ने गृहस्थ धर्म का निरूपण करते हुए श्रावको को ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत, इस प्रकार १२ व्रतो का विधान किया । इनमे से ५ अणुव्रत, साधु मुनिराज के लिये निरूपित ५ महाव्रत का सरलीकरण है । व्रतधारी श्रावक से अधिक सुसस्कृत आत्मा प्रतिमाधारी श्रावको का विधान किया गया । यही नही । अपितु इन नियमो का पालन करने मे सहायक श्रावको के २१ गुण का निर्देश किया गया इस सारे प्रावधान पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने मनुष्य मे मनुष्यता लाने तथा साधारण जन को जैन दीक्षित करने तथा जैन को श्रावक जैसा परिमित साधु जीवन बिताने वाले व्यक्ति की कोटि मे लाने का प्रयास किया था । वास्तव मे जिस प्रकार केवल मनुष्य से 'मनुष्यतासम्पन्न-व्यक्ति विशेष उच्च कोटि का होता है उसी प्रकार केवल 'जन' से जैन तथा केवल 'जैन' से 'श्रावक' उच्चकोटि का होता है,उससे भी उच्च सुसस्कृत आत्मा प्रतिमाधारी श्रावक होता है । भगवान महावीर ने आत्मा के गुण विकासक्रम का जो प्रावधान किया है उसमे १४ श्रेणिया बताई गई हैं । इस प्रकार मानव आत्मा विकास करते-करते अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकती है । बाद मे जैन-

आचार्यों ने मनुष्य को भला बनाने मे सहायक अन्य कुछ गुणो का निर्देश किया है जिन्हे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहा जाता है। मैं जहाँ तक समझता हूँ श्रावको के उपरोक्त २१ गुण या मार्गानुसारी के ३५ गुण जैन अथवा श्रावक के व्रतो को दृढता से पालन करने मे सहायक होने के लिये निर्मित किये है। साधारण 'जन' से 'जैन' मे कुछ अधिक गुणो का विकास होना चाहिए जैसा कि 'जैन' शब्द पर दो मात्राओ के विद्यमान होने से परिलक्षित होता है।

किन्तु आज की समस्या मुख्य यह हैं कि क्या हम जैन कहलाने वाले कुटुम्ब मे 'जैन सस्कार' भी विद्यमान है या नही ? दूसरे शब्दो मे हम अथवा हमारे कुटुम्ब के सदस्यो मे मार्गानुसारी के गुण भी विद्यमान है या नही ? जब मै इस बात पर विचार करता हूँ तो मुझे बडी निराशा होती है। बारह व्रत धारी श्रावक अथवा प्रतिमाधारी श्रावक की तो उच्चस्थिति है, किन्तु उसी भूमिका के रूप मे अपेक्षित सद्‌गुण (जिसे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहे जा सकते है) भी हम अथवा हमारे जैन कुटुम्बो मे विद्यमान नही है ? जैन आचार सहिता (चाहे वह श्रमणो की हो चाहे वह श्रावक की हो)का मूल अथवा हृदय 'विवेक' है। आचार सहिता का यदि सक्षिप्त मे वर्णन किया जावे तो'विवेक' शब्द मे समाविष्ट हो सकता है। पाठक भली भाँति जानते है कि जैन आचार अहिसा' पर आश्रित है,उसका सारा महल 'अहिसा' की भित्ती पर खडा किया गया है,'अहिसा' का एकान्त पक्षपाती सम्भवत 'निवृत्ति' का समर्थक होगा किन्तु जैनाचार्यो ने 'अहिसा' का पूर्ण समर्थन करते हुए भी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो का विधान किया है। केवल 'विवेक' एक अनिवार्य बन्धन रखा है जैसे कि श्रीमद्-दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया है'—

जयं चरे, जय चिट्ठे, जयमासे जय सये।
जयं भुंजंतो, भासंतो, पावकम्म न बधई॥

तात्पर्य यह है कि पूर्वाचार्यों ने विवेक (यत्न) को महत्वपूर्ण बताया है। यत्न पूर्वक (विवेक सहित) प्रवृत्ति के पाप बन्धन न होने का आश्वासन दिया है, सक्षिप्त मे 'विवेगे धम्ममाहिये' विवेक मे ही धर्म का समावेश है। यदि आज हम भारतीय जन समूह के जीवन तथा उसके प्रति दृष्टिकोण पर विचार करते है तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसमे विवेक का स्थान बहुत अल्प मात्रा मे है। यदि आप किसी Water Pipe को सार्वजनिक उपयोग के लिये सार्वजनिक स्थान पर लगा हो, के निकट अवलोकन करें तो जो व्यक्ति उसका उपयोग कर लेता है उसको बन्द करके जाने का कष्ट नही करता है। इसी प्रकार किसी शासकीय कार्यालय अथवा मत्रीगण के शासकीय निवासगृह,

(जहा बिजली का चार्ज स्वय उपभोक्ता को नही देना पडता) मे पखे अविरल रूप से चलते हुए देखे जा सकते हैं। कार्यालय का चपरासी अथवा निवासगृह का उपभोक्ता कमरे से बाहर जाते समय Switch बन्द करने का कष्ट नही करता। बाते बहुत छोटी है किन्तु उसके पीछे जो विचार भूमिका है वह काफी महत्व रखती है। आज हमारे भारतीय समाज के युवक-युवतियो मे 'तग पोशाक' की धुन काफी प्रगति पर है। यदि यह कहा जावे कि उक्त फैशन को अपनाने मे युवक-युवतिया पागल होते जा रहे ह तो अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकार यदि आप प्रस्रवन। पेशाब करने के तरीके को देखें तो लज्जा से मस्तक नम जाता है। यह प्रवृत्ति भारतीय समाज मे पाश्चात्य प्रवृत्ति के अधानुकरण का परिणाम है। अच्छी बातो का अनुकरण बुरी बात नही है। आप आज कल उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अथवा युवको को खुले स्थान पर भी खडे-खडे पेशाब करते पायेंगे। मेरा ऐसा अनुभव है कि यह प्रथा उन उच्चाधिकारी अथवा उच्च शिक्षित व्यक्तियो ने प्रारम्भ की होगी जिनको अपने पेंट की क्रीज बिगडने का भय था। वह भी बन्द कमरे मे तथा (Urinal) मे करते होग। जहा एकात हो तथा गदे पानी के छीटे उनके पेंट पर न गिर सकें। किन्तु आज तो हम उनके चपरासी तक को (जिसके पेंट मे क्रीज का नाम भी नही) उसको 'साहब' की नकल करते हुए खुले स्थान पर भी पा लेते हैं। इस प्रकार पच्चीसो बातें गिनाई जा सकती है। अधिक दुख तब होता है जब 'विवेक' मे धर्म होने की मान्यता रखने वाले जैन तथा उसके कुटुम्ब मे भी विवेकहीन इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि कई सज्जनो की पानी अथवा तरल पदार्थों को बिना आवरण--(ढके हुए) रखते हुए देख सकते ह जो कि धार्मिक तथा स्वास्थ्य दृष्टि स हानिकर है। सूर्यास्त से पूर्व तो भोजन की बात तो आज युग-बाह्य मानी जाती है। यदि हम सूर्यास्त पूर्व के भोजन की पद्धति पर गौर करे तो उस परिणाम पर पहुचेंगे कि यह पद्धति धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है ही, किन्तु स्वास्थ्य रक्षा के लिहाज से भी काफी महत्वपूर्ण है। क्या कभी इस दृष्टिकोण से सोचा गया है कि दिन मे प्रातःकाल तथा सध्या के भोजन मे समय का अन्तर काफी कम रहते हुए भी भूख लग जाती है। सन्ध्या तथा दूसरे दिन प्रातः भोजन मे बहुत अन्तर (समय) रहने पर भी भूख नही लगती। वास्तव मे सूर्य की गर्मी का या उसके अस्तित्व का हमारी पाचन-क्रिया पर प्रभाव पडता है। जबकि रात्रि के १२ बारह घटे मे पाचन क्रिया बहुत मन्द हो जाती है। यह सच है कि आज के बहुविध प्रवृतिमय जीवन म सूर्यास्तपूर्व भोजन बहुत कठिन होता है, विशेष कर बम्बई

जैसे उद्योगप्रधान तथा कई मील दूर रहते हुए उपनगरो मे। किन्तु हम यह तो कर ही सकते हैं कि सूर्यास्त के पश्चात् ही— सही किन्तु यथासम्भव शीघ्र भोजन से निवृत हो जावें। कालेज तथा स्कूल मे जाने वाले छात्र, छात्राओं के जीवन के सम्बन्ध मे क्या कहा जा सकता है? मेरे मत मे तो यदि छात्र-छात्राओ के जीवन को अहिंसा प्रवृत्ति प्रधान तथा जैन सस्कारयुक्त बनाना है तो बड़े-बडे नगरो मे जैन होटलो का निर्माण करना चाहिये तथा वहाँ का भोजन प्रबन्ध जैन सस्कार युक्त व्यक्ति के हाथ से होना चाहिये। मैं जब गहराई से सोचता हूँ तो इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि आज हमारे धर्माचार्यों को सामायिक प्रतिक्रमण की बात से महत्वपूर्ण बात जैन समाज तथा भारतीय समाज के सम्मुख जैन सस्कार, भारतीय सस्कार की बात दृढतापूर्वक रखना चाहिये। सामायिक प्रतिक्रमण के महत्व से कोई इन्कार नही कर सकता, किन्तु प्रश्न प्राथमिकता का है। यदि हमने जैन कहलाने वाले कुटुम्बो मे जैन सस्कार दृढ करने का प्रयत्न नही किया तो कोई दिन ऐसा आ सकता है कि जब तथाकथित जैन के व्यवहार से जैन समाज को शर्मिन्दा होना पडे, वास्तविक जैन को जैन कहलाने मे शर्म अनुभव करना पडे। आज राजनीतिक क्षेत्र मे सम्पर्क रखने वाला व्यक्ति भली-भाति जानता है कि गाधीयुग मे सार्वजनिक कार्यकर्ता अधिक सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, दुर्व्यसनो से परे रहता था यदि कोई व्यक्ति दुर्व्यसन मे ग्रस्त होता है तो उसको निम्न, हीन दृष्टि से देखा जाता था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति अथवा उसके पश्चात् राष्ट्रपिता गाधी जी के स्वर्गवास को जितना अधिक समय होता जा रहा है उतना ही इस प्रकार के जीवन का आग्रह कम होता जा रहा है। कई सत्तारूढ़ इस प्रकार के सात्विक जीवन के विरुद्ध अपने कुतर्कों द्वारा औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं उसका परिणाम आज सारा राष्ट्र भोग रहा है। राष्ट्र का औसत नागरिक यह अनुभव करता है कि त्याग-तपस्या के व्रत से युक्त सार्वजनिक कार्यकर्ता की क्या स्थिति होती जा रही है? स्वय कार्यकर्त्ता ठाट-बाटपूर्ण जीवन बिताने के लिये उचित, अनुचित मार्ग अपनाता है उसका अनुकरण अन्य लोग करते हैं। परिणामस्वरूप दैनिक जीवन मे भ्रष्टाचार पनप रहा है। राष्ट्र के कर्णधारो को उसकी ओर ध्यान देने का अवकाश नही है। तात्पर्य यह है कि हमारे भारतीय जन-जीवन मे सादगी, सात्विकता, विवेक अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना मानव-जीवन मे भारतीय या जैन-सस्कार नही उतारे जा सकते, न देश का सार्वजनिक जीवन शुद्ध रह सकता है। जब तक सार्वजनिक जीवन शुद्ध सात्विक न हो तब तक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जनसाधारण का प्रेरणा-स्रोत

नही हो सकता। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज देश का सार्वजनिक जीवन (चाहे वह राजनीति से सम्बन्धित हो, चाहे वह अन्य क्षेत्र से सम्बन्धित हो तथा वह किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्धित हो) भ्रष्टता की ओर प्रगति कर रहा है। प्रजातन्त्र के युग मे राजनीतिक (राजनेता चाहे वह कांग्रेस से सम्बन्धित हो, चाहे वह अन्य किसी दल से सम्बन्धित हो) का जीवन दर्पण के अनुसार इतना स्वच्छ, शुद्ध, सात्विक होना चाहिये कि जो जनसाधारण के लिये प्रेरणा श्रोत हो सके। उसकी वाणी तथा कर्म मे साम्य होना चाहिये ताकि जनसाधारण पर उसका प्रभाव पड सके। युग-निर्माता गाँधी के जीवन की छाप करोडो देशवासियो पर केवल इस कारण पडी कि उनकी वाणी और कर्म मे साम्यता थी, जीवन एक खुला सत्य था। उनमे भूल को स्वीकार करने का साहस था।

यदि हम जैन समाज की मान्यताओ तथा आज के सामाजिक जीवन की मान्यताओ पर विचार करें तो भी बडी निराशा होती है। जैन-दर्शन की मान्यता मे अन्धविश्वास का कोई स्थान नही है इसी कारण जैन धर्म मे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (त्रिरत्न) को मोक्ष मार्ग बताया गया है। जैन-धर्म के अनुसार सम्यक्त्व व्रत मे अरिहत देव, साधुत्व से युक्त आत्मा को गुरु तथा केवली प्ररूपित धर्म मे आस्था (निष्ठा) आवश्यक मानी गई है किन्तु हम बडी व्यथा के साथ देखते है कि जैन समाज मे इसके विरुद्ध आचरण होता है। जहाँ जैन समाजान्तर्गत एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के चिन्ह से विभूषित तीर्थंकर-प्रतिमा को पूज्य नही मानता उसी का सदस्य भैरो, भवानी को प्रतिमा के सम्मुख नत मस्तक होकर अपनी तथा अपने कुटुम्ब की कुशलता के लिये आशीर्वाद माँगता है। वह अपने धार्मिक स्थान मे प्रतिक्रमण के समय ऐसे दोषो के लिये मिच्छामि दुक्कड (मिच्छामि-दुष्कृतम्) देता है। तथा यह जानता भी है कि इन भैरो, भवानियो आदि देव का किसी धर्म मे कोई स्थान नही है। और किसी का भला बुरा कोई देव नही कर सकता। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता है। अच्छे बुरे कर्मो का फल उसको भुगतना पडेगा। फिर भी अन्धविश्वास तथा मानसिक कमजोरी इस प्रकार जैन-सस्कार के विरुद्ध आचरण करने पर उद्यत करती है। लेखक को आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व अपने परिवार मे इस प्रकार की प्रथाओ के विरूद्ध असहयोग करना पडा तथा अपने स्वर्गीय पूज्य माताजी तथा पिताजी को यह विश्वास कराना पडा कि इस प्रकार के देव, देवी, मनुष्य की कोई हानि-लाभ नही कर सकते। परिणामस्वरूप आज वर्षों से लेखक के परिवार से इस प्रकार की अधविश्वास युक्त प्रथा विदा हो गई। स्थानकवासी समाज की मान्यता मे मूर्ति-पूजा को कोई

स्थान नही है। हालाँकि लेखक के निजी मत से कला की दृष्टि से मूर्ति, चित्र का महत्व है और जैन समाज ने भारतीय मूर्ति, तथा चित्रकला के उत्कर्ष मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मूर्ति तथा चित्र के अस्तित्व की उपयोगिता है। किन्तु यह भी सत्य है कि मूर्ति, चित्र की हिंसायुक्त साधनो द्वारा या अन्य प्रकार से पूजा की—उपयोगिता सिद्ध नही की जा सकती। स्था० समाज की एकान्त मूर्ति-विरोधी मान्यता के बावजूद समाज मे अपने पिता, पूजनीय स्वजनों के फोटो, श्रद्धेय मुनिराजो के फोटो का प्रचलन है और प्रतिदिन बढता जा रहा है। अच्छे कट्टर स्थानकवासी मान्यता के-हामी गृहस्थ श्रावको के मकानों पर भी लेखक ने इस प्रकार के फोटो देखे हैं। श्रद्धेय मुनिराजो के फोटो पुस्तको के पृष्ठो पर ब्लाक बनाकर छपवाये जाते है। कुछ मुनिराजो मे ही अपने फोटो समाचार पत्रो मे प्रकाशित कराने का "चाव" बढ रहा है। इस प्रकार की वृत्ति पर समाज को सोच-विचार करके कोई निर्णय लेना चाहिये। लेखक के मत मे दैनिक अथवा अन्य समाचार पत्रो मे आदरणीय श्रद्धेय के फोटो ब्लाक बनाकर छपवाना अनुचित कार्य है। सब लोग जानते है कि समाचार-पत्र मनुष्य पढने के पश्चात् कितनी लापरवाही से फेंक देता है। वह गन्दे, अनुपयुक्त स्थान पर भी पहुँच जाते है और जिस पृष्ठ पर फोटो प्रकाशित हुआ है उस पृष्ठ की दुर्गति भी हो सकती है। इस कारण इस प्रकार की वृत्ति मे विवेक की आवश्यकता है। लेखक को एक पूज्य मुनिराज की शताब्दी समारोह मे सम्मिलित होने का अवसर मिला। वहाँ लेखक ने देखा कि सम्बन्धित मुनिराज का—"आदम कद फोटो" मच पर रखा था। उनके सम्मुख बालकबालिका साँस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर नृत्य-गान कर रहे थे। लेखक के साथ उस मच पर समाज के कुछ विचारक मननशील सज्जन थे। लेखक ने उनसे विनोद मे कहा कि सम्भवत उक्त मुनिराज स्वर्गवास होने के पश्चात् "देवलोक" मे होगे जहाँ पर देवी देवता नृत्यगान-द्वारा (लोक श्रुति के अनुसार) उनका मनोरन्जन करते होगे। वही दृश्य यहाँ पर बतलाया जा रहा है। वास्तव मे हमारे सामाजिक जीवन मे सम्यक्त्व अथवा चारित्र की दिशा मे विवेक का स्थान बहुत कम रह गया है। समाज के प्रबुद्ध विचारकवर्ग के सम्मुख यह सब प्रश्न उपस्थित है। विचारक वर्ग इन प्रश्नो पर विचार करें तथा समस्या हल करें। साधु मुनिराजों को भी इन प्रश्नो पर विचार कर समाज के चतुर्विध सघ का मार्ग दर्शन करना चाहिये। अन्यथा समाज स्वय ही विवेक-रहित मार्ग पर जा रही है। समाज के विचारको के मन मे स्व० राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्द गुनगुना रहे हैं—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्यायें सभी॥

५

साधु-आचार में परिवर्तन का प्रश्न

केवल शास्त्रमाश्रित्य, न तु कर्तव्य-विनिश्चयः।
युक्तिहीने-विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।।

भगवान महावीर ने अपने सघ मे चार तीर्थ की स्थापना की उसमे साधु एक महत्वपूर्ण घटक थे। इस कारण जैन धर्म-साहित्य मे साधु-साध्वी के आचार के सम्बन्ध मे काफी विस्तार से उल्लेख किया गया। यह सब कोई जानते है कि भगवान महावीर के सघ मे सचेलक तथा अचेलक दोनो प्रकार के साधु विद्यमान थे। दोनो प्रकार के श्रमणो मे सौहार्द भाव था, कोई उच्च-निम्नत्व का भाव न था जब कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के साधु रग-बिरंगे वस्त्र पहिनते थे। जब भगवान महावीर के निर्वाण के काफी समय पश्चात् दोनो प्रकार के साधुओ मे अन्य भाव उत्पन्न हुए तब दिगम्बर श्वेताम्बर पृथक्-पृथक् हो गए, यह दोनो सम्प्रदाय के रूप मे विद्यमान है,किन्तु इनमे भी कालान्तर मे विभिन्न उप-सम्प्रदायो का निर्माण हो गया और प्रत्येक उपसम्प्रदाय का साधु अपनी मान्यता, विश्वास तथा आचार को भगवान महावीर द्वारा स्वीकृत होने का दावा करता रहा। तात्पर्य यह है कि सारे जैन समाज के आदर्श पुरुष एक होने के पश्चात् भी छोटी-छोटी मान्यता-भेद, रुचि-भेद ने पृथक्-पृथक् अस्तित्व कायम रखा है, और जैन समाज एक विभाजित खडित रूप मे मौजूद है। जैसा कि मैने इगित किया है, भगवान महावीर के सघ मे एक महत्वपूर्ण इकाई है इसलिए साधु आचार का प्रश्न महत्वपूर्ण रहा है। अभी दिनाक १६-६-७० को बम्बई नगर मे साधु आचार मे परिवर्तन के प्रश्न पर विचार करने के लिए जैन युवक सघ द्वारा परिसवाद आयोजित किया गया था। तथा उसमे जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्रीदलसुख भाई मालवणियाजी ने जो विचार व्यक्त किये थे उनको बम्बई से प्रकाशित "प्रबुद्ध जैन" ने प्रका-

शित किया है। इसी सिलसिले मे पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने एक लेख "जिन वाणी" अगस्त १९७० के अंक मे प्रकाशित कराया है।

मुझे उपरोक्त "प्रबुद्ध जैन" का अक उपलब्ध नहीं हो सका किन्तु जिन-वाणी के अक मे श्री दलसुखभाई के विचारो का अश प्रकाशित हुआ है। जिसमे उन्होंने साधु के यम नियम मे कुछ परिवर्तन सुझाये हैं। उन परिवर्तन (प्रस्तावित) का प्रभाव बहुत दूरगामी होगा तथा साधु सस्था आमूल रूप से नये रूप मे उपस्थित होगी इसमे सदेह नही है। मुझे पता नही कि श्री दलसुख भाई ने उन सुझावो पर पर्याप्त विचार कर लिया था, या क्या ? जो कुछ भी हो उपरोक्त सुझाव उनकी व्यक्तिगत राय है तथा विस्तार के प्रश्न है। मेरे नम्र मत मे मौलिक प्रश्न आज यह है कि क्या साधु आचार मे कोई परिवर्तन किया जाना उचित है कि नही ? साधु के नियमोप-नियम, उनके उल्लंघन के दण्ड आदि बातें जैन साहित्य मे विस्तार से है। फिर भी समय के प्रवाह तथा विज्ञान की अपरिमित तरक्की ने कई ऐसे प्रश्न उपस्थित कर दिये है,कि जिनका उत्तर नही मिलता। जब हम परिवर्तन की बात करते है तो स्वभावत यह प्रश्न सम्मुख आता है कि क्या भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् से आज तक साधु सस्था के नियम अपरिर्वतित रहे हैं या उनमे कभी परिवर्तन हुआ है ? जब हम इस दृष्टिकोण से स्थानकवासी श्रमण सस्था के सम्बन्ध मे विचार करते है तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि समय के प्रवाह के साथ मुनिराजो ने अपनी कई मान्यता विश्वास तथा आचार मे समय-समय पर परिवर्तन किया है और समय बीतते-बीतते परिवर्तनो पर मुहर लगती गई है, इस पृष्ठ भूमि मे यह दावा कि हमारी साधु सस्था के नियमोपनियम अपरिर्वतित है वस्तु स्थिति के अनुकूल नही है। जब सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बात तय हो जाती है कि परिवर्तन हो सकता है। उचित है, तब विस्तार के प्रश्न उपस्थित होंगे। विस्तार के प्रश्नो पर मतभिन्नता हो सकती है, उन मत भेदो का निराकरण बहुत मुश्किल नही है।

लेखक को जितनी अल्प माहीती है उसके लिहाज से भगवान महावीर तथा उनके निर्वाण के पश्चात् इन २५०० वर्षों के साधु मुनिराज की मान्यता, विश्वास तथा आचार मे कई परिवर्तन हुए हैं। लेखक के नम्रमत मे उसके निम्नलिखित उदाहरण हैं। यह भी स्पष्ट है कि साधु मुनिराज की दैनदिन चर्या ही परिवर्तित हो गई है, दिन मे प्रथम ध्यान, स्वाध्याय, भिक्षा, प्रतिलेखन होता था, तथा रात्रि मे तीसरे पहर मे भिक्षा के स्थान पर निद्रा होती थी यह परम्परा बहुत मात्रा मे परिवर्तित हो गई है।

(१) जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है भगवान महावीर के सघ में साधु तो नग्न रहते थे या नग्न तथा सवस्त्र दोनो प्रकार के होते थे, अब आजकल स्थानकवासी परम्परा ही नही श्वेताम्बर परम्परा के प्रत्येक उप-सम्प्रदाय केवल सवस्त्र ही होते हैं ।

(२) श्वेताम्बर परम्परा मे जिस समय साधु के लिये वस्त्र अनिवार्य समझा गया तथा उस समय उसका परिमाण बहुत ही कम था । जैसा कि श्रुत-साहित्य के प्राचीनतम शास्त्र आचाराग सूत्र मे विदित होता है, किन्तु वस्त्रो का परिमाण समय-समय पर परिवर्धन होता गया ।

(३) साधु मुनि भोजन के लिये तीसरे प्रहर निकलते थे और भिक्षा लेकर आहार करते थे जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र मे विदित होता है । तात्पर्य यह है कि भोजन केवल एक बार लाया जाता था, तथा एक ही बार आहार किया जाता था, आजकल की पद्धति बिल्कुल भिन्न है, इसमे भी प्रात तथा तीसरे पहर की "चाय" का उदाहरण तक यदाकदा मिल सकता है । गृहस्थ को इसमे आपत्ति नही इसलिए कि गृहस्थ भी आज कल इसी प्रकार का वर्ताव करता है, प्रश्न तो पद्धति के परिवर्तन का है ।

(४) जहाँ तक लेखक को ज्ञात है किसी समय स्थानकवासी परम्परा के साधु मुनि सस्कृत का पठन पाठन उचित नही मानते थे, समय के साथ इस मान्यता मे परिवर्तन हुआ है ।

(५) इसी प्रकार पेश्तर जैन शास्त्रो तथा साहित्य का प्रकाशन साधु मुनि नही कराते थे । अपितु हस्तलिखित ग्रन्थ काम मे लाते थे । समय के साथ शास्त्रो तथा साहित्य का मुद्रण प्रारम्भ हो गया लेखक को स्मरण है कि जब स्थानकवासी परम्परा के स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषि ने पहली बार शास्त्रो के मुद्रण का कार्य प्रारम्भ कराया तब समाज के साधु वर्ग मे उसका कितना विरोध हुआ था ? किन्तु आज दैनदिन व्यवहार हो गया है ।

(६) पेश्तर स्थानकवासी परम्परा मे साधुओ द्वारा सस्था का निर्माण तथा उसके लिये धन एकत्र करने मे सक्रिय सहयोग नही दिया जाता था । केवल उपदेश देने की परम्परा थी किन्तु आज तो उसके विपरीत अमल हो रहा है ।

(७) पेश्तर जहाँ तक स्मरण है लेखक ने साधु मुनिराज को 'चश्मा" उपनेत्र मे मामूली बाँस लकडी मे ग्लासेज को फिट कराकर लगाते देखा है, आज चश्मा बहुमूल्य लोहकील मय Frame मे लगा हुआ देखा जा सकता है ।

(८) पेश्तर साधु मुनिराज यदा-कदा वस्त्रो को पानी से धो लेते थे, आज तो टिनोपाल तथा सर्फ का उपयोग हो रहा है ।

(९) पेश्तर साधु मुनिराज केवल आयुर्वेदिक औषधि का उपयोग भी आवश्यकतावश करते थे, आज एलोपेथिक औषधि का उपयोग का प्रचलन है ।

(१०) पेश्तर साधु मुनिराज सध्या को स्याही "गीली" को सुखाकर रात्रि को अपने पास रखते थे- शायद तात्पर्य यह था कि कोई Liduid Form की वस्तु रात्रि मे पास न रखी जावे आजकल Fountain pen सदैव रखे जाते है जिसमे स्याही भरी रहती है ।

(११) पेश्तर सध्या समय गृहस्थ से माग कर लाई हुई सूचिका "सुई" वापस कर दी जाती थी, आज सभवत ऐसा कोई आग्रह नही रहा है ।

(१२) आज कल साधु मुनिराजो मे दैनिक समाचार पत्रो का अवलोकन तथा पठन का रिवाज अधिक है । देश की सामान्य स्थिति तथा सामाजिक समस्याओ मे परिचित रहना उचित है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमारे यहाँ जिन चार कथाओ का वर्णन किया गया है, उसप्रकार के सम्वाद दैनिक समाचार पत्रो मे रहते है, या नही ।

उपरोक्त उदाहरणो के अलावा शास्त्रो के जानकार तथा २५०० वर्ष के लम्बे काल की परम्परा के अध्येता अधिक उदाहरण दे सकते हैं वैसे उपरोक्त उदाहरणो मे यह भलीभाँति प्रगट है कि साधु-सस्था ने इस २५०० वर्ष के काल मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है, मूल प्रश्न के निराकरण मे उपरोक्त उदाहरण सहायक है, कि साधु आचार मे कोई समयानुकूल परिवर्तन उचित होगा, या नही ? इसमे सदेह नही कि हमारे साधु मुनिराज के आचार व्यवहार मे प्रदेश की दृष्टि से भी कुछ कुछ अन्तर है । एक प्रदेश मे विचरण करने वाले मुनियो की समाचारी दूसरों से नही मिलती । एक बात स्पष्ट है कि साधु मुनिराज के आचार व्यवहार के सम्बन्ध मे समाज मे दो विचारधारा स्पष्ट है एक पुरातनवादिता या अपरिवर्तनवादिता की है, जब कि दूसरी परिवर्तनवाद की है । इन दोनो विचार सारणि मे स्पष्ट Demarcation line मौजूद है । प्रश्न यह है कि स्थानकवासी समाज की श्रमण सस्था 'अपरिवर्तनवादी' इस स्थिति को Recognise करे या इस परिवर्तनवादी युग की समस्याओ से आँख मूँद कर अपनी सस्कृति को सुरक्षित समझ ले । यदि साधु सस्था ने दूसरा मार्ग पसन्द किया तो शनै-शनै साधु आचार मे स्वत परिवर्तन हो जायेंगे । तथा परि-वर्तन अनियोजित ढग पर होगे । यह भी हो सकता है कि अपरिवर्तनवादी भी उसमे शरीक हो जायें और ऊपर से अपरिवर्तन का दिखावा करते रहे । यह

सबके लिये नही हो सकती किन्तु कुछ के लिए इस प्रकार की आशका बेबुनियाद नही कही जा सकती। कईयो का अनुभव है कि कई अपरिवर्तनवादी मुनियो ने अपनी सुविधा या आवश्यकता के लिये कुछ परिवर्तन कर लिये हैं और समय के प्रवाह ने दूसरो से भी उसे मान्यता दिलादी। इस समय परिस्थिति के प्रकाश मे क्या यह उचित नहीं होगा कि स्थानकवासी समाज के साधु मुनिराज चाहे वह श्रमण सघ मे हो या न हो। एकत्र होकर मौलिक प्रश्न सामने रखकर इस प्रश्न के विस्तार पर विचार करें, ताकि श्रमण सस्था विशृखल होने से बच सके। यह कहकर आत्म-सतोष कर लेना उचित नही होगा कि भगवान ने २१००० वर्ष तक उनके मार्ग के अक्षुण्ण रहने की गारन्टी दे दी है। यदि हमारी साधु-सस्था ने इस समयोचित बात पर ध्यान देकर कोई सुनियोजित पद्धति अगीकार नही की तो मुझे अन्य धर्मावलम्बी साधुओ के जैसा भविष्य नजर आता है, वह यह कि जिस साधु का आचार व्यवहार उचित होत है वह पूज्य रहेगा। शेष साधु को आदर सम्मान समाज से नही मिल सकेगा, यह भी हो सकता है कि ऐसे साधु का जीवन अन्तर तथा बाह्य दो प्रकार का है। बहरहाल इतना निश्चित है कि इस प्रकार की स्थिति सघ-बद्धता के रूप मे विशृखलता की होगी। इसलिये मेरा नम्र सुझाव है कि निम्न लिखित मुद्दो पर विचार करके कोई निर्णय करें :—

(१) साधु मुनि के मूल महाव्रत को अक्षुण्ण रखकर उसकी तफसील मे किस प्रकार का परिवर्तन किया जावे।

(२) पूरे देशव्यापी साधु सस्था के लिये एक-सा नियमोपनियम हो, प्रदेश की भिन्न स्थिति के लिहाज से कुछ परिवर्तन ऐच्छिक रख दिया जावे।

(३) साधु मुनिराज के नियमोपनियम अल्पतम मात्रा के हो यानी मिनिमम जो अपेक्षा किसी साधु मुनिराज से की जा सकती है उसका समावेश हो यह स्पष्ट है कि उससे अधिक पालनकर्ता उत्कृष्ट रहेंगे।

(४) गत कुछ वर्षों से साधु मुनिराजो मे सस्था निर्माण करने की प्रवृत्ति चल रही है। सस्था चाहे धार्मिक हो, सामाजिक हो, साहित्य प्रकाशन की हो उसमे प्रवृत्ति का प्रश्न रहता ही है। सस्था के निर्माण के पश्चात् उसको सुचारू रूप से व्यवस्था करना पड़ती है। आवश्यक होने पर धन-सग्रह कराना पडता है सस्था-निर्माण तथा धन-सग्रह मे साधु मुनि किस प्रकार का योग दे सकते हैं यह तय करना चाहिये।

निश्चित रूप मे लेखक को इसमे कोई अधिक रुचि नही है कि परिवर्तन

कितना ? कैसे किया जावे ? इस पर अपना मत व्यक्त करें। इतना अवश्य चाहता है कि साधु जीवन में अन्तर तथा बाह्य की दूरी समाप्त हो जावे इसके अतिरिक्त नियमो के पीछे उसकी Spirit का पालन किया जावे केवल उसके कलेवर का पालन करके सन्तोष न करलें। लेखक ने देखा है कि यदि किसी साधु का कोई Favourit श्रावक दर्शनार्थ जाता है और साधु उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना चाहता है तो स्थानीय श्रावक को अवसर देख लेने की बात कहकर इशारे मे समझा देता है, वह साधु यह मान लेता है कि मैंने सावद्य भाषा का प्रयोग नही किया जबकि पाप बध यदि हो सकता है तो हमारी आतरिक विचार-दशा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक उन्नति के इस युग मे 'बिजली' सम्बन्धी कई प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं यह प्रश्न आज लगभग १५ वर्ष मे अनिर्णित दशा मे है। यदि इस प्रश्न को निर्णय करने के सिलसिले में मूल प्रश्न तय कर लिया जावे कि Electricity सचित्त है या अचित्त, तो यह प्रश्न निर्णीत हो जावेगा। इसके निर्णय का एक तरीका यह हो सकता है कि शास्त्रीय सदर्भ मे चर्चा हो। मुझे स्मरण है कि श्रद्धेय कवि श्री जी ने अमर भारती के एक अक मे बहुत विस्तार से दलील सहित एक लेख लिखा था, मै बडी प्रतीक्षा मे था कि कोई विद्वान मुनि उक्त लेख की आलोचना करके उक्त विचार की अनुपादेयता सिद्ध करते। जहाँ तक मुझे स्मरण है 'जिनवाणी' के एक अक मे इस पर कुछ प्रकाश डाला गया किन्तु दोनो लखो का तुलनात्मक बाचन करने पर यह स्पष्ट जाहिर होगा कि उक्त लेख उन मुद्दो का सतोष जनक निराकरण नही कर सका जो 'अमरभारती" के लेख मे प्रस्तुत किये गये थे, बहरहाल एक तरीका यह भी हो सकता है कि इस प्रश्न को देश के निष्पक्ष, लब्धप्रतिष्ठे वैज्ञानिको के सुपुर्द करके उनका मत लिया जावे, 'अन्ततोगत्वा' कभी तो इसका निराकरण करना होगा। सदियो तक अनिर्णित अवस्था मे रहने मे विश्रृंखलता बढेगी ही। तीसरा एक दृष्टि-कोण यह हो सकता है कि इस मूल प्रश्न को एक तरफ रखकर ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रयोग को सयमित, नियमित, कर दिया जावे ताकि वर्षों की अनिश्चित स्थिति समाप्त हो तथा इस अनिर्णीत प्रश्न के कारण समाज मे जो अशाति का वातावरण बन गया है उसका अन्त हो सके। यह निश्चित है कि हमारी साधु-सस्था को इस प्रकार के निर्णय लेते समय अपने विचारो का एकान्त आग्रह छोडकर अनेकान्ती बनना होगा तभी इन प्रश्नो का निर्णय हो सकेगा।

आजकल एक प्रश्न विचारक लोगो के सन्मुख उपस्थित है। यदा कदा इस बात की चर्चा होती है कि साधु मुनिराज को धार्मिक तथा सामाजिक कार्य करना चाहिये ताकि उनके समय का सदुपयोग हो। इसमे सन्देह नही है

कि इस प्रकार के कार्यों मे प्रवृत्ति तो होती है किन्तु विश्व मे विशुद्ध धार्मिक कार्य जिसे कहा जा सकता हो उसमे भी प्रवृत्ति होती ही है। 'वास्तव में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परस्पर अभिन्न है। यदि इस प्रकार के कार्यों को प्रवृत्ति कहा जा सकता हो तो वह सात्विक प्रवृत्ति है। किन्तु इस सिलसिले मे जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, वह महत्वपूर्ण है तथा विचारणीय हैं। आजकल यह सामान्य अनुभव की बात है कि धार्मिक तथा सामाजिक सस्थाओ तक मे पक्ष बनते है, तथा सस्थाओ के सचालन मे विवाद उत्पन्न होते हैं, कही ऐसा न हो कि हमारे साधु मुनिराज सस्थाओ के कार्य सचालन मे इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति मे फस जावे। बहरहाल साधु मुनिराजो को इस प्रश्न के समस्त पहलुओ पर गहराई से विचार करके अपनी कार्य पद्धति तय करना चाहिये।

आशा है कि हमारी समाज की श्रमण सस्था व्यापक विशाल दृष्टिकोण से सोच विचार करके कोई मार्ग निश्चित करेगी ताकि यह सस्था विश्रृखलता से सुरक्षित रह सके।

६

साधु-आचार में परिवर्तन का प्रश्न : सम्यग्दर्शन के प्रकाश में एक स्पष्टीकरण

गत जून मास मे बम्बई मे साधु आचार मे परिवर्तन के प्रश्न पर एक परिसवाद आयोजित किया गया था जिसमे हमारी जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्री दलसुखभाई ने कुछ विचार व्यक्त किये थे जिसमे उन्होने जैन साधु के यम-नियमोमे आमूल परिवर्तन करने का सुझाव दिया था। मैं स्वय उन सुझावो से बहुत बडी सीमा तक असहमत था और दलसुख भाई की विद्वत्ता के प्रति आदर रखते हुए भी उन सुझावो को नापसन्द करता था। क्योकि यदि उनके सुझावो को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके परिणाम बहुत दूरगामी होगे। मुझे यह भी भय है कि मेरे मित्र श्री दलमुखभाई ने उसके Pros और Cons पर पूरा विचार नही किया किन्तु फिरभी मैं जैन साधुओ के वर्तमान मे प्रचलित नियमोपनियम मे परिवर्तन चाहता था ताकि साधु धर्म की मूल महाव्रतो को अक्षुण्ण रखकर युगानुकूल तफसील की बातो मे परिवर्तन होना चाहिए जैसा कि साधु मुनिराजो ने समय-समय पर स्वय कर लिया है और उसके उदाहरण भी दिये थे किन्तु परिवर्तन किस प्रकार कैसा किया जावे इसका निर्णय स्वय साधु सस्था को करना चाहिए ताकि सुनियोजित रीति से परिवर्तन हो। इसी आशय से प्रेरित होकर मैने एक लेख 'साधु आचार मे परिवर्तन का प्रश्न' शीर्षक से लिखा जो जैन प्रकाश हिन्दी के दिनाङ्क ८-१०-७० के अक मे प्रकाशित हुआ है। इस लेख मे व्यक्त विचारो के सम्बन्ध मे मेरे मित्र श्री रतनलालजी डोसी ने अपने पाक्षिक पत्र सम्यग् दर्शन' के दिनाङ्क ५-११-७० तथा दिनाक २०-११-७० के अको मे विचार व्यक्त किये है और मेरे आग्रह पर उक्त दोनो अको को मेरे मित्र ने मुझे भेज देने की कृपा की है, मैं उनका अभारी हूँ।

मैंने अपने उपरोक्त लेख मे भगवान महावीर के पश्चात् २५०० वर्ष मे साधु आचार मे जो परिवर्तन हुए हैं उनकी एक सूची अपनी जितनी अल्प माहिती है उसके अनुसार दी थी। मेरे मित्र ने सम्यग्दर्शन के दिनाक ५-११-७० के अक मे 'बे ढगी बातें क्यो होती हैं ? शीर्षक के प्रारम्भ में ही व्यापक विचार व्यक्त किये है कि पढ लिख कर पडित बन जाने से ही कोई निर्मल बुद्धि वाला और यथार्थ दृष्टा नही बन जाता। पढ़े लिखे भी कई बाते करते हैं कि जैसी एक सामान्य समझ वाला भी नही करता और इसके आगे मेरे सम्बध मे परिचय दिया है यदि उपरोक्त General Remark मेरे सम्बन्ध मे हो तो मुझे सहर्ष स्वीकार है। यह तो सच है कि मै पढा लिखा हूँ किन्तु न तो पडित बन सका और न निर्मल बुद्धि है और न यथार्थ दृष्टा, इसी कारण मुझे स्वय अपनी अल्पज्ञता का भान है। वास्तव मे श्रीमद मानतुगाचार्य के शब्दो मे —

अल्पश्रुत श्रुतवतां परिहासधाम

मेरे मित्र की यह कृपा है कि उन्होने मुझे हास्यास्पद अकित नही किया। यह मै बिना झिझक के स्वीकार कर सका हूँ कि मैं साधु मुनिराज के आचार मे ऐसे परिवर्तन का हामी हूँ जिसके कारण मूल व्रतो मे खामी न लाते हुए उसके तफसील की बातो मे युगानुकूल परिवर्तन हो जावे ताकि शुद्ध आचार के नाम पर कही-कही जो ढोग पनप रहा है,उसकी आवश्यकता न रहे। मेरी अल्प मति मे साधु आचार मे नियम Minimum होना चाहिए। Maximum होने से कभी-कभी साधुओं को ढोग का सहारा लेना पडता है कि उच्चतम नियमो का पालन नही कर सकते - इसमे सन्देह नही कि आज भी कई भाग्यवान ऐसे सत है कि जो उच्चतम नियमो का पालन अत्यन्त कडाई से करते है। उनके आगे सबका मस्तक श्रद्धा से नत है। वह उत्कृष्ट कहलावेंगे किन्तु यह सबके बूते की बात नही है इस कारण नियम सामाज्य बनाये जाते है विशेषता केवल वही अपनाते हैं जो अपने को सूक्ष्म समझें। एक उदाहरण काफी होगा। सब कोई जानते हैं कि आज के इस युग मे जबकि प्रत्येक नियम मे आदमी Back door तलाश करके उल्लघन का रास्ता खोजने मे सलग्न है और इस प्रकार स्वय सन्तोष कर लेता है कि मैंने नियम के शब्दो का पालन कर लिया चाहे नियम की आत्मा Spirit का हनन हो गया हो। इस युग मे भी उपवास शुद्ध है, यदि हमारे धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर अथवा आचार्य भगवान जैन कहलाने वाले व्यक्ति के लिए एक या अधिक उपवास अनिवार्य कर देते तो उपवास शुद्ध नही रहता। मनुष्य शक्ति भर करें, यदि न बने तो न करें, पर ऐच्छिकता ही उसकी शुद्धता का कारण है। मेरे मित्र ने भी एक तालिका दी है कि विश्व मे अनैतिक

तथा वैज्ञानिक आदेशो का उल्लंघन करके चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, सब चल रहा है। किन्तु इस लिहाज से नैतिकता या विधान मे परिवर्तन कर दिया गया है ? और उन्होने मुझे निर्देश दिया है, कि इस परिवर्तन की पहल मैं करू ? इस तालिका के प्रत्येक बिन्दु के सम्बन्ध मे कुछ विचार व्यक्त करना मुश्किल है। इस लेखका कलेवर बहुत बढजावेगा, मैं सुयोग्य पाठक पर ही इस प्रश्न को छोडता हूँ कि इन दोनो प्रश्नो मे संगति क्यो कर है ? फिर भी इतना लिखना उचित समझता हूँ कि चोर की परिभाषा चाहे कानून मे परिवर्तित न हुई हो। किन्तु युगानुकूल विचार प्रवाह ने नैतिकता के दृष्टिकोण से परिभाषा मे परिवर्तन कर दिया है और आज वैयक्तिक सम्पत्ति के स्वामी (जिसके पास अत्यधिक हो) को समाज का चोर माना जाने लगा है। चाहे हम उसको भाग्यवान पुन्यवान मानते रहे। किन्तु अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति इकट्ठी करने वाला समाज की नजर मे अधिक प्रतिष्ठा का पात्र नही रहा है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है इस विचार मे तीव्रता आ रही है। और ऐसे समाज मे चोर के प्रति घृणा फैलती जा रही है। जागृत समाज मे परिवर्तन की लहर के वैचारिक परिवर्तन पहले होता है। कानून तो उस पर आगे जाकर 'मुहर लगाता है ? कानून निर्माण करने वाली सस्था या शासन क्रान्तिकारी नही होता। वह नो समाज मे व्याप्त वैचारिक मथन को केवल कानूनी जामा पहनाता है।

मेरे मित्र ने ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रश्न का भी जिक्र किया है कि प्रायश्चित के साथ दी हुई छूट ने तत्काल ही कितना विशाल रूप ले लिया था इसके साथ अन्य सुविधाएँ भी जुड गई। इस कारण उन्हे भय है कि साधु आचार मे सूक्ष्मतम परिवर्तन भी भविष्य मे सर्वनाश का कारण हो जावेगा। मै मेरे मित्र की आशका को बिल्कुल निमू्ल नही मानता इसलिये पूरी सावधानी के साथ निर्णय करना चाहिये। ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग मूल रूप से उचित है या नही ? इस पर मैं विस्तार से निवेदन करना नही चाहता क्योकि यहाँ पर यह एक उदाहरण मात्र है, किन्तु इतना अवश्य निवेदन करना चाहता हूँ कि उस सम्बन्धी प्रस्ताव अत्यन्त अस्पष्ट था, तथा यदि Legalview से देखे तो उसमे कई दोष थे हालाँकि मै यह मानता हूँ कि प्रस्ताव अस्पष्ट तथा सदोष होते हुए भी यदि सबने सर्वानुमति से उसे पारित किया था तो एक सरल हृदयसाधु के नाते पालनकरना चाहिये किन्तु प्रस्ताव तथा कार्यवाही कोकानूनी दृष्टिकोण से देखने,उस पर टीका टिप्पणी होने का कार्यक्षेत्र तो स्थानकवासी समाज के दोनो पक्षो की ओर से हुआ है ? मुझे इस सदर्भ मे ज्ञात है कि अधिकार के प्रश्न पर एक शब्द की खीचतान कर कैसे अर्थ लगाये गये थे। मेरे मत मे

शब्द तो जड वस्तु है, उसकी आत्मा उस भावना मे निहित है जिसको दृष्टि-गत रखकर हमने कोई बात तय की । आज तो समाज के सम्मुख एक प्रश्न है वह यह कि विद्युत मे अग्नि है ? मैंने इस सम्बन्ध मे पक्ष विपक्ष में दो लेख पढे है । मैं चूकि अपने जीवन काल मे विज्ञान का विद्यार्थी नही रहा हूं । शास्त्रीय अध्ययन भी गहराई का नही इन दोनो लेखो मे कुछ शास्त्रीय आधार पर तथा कुछ विज्ञान के आधार पर तर्क थे, यह कहना मुश्किल है कि पक्ष या विपक्ष मे से कौन से तर्क अधिक समीचीन है । मेरे जैसे अल्पज्ञ के लिये तो यह स्थिति है जैसी कि सस्कृत के एक कवि के मुताबिक -

तर्कोऽप्रतिष्ठ स्मृतयश्च भिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचःप्रमाणम् ॥

यदि यह मौलिक प्रश्न तय हो जाता है तो इस सम्बन्ध मे सब प्रश्न गौण है, मैने एक दफा यह सुझाव दिया था कि इस मौलिक प्रश्न का निर्णय किसी वैज्ञानिक (ख्यातनामा, निष्पक्ष) से कराना चाहिये । यह पृथक् बात है कि वैज्ञानिक के निर्णय (यदि यह नकारात्मक हो) के पश्चात् भी साधु मुनि-राज यह तय करें कि हमको यह सुविधा नही लेनी चाहिये, मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात का हामी हूँ, कि चाहे उपरोक्त प्रश्न विद्युत के सचित्त या अचित्त होने के सम्बन्ध मे का निर्णय यदि अचितता के पक्ष मे हो तब भी केवल साधु मुनिराज को नही हम श्रावको को भी यथा सम्भव विद्युत चालित वस्तुओ का उपयोग यथासम्भव कम करना चाहिये । साधु जीवन तो कठोर श्रम साध्य है, उनकी सुख-सुविधा के लिये विद्युत का प्रयोग कम से कम ही करना चाहिये, किन्तु आज के इस मशीन युग मे हम सब बुरी तरह मशीन के दास बनते जा रहे है, यह हमारी भारतीय सस्कृति पर आघात है इसका तात्पर्य यह नही है कि हम मशीन का प्रयोग सर्वथा न करें किन्तु प्रयोग मे विवेक की आवश्यकता तो है ही । अन्यथा हम मशीन के ऐसे दास हो जायें, कि शायद हाथ पैर अनुपयोगी हो जावे, मुझे इस समय उर्दू की पक्ति स्मरण आती है —

भूल बैठा है युरुप आसमानी बाप को ।
बस खुदा समझा है उसने बर्फ को और भाप को ।
बर्फ गिर जावेगी एक दिन और उड जायेगी भाप ।
तुम सम्भाले रखना अपने आपको ॥

आशा है कि हम श्रावक लोग जो केवल मुनिराज को पाठ पढाने का उपक्रम करते है इस दिशा मे भी कुछ सोचेंगे ।

मेरे मित्र ने लेख मे दी हुई तालिका के सम्बन्ध मे भी अपने विचार व्यक्त

किये है और मुझे प्रसन्नता है कि उस तालिका की कुछ बातो को ठीक माना है और यह स्वीकार किया है कि शक्ति के अभाव के कारण इस प्रकार का परिवर्तन कर लिया गया है। अथवा अमुक-अमुक बुराइया आ गई है। इस स्थान पर आकर मैं तथा मेरे मित्र एकमत है। मेरे मित्र भी चाहते हैं कि इन बुराइयो को कम कराया जावे मैंने अपने लेख मे स्पष्ट किया है कि जो परिवर्तन समय-समय पर कर दिये है और उन परिवर्तन बुराइयो के बावजूद हम उन साधु मुनिराजो को शुद्धाचारी मानकर वन्दन करते चले आ रहे है तो मैं नम्रता पूर्वक पूँछना चाहता हू कि उनके कौल के मुताविक क्या यह असयति पूजा थी या पासत्था का वन्दन ? मै जो चाहता हूँ वह यह है कि यदि परिवर्तन करना है तो साधु सस्था मिलकर तय करे ताकि सुनियोजित परिवर्तन हो अन्यथा व्यक्तिवादी परिवर्तन होगे तथा उनमे एकसूत्रता नही रहेगी।

समाज का एक विचारक वर्ग यह भी चाहता हे कि इस प्रकार परिवर्तन के लिये किसी चर्चा विचारणा की आवश्यकता नही हे क्योंकि साधु समुदाय का मानस इस दिशा मे स्पष्ट नही है। पूर्व मैं साधु समाज ने स्वय परिवर्तन कर लिये है और समाज ने उसको अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता देना प्रारम्भ कर दिया या दूसरे शब्दो मे उन पर आपत्ति नही की उन्हे हजम कर लिया, सब कोई जानते है कि हैदराबाद मे मुद्रित ३२ शास्त्रो के पूर्व स्था० समाज ने शास्त्रो के मुद्रण का कार्य हाथ मे नही लिया। स्वर्गीय पूज्य अमोलक ऋषि जी ने तत्कालिक विरोध तथा निदा की परवाह किए बिना शास्त्रो के मुद्रण के कार्य की प्रेरणा दी उसके पश्चात् साधु नियमो का कडाई से पालन करने वाले मुनिराजो ने भी मुद्रण कार्य मे सहयोग प्रदान किया और अब तो मुद्रण कार्य मे विद्युत का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया है, तात्पर्य यह है कि साधु समाज ने इसे अपना लिया उसी प्रकार युगानुकूल परिवर्तन स्वय प्रेरित होते जायेंगे। और आगामी साधु समाज अपने पूज्य साधु मुनिराज (पूर्वज) का अनुकरण करता रहेगा।

महाजनो येन गतः स पन्थाः—

के मुताबिक यह परम्परा आगे बढ़ती रहेगी। किन्तु इस स्वय प्रेरित परिवतन मे एक खतरा है और वह है कि समाज मे एकसूत्रता नही रह जावेगी इसलिए मेरा साधु समुदाय से निवेदन है कि वह देश व काल स्वय की शक्ति को ध्यान मे रखकर परस्पर चर्चा करके कोई निर्णय करे।

इस निवेदन का तात्पर्य केवल स्थिति का विशद रूप से स्पष्टीकरण करना है इसका उद्देश्य किसी वादविवाद मे उतरना नही है। मैं चाहता हूं कि समाज इस दिशा मे गम्भीरता पूर्वक सोचकर यथोचित निर्णय करे। चूंकि मैंने अपनी अल्प बुद्धि से स्थिति को काफी स्पष्ट कर दिया इसलिये मैंने यह सोचा है कि इस प्रश्न को साधु समुदाय के सदसद्विवेक पर छोड़ दूं और आगे कलम को विश्राम दे दूं।

७

साधु-संस्था में "शिथिलाचार" का प्रश्न

अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर ने चतुर्विध सघ की स्थापना के साथ ही सघ के महत्वपूर्ण अग श्रमण-श्रमणी के आचार का विस्तारपूर्वक विवेचन किया था। जैन साहित्य की प्राचीनतम कृति "आचाराग सूत्र" के प्रथम श्रुत-स्कन्ध तथा इसके पश्चात् की रचना "दशवैकालिक सूत्र" मे आचार का विस्तारपूर्वक विवेचन मौजूद है। इसी प्रकार जैन साहित्य के अन्य शास्त्र तथा ग्रन्थो मे साधुओ के कल्प, अकल्प तथा उल्लघन के दड का प्रावधान भी किया गया है। वास्तव मे सारे जैन-साहित्य मे साधु-समाज के आचार पर काफी बल दिया गया है कि केवल भाषा तथा व्याकरण की विद्वत्ता से आत्मा का निस्तार नही हो सकता। आत्मा का निस्तार "आचार' से होगा।

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासण।
वायावीरियमित्तेण, समासासेंति अप्पयं॥

उपरोक्त गाथा से "आचार" का महत्व प्रगट है। जब साधु समुदाय मे आचार के प्रति शिथिलता आ गई, वह चैत्यवास करने लग गये, मन्दिर-मूर्ति ही केवल उनका ध्येय रह गया, तो जहाँ प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने उस पर अपनी कलम चलाई, वहाँ महान् क्रान्तिकारी लोकाशाह ने अपनी कृति से शिथिलाचार के विरुद्ध "जिहाद" प्रारम्भ किया। श्री लोकाशाह की क्रान्ति केवल शिथिलाचार के विरुद्ध थी। इस पर से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थानकवासी समाज मे आचार शुद्धि मुख्य प्रश्न रहा। एक बार पुन· भगवान महावीर द्वारा निरूपित आचार-पक्ष को अत्यधिक बल मिलने लगा। भगवान महावीर द्वारा निर्धारित समाचारी के सम्बन्ध मे काल के प्रभाव से समय-समय पर "उपप्रश्न" उत्पन्न होते गये और स्थानकवासी जैन-परम्परा के आचार्यों ने उनकी व्याख्याएँ की। सम्भवत इन व्याख्याओ के सम्बन्ध मे मत-भेद ही स्था० समाज मे विभिन्न सम्प्रदायो के अस्तित्व का कारणभूत रहा। वृत्ति यह कार्य करती रही कि अहिंसा के सम्बन्ध मे जो व्याख्या सूक्ष्मतम की

जावे जिससे साधु-समाज उत्कृष्ट चारित्र पालन करें, वही उचित मानी जावे। जहाँ इस वृत्ति ने साधु-समाज से आचार-शुद्धता के भाव को दृढ किया वही मानव-समाज के स्वभाव अनुसार अपने को अन्य से श्रेष्ठतम की भावना को जाग्रत किया। इस आचार भिन्नता को लेकर साधु-समाज मे प्रादेशिक भेद भी निर्माण हो गये। एक प्रदेश के साधु-समाज से दूसरे के साधु-समाज का आचार कुछ भिन्न रहा। इसी कारण साधु-समाज मे परस्पर सम्भोग (सम्बन्ध) का प्रश्न उत्पन्न हो गया। एक सम्प्रदाय, एक प्रदेश के साधु-समाज का अन्य सम्प्रदाय तथा अन्य प्रदेश के साधु-समाज से पृथक् सम्भोग (सम्बन्ध) रखने लगा। स्थिति यहाँ तक हो गई कि विभिन्न सम्प्रदायों, विभिन्न प्रदेशो के साधु एक स्थान मे ठहरने, एक पाट पर बैठकर व्याख्यान देने मे भी आचार अशुद्धि मानने लगे। एक सम्प्रदाय के साधु दूसरी सम्प्रदाय के ज्येष्ठ साधु अथवा स्थविर तक को सुख-शान्ति पूछने, वदन-व्यवहार करने मे अनुचितता मानने लगे। इसी प्रकार से इस प्रदेश के साधु दूसरे प्रदेश के ज्येष्ठ अथवा स्थविर साधु को वदना करना, सुख शाँति पूछना अनुचित मानने लगे। आचार विभिन्नता के कारण वह भावना काम करने लगी कि यदि अपने से भिन्न आचार-पालन करता है उससे जो इस प्रकार का व्यवहार सम्भोग (सम्बन्ध) रहे तो चूँकि वह साधु हमारी मान्यता, परम्परा के मुताबिक उत्कृष्ट साधु नही है, हमे दोष का भागी होना पडेगा। पापभोक्ता की भ्रमपूर्ण भावना अथवा अह-म्यता—जो भी हो इसके लिए जिम्मेदार रही और इसके कारण स्थिति भयानक हो गई। वह ख्याल होने लगा कि एक ही तीर्थंकर के अनुयायी, अहिंसा जैसे महान् सिद्धान्त के पालन, स्याद्वाद के उपदेशकर्त्ता साधु मुनिराज आपस मे इतने बेगाने है। जिस प्रकार एक मांद (गुफा) मे दो सिह नही रह सकते उसी प्रकार एक स्थान पर दो साधु-विभिन्न सम्प्रदाय या प्रदेश के नही रह सकते।

इस अन्धकारपूर्ण युग मे सूर्य के प्रकाश ने प्रवेश किया। समाज के चिन्तकों के मन मे इस स्थिति के प्रति असन्तोष जाग्रत हुआ। सन् १६३२ ई० मे अजमेर मे अखिल भारतीय श्वे० जैन कान्फरेंस के अधिवेशन के साथ-साथ वृहत् साधु-सम्मेलन का आयोजन किया गया। सन् १६३२ ई० से सन् १६५१ के बीच वर्षों मे जो भूमिका बनी उसका परिणाम यह हुआ कि सन् १६५२ ई० मे गुजरात सौराष्ट्र को छोडकर समस्त सम्प्रदायो ने अपने को श्रमण सघ मे विलीन कर दिया। इसके एक वर्ष के पश्चात् ही सन् १६५३ मे सोजत मे पुन मत्री मुनिवरो की एक सभा आयोजित की गई। एक आचार्य, एक समाचारी, एक विधान का निर्माण हो गया। स्थानकवासी जैन-समाज की

छाती गर्व से फूल गई। जो कार्य जैन धर्मान्तरगत किसी समाज ने आज तक नही किया वह स्थानकवासी साधु-समाज ने कर दिया। कुछ लोगो ने यह निरूपण किया कि भारतीय स्वतन्त्रता क्रान्ति के पश्चात् सरदार पटेल के सत् प्रयत्न से जिस प्रकार भारतीय नरेन्द्रो ने अपनी सार्वभौम शक्ति भारतीय संघ मे विलीन कर दी उसी भावना से प्रेरित होकर साधु-समुदाय के विभिन्न पूज्य आचार्यों ने अपने अधिकार श्रमण सघ को समर्पित कर दिये हैं। सन् १६५२ के उक्त सम्मेलन मे ११ सम्भोग अनिवार्य तथा १२ वाँ सम्भोग (आहार पानी) ऐच्छिक रखा गया। श्रमण सघीय व्यवस्था कई वर्ष तक ठीक चलती रही किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रमण सघ मे मत-भेदो का निर्माण हो गया; शिथिलाचार, ध्वनिवर्धकयन्त्र तथा आचार्य श्री के अधिकार के प्रश्नों ने श्रमण सघीय स्वच्छ आकाश को तिमिराच्छन्न कर दिया।

श्रमण सघ के आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री के अधिकार क्या हो? आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री के अधिकार समवर्ती हो? अथवा आचार्य श्री केवल मात्र एक सम्मान का पद सुशोभित करते रहे और सारे अधिकार उपाचार्य श्री मे निहित हो? इस प्रकार के प्रश्न श्रमण संघीय मुनिराजो के सम्मुख उपस्थित होने पर जैसी की परम्परा है, श्रमण सघीय आचार-विचार से हीन साधुओ ने अवसरवादिता से काम लेकर कभी एक की शरण ग्रहण की, कभी दूसरे की। परिणाम यह हुआ कि साधु-समुदाय मे शिथिलाचार को प्रश्रय मिलता रहा। एक वर्ग के समक्ष शिथिलाचार मे साधु की अकल्पनीय छोटी-छोटी बातो का भी समावेश हो गया जबकि दूसरे वर्ग के निकट शिथिलाचार से तात्पर्य यह था कि साधु-मुनिराज के मूल गुणो मे कोई अतिक्रमण न हो। प्रथम वर्ग के निकट जहाँ चतुर्थ व्रत भग के जघन्य दुष्कृत्य शिथिलाचार मे था तो उसी के साथ ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग भी शिथिलाचार था। इस लेख मे आचार्य के अधिकार के प्रश्न की चर्चा अनावश्यक है। स्वर्गीय उपाचार्य श्री के श्रमण सघ से सम्बन्ध-विच्छेद का मुख्य कारण शिथिलाचार का प्रश्रय कहा जाता है। किन्तु यह तो एक आनुषगिक बात थी, मुख्य प्रश्न अधिकार का था। अधिकार के प्रश्न क्यो उत्पन्न हुए यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। यहाँ पर तो मोटे तौर पर "आचार" का प्रश्न चर्चनीय है।

भगवान महावीर ने लगभग २५०० वर्ष पूर्व साधु-समाज द्वारा पालनीय नियमो तथा दैनदिन व्यवहार की सूक्ष्मतम व्याख्या कर दी थी। इस लम्बे काल मे समय-समय पर साधु-समाज ने अपने आचार मे परिवर्तन किये। कौन नही जानता कि श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन की बारहवी गाथा मे श्रमण वर्ग को दिन के तीसरे प्रहर मे केवल एक समय भोजन प्राप्ति के

लिए जाने का प्रावधान है, उसके पश्चात् कालप्रभाव से दोनो समय आहार प्राप्ति के लिए जाने की पद्धति हो गई। मेरा यह तात्पर्य नही कि परिवर्तन अनुचित हुआ। तात्पर्य केवल यह है कि साधु समाचारी मे स्वय साधु-समाज ने इस लम्बे जमाने मे कई परिवर्तन किये है। हमारे आचार विचार पर देश, काल, क्षेत्र आदि का प्रभाव पड़ना ही है। इस कारण उसमे परिवर्तन अवश्य-भावी है। साधु के मूल गुण अपरिवर्तनीय है। किन्तु उनकी व्याख्या, कार्यक्षेत्र (Sphere) परिवर्तित होता रहता है। समय के प्रभाव से अहिंसा का क्षेत्र भी विस्तृत, सकुचित होना रहता है। एक समय था जब साधु मुनिराज लोकोपयोगी प्रवृत्तियो मे रस नही लेते थे, उसमे एकान्त धर्म नही था, सूक्ष्म हिसा लगती थी। समय के प्रभाव से आज कई मुनिराज इस प्रकार की प्रवृत्तियो मे रस लेते है। शास्त्र-मुद्रण का प्रश्न हमारे सामने है। उस समय उसका काफी विरोध हुआ। आज सब साधु मुनिराज मुद्रित शास्त्रो को उपयोग मे लाते है। आज आवश्यकता यह है कि श्रमण सघ शास्त्रीय विधान मे देश,काल, क्षेत्र आदि को ध्यान मे रख कर साधु-समाज के लिये एक "आचार-सहिता" का निर्माण करे। यह कहने की आवश्यकता नही है कि आचार की मर्यादा अल्प की जाना चाहिये कि साधु के लिए कम-से-कम इतनी मर्यादा अतीव अनिवार्य है कि फिर उसके पालन हेतु सघ को पूरा-पूरा नियंत्रण रखना चाहिये। अधिकतम मर्यादा बाँधने का परिणाम यह होता है कि अधिकतम मर्यादा जो साधु पालन करने मे अशक्तता अनुभव करते है, उनके सामने दो ही मार्ग रहते है। या तो वह स्पष्ट रूप मे अपनी कमजोरी को स्वीकार करें या ढोग करे और छिपी रीति से उसका उल्लघन करें। अभी तक ढोग अधिक पसन्द किया जाता रहा है इसलिए यह आवश्यक है कि मर्यादा अल्प हो उससे अधिक जो मुनिराज पालन करेंगे वह श्रेष्ठ होगे और उनकी आत्मा का कल्याण होगा इसमे सन्देह नही।

स्था० जैन समाज का आश्रय केवल साधु समुदाय पर है इस कारण साधु समाज के प्रश्न को उपेक्षित Ignore नही किया जा सकता। स्था० जैन समाज अधिकारी मुनियो के प्रस्तावित सम्मेलन की ओर आख लगाकर आशा-भरी नजरो से देख रहा है। इस अवसर पर यह आशा करना अनुचित न होगा कि अधिकारी मुनिवर "आचार" तथा उसके सम्बन्धित प्रश्नो के बारे मे स्पष्ट तथा व्यावहारिक निर्णय करेंगे कि जिससे श्रमण सघ के सम्मुख उत्पन्न ज्वलन्त प्रश्न-शिथिलाचार का उचित हल हो सकेगा और ऐसा वातावरण निर्माण हो जावेगा कि हमारा साधु-समाज अपने आचार-विचार के प्रति अधिक जाग्रत होकर अन्य साधुओ के दोष एव उनकी कमियो की अधिक

चिन्ता नही करेगा। वास्तव मे साधुता केवल बाहरी क्रिया-काण्ड पर आधारित नही है अपितु हृदयगत भावनाओ एव सरलता आदि मानवीय गुणो पर अधिक आधारित है। उपरोक्त स्थिति निर्माण होने पर ही श्रमण सघ "यावच्चन्द्र दिवाकरौ" कायम रह सकेगा। जो हमारे रूठे हुए मुनिराज हैं वह तथा जो अभी तक श्रमण सघ मे सम्मिलित नही हुए हैं, वे सब मुनिराज श्रमण सघ मे सम्मिलित हो सकेंगे। हमारे समाज के विचारक, चितक प्रभावशाली मुनिराजो का यह कर्त्तव्य है कि साधु-समाज मे आचार के प्रति शिथिलता न आने पावे। साधु समाज अपनी कमजोरी के प्रति सदैव जाग्रत रहे तब ही ऐसा शुभ दिन आ सकता है कि जब हम भारतीय सस्कृति के ग्रन्थ 'महाभारत' के निम्न श्लोक :—

न राज्यं न राज्यासीन, न दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मैव प्रजा सर्वे रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

के अनुसार यह दावा कर सके कि हमारे साधु-समाज मे प्रत्येक साधु अपने आचार के प्रति सदैव जाग्रत है, इस कारण "दण्ड-व्यवस्था" अथवा "दण्ड प्रदाता" की आवश्यकता नही रह गई है। काश! यह स्वप्न साकार हो सके।

●

८

प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न

जैन आचार का मूलाधार हिन्दी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से प्रारम्भ होने वाले शब्द (१) अहिसा (२) अपरिग्रह (३) अनेकान्त सिद्धान्त पर है। यदि उपर्युक्त सिद्धान्तो का सूक्ष्म विवेचन किया जावे तो जैन आचार का मूलाधार केवल 'अहिसा' पर ही है, ऐसा मत रहेगा। यह मत सत्य भी है। परिग्रह सहित होने मे हिसा तो होती ही है। आर्थिक प्रश्नो के विशेषज्ञ यह भली-भाँति जानते है कि अर्थसचय अन्य का शोषण किये बिना नही हो सकता। इसी कारण विद्वानो ने भी परिग्रह को भी हिसा बताया है। इसी प्रकार बौद्धिक अहिसा हमारा अनेकान्त-सिद्धान्त है। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। यदि कोई व्यक्ति विशिष्ट वस्तुओ के एक दृष्टिकोण को लेकर कोई मत स्थापित करता है, दूसरा व्यक्ति दूसरे दृष्टिकोण को लेकर उससे भिन्न मत स्थापित करता है तो दोनो के प्रति सहिष्णुता का पाठ अनेकान्त-सिद्धान्त पढाता है। तात्पर्य यह है कि अहिसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जिसके द्वारा जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उसमे सम्मिलित है। जैन दर्शन ने 'अहिसा की सूक्ष्मतम व्याख्या की है। जैन दर्शन ने केवल प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, करुणा, दया के भावो का सचार नही किया, अपितु जिनमे 'जीवन' की कल्पना भी हो सकती है, उनको भी पीडा न पहुँचाने का विधान किया। जैन दर्शन ने जगत के चैतन्य प्राणियो को इन्द्रियो की सख्या की दृष्टि से ५ भागो मे विभाजित किया और एकेन्द्रिय प्राणियो को भी पीडा न पहुँचाने का नियम बनाया। जिन प्राणियो को केवल स्पर्शनेन्द्रिय है,जैसे पृथ्वी आदि उनको भी पीडा न पहुँचाने का नियम कितना कठोर है यह सहज मे ही अनुमान किया जा सकता। प्राणी शास्त्र के सिलसिले मे जैन दर्शन ने छः प्रकार काया का विधान किया है। (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय

(५) वनस्पतिकाय (६) त्रसकाय। इसमे क्रमाक १ से लेकर ५ तक स्थावर प्राणी कहे जाते है। चाहे एकेन्द्रिय के नाम पर हों, चाहे स्थावर प्राणी के नाम पर हो, इनको पीड़ा न पहुँचाने का नियम अत्यन्त कष्टप्रद है। यह तर्क आसानी से किया जा सकता है कि पृथ्वी, अप-जल, तेज-अग्नि, वायु, वनस्पति का उपभोग किये बिना मनुष्य किस प्रकार जीवित रह सकेगा। मनुष्य का जीवन ही उपरोक्त बातो पर आधारित है। यदि मनुष्य समस्त प्रवृत्तियो को तिलांजलि देकर एक स्थान पर बैठ जावे तब भी श्वासोच्छवास के कारण वायुकाय के जीवो का नाश होगा। जैन आचारशास्त्र के प्रणेता ने सब प्रकार की जीवहिंसा से विरक्त रहने के लिए साधु समाज को आदेश दिया, आशिक रूप से जीवहिंसा का त्याग करने के लिए गृहस्थ को आदेश दिया। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या साधु भी उपरोक्त हिंसा से पूर्ण रूप से विरक्त रह सकता है? निश्चय नय की दृष्टि से उत्तर 'नकारात्मक' ही होगा। जैन आचार की दृष्टि मे साधु धर्म निवृत्ति मय माना जाता है। वह जगत की समस्त प्रवृत्तियो से अलग होकर जैन आचार शास्त्र के अनुसार अपना जीवन-यापन करते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आचार-शास्त्र के नियमो का पालन करने पर उन्हें आशिक रूप से प्रवृत्तिमय नही होना पडता? यदि हम सूक्ष्मरीति से विचार करें तो हमारा उत्तर 'हकारात्मक' ही होगा। जहा तक मै जैन आचार-शास्त्र प्रणेताओ के मन्तव्य को अपनी अल्पबुद्धि से समझ सका हूं वह यह है कि साधु अपना जीवन व्यतीत करते समय अत्यन्त जागरूक रहकर जीवन-यापन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रवृति-रत रह सकता है। साधु की अनिवार्य आवश्यकताएँ भी अल्पतम हो इसमे सन्देह नही। मैंने इससे पूर्व यह उल्लेख किया है कि साधु के आचार का वर्णन जैन साहित्य के प्राचीन शास्त्र 'आचाराग सूत्र' तथा उसके पश्चात् की एक रचना 'दशवैकालिक सूत्र, मे उपलब्ध है।

'दशवैकालिक सूत्र' मे ग्रन्थकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि:—

"जयं चरे जय चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जय भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बधई॥

साधु-जीवन के प्रत्येक कार्य मे 'यत्न' अनिवार्य बताया गया है। यत्न-पूर्वक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के कार्य करने पर पाप का भागी नही होना पडेगा। दैनिक प्रायश्चित उस अनिवार्य प्रवृत्तिमय दोष का शमन कर देगा। इस विवेक का मार्गदर्शन यदि जीवन मे अपने सम्मुख रखा जाये तो उपरोक्त प्रश्नो का समाधान हो सकता है। साधु जीवन की बात को एक ओर

रख दें तो भी गृहस्थ जीवन मे भी उक्त विवेक आवश्यक है। आज के युग मे गृहस्थ-जीवन मे भी यत्ना व विवेक की कमी हो गई है। आधुनिक विज्ञान साधनो से युक्त मनुष्य के जीवन मे 'शीघ्रता' उचित है, उसका उपयोग भी है। किन्तु अनावश्यक 'शीघ्रता' अनुचित है। 'शीघ्रता' की भी सीमा है। यदि आप किसी बिजली तथा बिजली द्वारा सचालित पखायुक्त स्थान मे बैठे हैं और आपको वहाँ से जाने की आवश्यकता हो गई तो क्या आप यह ध्यान रखेंगे कि बिजली का प्रकाश या पखा द्वारा वायु-सचरण बन्द होने के लिए Switch off कर दें। इसी प्रकार Water pipe द्वारा पानी का अकारण दुरुपयोग रोका जाना जाहिए। गृहस्थ का आठवाँ अणुव्रत 'अनर्थ दण्ड विरमण' बड़ा महत्वपूर्ण है यदि हम उसके सम्बन्ध मे जागरूक रहे तो द्रव्य तथा भाव दोनो प्रकार से लाभदायी होगा, तथा राष्ट्रीय हानि को बचा सकेंगे।

जैन साधु का जीवन साधनामय है, इसमे सन्देह नही। प्रश्न यह है कि क्या जैन साधु से केवल अपनी आत्म-साधना की अपेक्षा की जानी चाहिए या उनसे जगत को सन्मार्ग बतलाने तथा उसके द्वारा पर कल्याण की अपेक्षा भी की जा सकती है? यदि हम अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करें तो यह प्रगट होगा कि उन्होने साधनामय जीवन व्यतीत्त करके 'केवल लाभ' किया। उसके पश्चात् जगत् के कल्याण हेतु उपदेश देना प्रारम्भ किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान महावीर ने जैन साधु से आत्म साधना के साथ साथ पर-कल्याण के कार्य करने की भी अपेक्षा की थी। यह सत्य है कि साधु केवल प्रचारक नही है अपितु अपनी साधना मे अनुभूत मार्ग को कल्याण के लिए प्रकाश मे लाने वाला एक विशिष्ट साधक है। इस कारण उसके जीवन मे प्राथमिकता आत्म-साधना की है। उसके पश्चात पर-कल्याण से उपदेश का कार्य है। ऐसी दशा मे पर-कल्याण के कार्यों मे भी साधु को उपरोक्त विवेक की आवश्यकता है। इस विवेक के अभाव के कारण ही उपदेष्टाओ की वाणी का प्रभाव कम होता जा रहा है। यह एक निश्चित तथ्य है कि यदि उपदेष्टा का जीवन उपदेश के अनुकूल है, उसकी वाणी तथा कार्य मे साम्यता है, तो ही उपदेश का प्रभाव हो सकेगा। इस तथ्य के प्रकाश मे हमारे साधु मुनिराज को भी उपदेश मे विवेक रखना पड़ेगा। इसी प्रकार साहित्य प्रकाशन का प्रश्न है। आज वही साधु मुनिराज की ओर से रचित पुस्तक उसकी उपयोगिता के विचार के बगैर प्रकाशित कराई जाती है। जिसमे समाज की शक्ति, द्रव्य अनावश्यक रूप से व्यय होता है। व्यवस्था यह होना चाहिए कि कोई रचना तैयार होने पर समाज द्वारा नियुक्त साहित्य समिति के पास भेज दी जावे। साहित्य-समिति मे ऐसे विद्वान मुनिराज तथा

श्रावक हों व जो कई विषयो के अधिकारी कहे जा सकें। उस समिति के द्वारा पर्यालोचन के पश्चात् उस रचना का प्रकाशन कराया जावे। दूसरा प्रश्न सस्थाओ के निर्माण का है। लोकोपयोगी कार्यों के लिए सस्थाओ अर्थात् एक से अधिक सस्था का निर्माण समाज की शक्ति तथा द्रव्य का दुरुपयोग है। इस कारण सस्थाओ के निर्माण के लिए भी विवेक की आवश्यकता है। योजनाबद्ध रीति से सस्था का निर्माण होने से समाज की शक्ति केन्द्रित होगी। जिन लोकोपयोगी कार्यों के लिए अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेस सक्षम है उन कार्यों के लिए पृथक संस्था का निर्माण करने से कान्फ्रेस शक्तिहीन होगी। यह पहलू भी विचारयोग्य है। आशा है कि फरवरी मे आयोजित मुनि सम्मेलन इन प्रश्नो पर भी कोई स्पष्ट नीति निर्धारित करेगा। वास्तव मे उपरोक्त विषयो के सम्बन्ध मे हमारा श्रद्धालु श्रावकवर्ग भी विवेक रखे तब उपरोक्त रीति तथा कार्य हो सकेगा। इस दिशा मे हमारी कान्फ्रेन्स को भी मार्गदर्शन करना चाहिये।

●

९

साधु-संस्था और प्रजातन्त्र

कहा जाता है कि भारतवर्ष मे भगवान महावीर तथा महात्मा बुद्ध के युग मे (आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व) मगध (वर्तमान बिहार प्रदेश) मे राज्य का सचालन प्रजातन्त्रीय पद्धति से हुआ करता था। कविवर श्री दिनकर जी ने वैशाली (भगवान महावीर का जन्म स्थान) को प्रजातन्त्र की 'माता' कहा है। उस समय का राजनीतिक इतिहास इतना विस्तृत रूप से उपलब्ध नही है। यदि उस समय का विस्तृत राजनीतिक इतिहास उपलब्ध होता तो यह पता लग सकता था कि उस समय नियन्त्रित प्रजातन्त्र था या पूर्णरूपेण गणसत्तात्मक प्रणाली विद्यमान थी। प्रजातन्त्र की अनिवार्य बुराई है Invoidable evil चुनाव। चुनाव किस प्रकार कराये जाते थे चुनाव मे उत्पन्न बुराइयो का किस प्रकार मुकाबला किया जाता था चुनाव शुद्धरूप हो तथा उपयुक्त व्यक्ति ही चुनाव मे सफलत्ता प्राप्त करे। मतदाता प्रत्येक बालिक व्यक्ति हो सकता था, या मतदाता होने के लिए आर्थिक, शैक्षणिक, अथवा अन्य प्रतिबन्ध विद्यमान है। आदि प्रश्नो का उत्तर उस समय का उपलब्ध साहित्य नही देता, किन्तु इतना निश्चित है कि राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्र मे प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रचलन का कोई सकेत नही मिलता। वर्तमान मे उपलब्ध शास्त्रो मे इस प्रकार कोई उल्लेख नही मिलता कि भगवान ने आचार्य, उपाध्याय पद के लिए सघ को अथवा साधु-साध्वियो को मतदान करने की आवश्यकता बताई है। वास्तव मे भगवान महावीर के तथा उसके पश्चात् काफी समय तक (आचार्य उपाध्याय पद) केवल योग्यता के आधार पर ही दिया जाता रहा। भारतवर्ष मे राजनीति के क्षेत्र मे सन् १९४७ के पूर्व भी प्रजातन्त्रीय पद्धति किसी सीमा तक विद्यमान थी, किन्तु उसे पूर्ण प्रजातन्त्र नही कहा जा सकता। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय असेम्बली के अधिकार सीमित थे। गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल को उक्त असेम्बली के निर्णयो पर Veto की शक्ति प्राप्त

थी। किन्तु सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में पूर्ण प्रजातन्त्रीय पद्धति के लिए अनुराग उत्पन्न हो गया। जीवन के क्षेत्र मे प्रजातन्त्र लक्ष्य हो गया। हमारे देश का सविधान तैयार होकर दिनांक २६-१-५० ई० को सविधान सभा ने पास कर दिया। उक्त सविधान के द्वारा देश मे पूर्ण गण-सत्तात्मक राज्य-स्थापना की गई। देश मे उत्पन्न प्रजातन्त्रीय भावना का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे होने लगा। श्रमणसघ जैसी साधु-सस्था को एक सूत्र में लाने का प्रयत्न चाहे सन् १९३३ के अजमेर सम्मेलन से प्रारम्भ हो गया हो, किन्तु उसे वास्तविक रूप से सन् १९५२ मे आयोजित सोजत साधु-सम्मेलन मे प्राप्त हो सका। सोजत सम्मेलन की कार्यवाही को अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे श्रमण सघ ने अपने सगठन मे चुनाव तथा अन्य प्रजातान्त्रिक पद्धति का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया है। यह सत्य है कि प्रजातन्त्रीय पद्धति आदर्श प्रणाली है और उससे एक प्रकार से किसी प्रश्न के सम्बन्ध मे अनेकान्ती दृष्टिकोण प्राप्त किया जा सकता है। बहुमत दल तथा अल्पमत दल अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तथा मत सख्या के आधार पर उस प्रश्न का निर्णय होता है। वास्तव मे यह पद्धति 'राजनीतिक स्याद्वाद' कहा जा सकता है किन्तु इस प्रणाली मे दोष भी हैं। प्रजातान्त्रिक पद्धति तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि मतदाता प्रबुद्ध तथा सजग, निर्भय न हो तब तक चुनाव स्वतन्त्र नही हो सकता। इस दशा मे काफी मुश्किल है कि उपयुक्त व्यक्ति ही चुनाव मे सफल हो सके। यदि चुनाव मे उपयुक्त व्यक्ति सफल न हो मका और अनुपयुक्त व्यक्ति को विजय श्री मिल सकी तो उन प्रतिनिधियो का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा मे सख्या का प्रश्न मुख्य हो जाता है। Morit का प्रश्न 'गौण'। आज के महान विचारक आचार्य विनोबा जी ने इस युग को 'सख्यासुर युग' नामकरण किया है। हमारे देश के किसी समय के राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त महाकवि डा० इकबाल ने निम्न पक्तियो मे इस अवस्था का चित्रण किया है -

इस राज़ को एक मर्द फिरंगी ने किया फाश।
हालाँ कि मर्देवाना इसे अफशाँ नहीं करते॥
जम्हूरियत एक तर्ज़ हुकुमत है कि जिसमें
बोटो को गिना करते हैं तोला नहीं करते॥"

डा० इकबाल का तात्पर्य यह है कि एक विदेशी ने इस रहस्य को प्रगट किया है कि प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार की सरकार का निर्माण करता है

जिसमे 'वोट' गिने जाते है, तोले नही जाते। यद्यपि इस प्रकार के रहस्य बुद्धिमान व्यक्ति प्रगट नही करते हे। तात्पर्य स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय पद्धति मे सख्या Quantity का महत्व होता है। गुण-दोष का नही। इसके अतिरिक्त इस पद्धति मे और भी कई दोष है जिसका अनुभव अधिकतर राजनीति के कार्यकर्ताओ को होता है जो कि भुक्तभोगी होते है। इस पद्धति मे प्रदर्शन आदि साधनो द्वारा मतदाता अथवा निर्णायक प्रतिनिधियो पर प्रभाव डाला जा सकता हे। यदि पाठको को स्मरण हो तो सन् १९५६ के भीनासर-सम्मेलन के समय ध्वनिवर्धकयन्त्र के प्रश्न पर उत्पन्न वातावरण को refer किया जा सकता हे। कई सज्जनो का यह मत है कि इसी वातावरण के कारण सन् ५६ के सम्मेलन के समय 'ध्वनिवर्धक यन्त्र' के उपयोग की निषिद्धता के सम्बन्ध मे स्पष्ट निर्णय नही किया जा सका था। पाठक यह भी जानते है कि 'ध्वनि वर्धक यन्त्र' के सम्बन्ध मे उत्सर्ग, अपवाद, प्रायश्चित का स्पष्टीकरण न होने के कारण श्रमण सघ की स्थिति विचित्र हो गई। पता नही कि सन् १९५२ मे आयोजित साधु-सम्मेलन के आयोजको अथवा हमारे पूज्य मुनिराजो ने प्रजातन्त्रीय पद्धति को अपनाते समय उस पद्धति के दोषो के निवारण के सम्बन्ध मे कुछ विचार कर लिया था या नही। अथवा केवल युगप्रवाह के कारण यह पद्धति अपना ली गई।

सन् १९ ३ के आयोजित साधु सम्मेलन की कार्यवाही के अवलोकन से विदित होगा कि उस समय प्रत्येक सम्प्रदाय के 'प्रतिनिधि' चुनकर भेजे गये थे। उक्त सम्मेलन मे 'मत्री' के अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित किये गये। यह भी निश्चय किया गया कि समिति (सम्भवत मत्री मुनियो की समिति) के अध्यक्ष नियत किये जायेंगे। समिति की मीटिंग प्रत्येक ५ वर्ष मे की जायेगी। तथा निर्णय सर्वानुमति अथवा बहुमत से होगे। उसके पश्चात् सन् १९५२ के सादडी सम्मेलन के समय इस व्यवस्था मे कुछ परिवर्तन करके, आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री का निर्वाचन करके एक व्यवस्थापक मत्री मडल की नियुक्ति की गई और मत्री मण्डल के सदस्य 'मत्री मुनि' का कार्य विभाजन कर दिया गया। मत्रि मण्डल के एक मत्री मुनि को प्रधानमत्री पद पर अभिषिक्त किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि मत्री-मण्डल का कार्यकाल ३ वर्ष का रहेगा। यदि मत्री-मण्डल मे मतभेद हो गया तो आचार्य श्री निर्णय करेंगे। मत्री-मण्डल की मीटिंग प्रत्येक वर्ष अथवा ३ वर्ष मे करना अनिवार्य होगा और समस्त निर्णय सर्वानुमति अथवा ३।४ बहुमत से हो सकेंगे। उपरोक्त वस्तु स्थिति से यह स्पष्ट है कि अजमेर सम्मेलन मे साधु सस्था श्रमण सघ मे जितनी प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट की गई थी उस व्यवस्था मे सन् १९५२

के सम्मेलन के समय पर्याप्त वृद्धि की गई। सन् १९५२ मे अधिक प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट हो गई। सन् १९५२ मे श्रमण सघ का एक स विधान Constitution भी स्वीकार कर लिया गया। साधु सस्था मे सभवत यह पहला प्रयोग था। जैसी कि अपेक्षा की गई थी यदि उस म त्री-मण्डल की मीटिंग प्रत्येक वर्ष होती रहती तो सभवत निर्णय यथा-समय होता रहता। सन् १९५२ के पश्चात् जहाँ तक मेरी माहिती है केवल एक बार सन् १९५३ मे सोजत तथा सन् १९५६ मे भीनासर मे अधिकारी मुनियो की मीटिंग हुई। उसके पश्चात् लगभग ८ वर्ष मे कोई अधिकृत मीटिंग नही हुई Meet होने का एक दृष्टि से बडा लाभ यह होता है कि परस्पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो पर चर्चा होती है। एक मुनि के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न दूसरे मुनिराज करते है। अजमेर तथा सादडी सम्मेलनो मे इसीलिये प्रत्येक वर्ष Meet होने का नियम बनाया गया था। प्रजातात्रिक पद्धति मे परस्पर मिलने तथा चर्चा का बडा महत्व होता है तब ही कोई Pursualation हो सकता है। उस लम्बे काल मे मत्री-मण्डल की मीटिंग का आयोजन न हो सका। न आचार्य श्री उपाचार्य श्री के शुभ मिलन का अवसर आ सका। जब आचार्य श्री उपाचार्य श्री के अधिकारो का प्रश्न भयकर रूप मे उपस्थित हुआ तब भी उक्त दोनो स्वर्गीय महाविभूतियो के मिलने का प्रयत्न नही हो सका इसमे सन्देह नही कि शारीरिक दृष्टि से यह सभव नही हो सकता था। दोनो स्वर्गस्थ आत्माओ के शरीर की स्थिति ऐसी नही थी कि यह सम्भव होता, किन्तु यह भी निश्चित है कि पत्र-व्यवहार से प्रश्न सुलझने के स्थान पर अधिक उलझा। प्रजातत्रीय पद्धति की यह देन है कि उसमे अधिकार के प्रश्न मुख्य रूप से उपस्थित होते है और हमारे श्रमण सघ मे भी यही हुआ और इस प्रश्न का अन्त स्वर्गीय भूतपूर्व उपाचार्य श्री के श्रमणसघ से सम्बन्ध विच्छेद के साथ हुआ जो समाज के लिये दुर्भाग्य की बात थी। मेरी यह धारणा थी कि यदि दोनो महापुरुष किसी स्थान पर मिल सकते होते तो 'अधिकार' तथा उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नो का निर्णय सरलता मे हो जाता और श्रमणसघ मे पृथक्तावादी मनोवृत्ति का सूत्रपात न होता। इसके अतिरिक्त इस पद्धति का यह भी दोष है कि उसमे गुट-निर्माण होते हैं। Group formation भी इस पद्धति की अनिवार्य बुराई मानी जाती है। मनुष्य मे सरलता के स्थान पर कुटिलता आती है। यदि मुझे क्षमा किया जावे तो हमारे कुछ साधु-मुनिवरो मे घुमावदार जुबानी 'द्व्यर्थक' भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। मैं इसी पद्धति के परिणाम मानता हूँ। हमारे चन्द-साधु मुनिराज आज इसी पद्धति के परिणाम स्वरूप 'कूटनीतिक' होते जा रहे है।

प्रजातान्त्रिक पद्धति के गुण दोषो को अभी यदि एक तरफ रखा जावे तो भी इस पद्धति को अपनाने के लिये एक विशेष प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इस पद्धति मे Tradition परम्परा का बड़ा महत्व होता है। दुर्भाग्य से हमारी श्रमण-सस्था मे अभी इस प्रकार के मानसिक अभ्यास की कमी है। यही कारण है कि यह पद्धति श्रमण-सस्था मे सफल नही हुई और न सफल हो सकेगी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक पदो के समान पद इस सस्था मे निर्माण करना अधिक शोभास्पद नही मालूम होता। यह सब कोई जानते हैं कि मंत्री मण्डल का उत्तरदायित्व (सम्मिलित) Joint Responsibility होती है। मत्री परिषद का अध्यक्ष प्रधान मंत्री सर्वसत्तासम्पन्न व्यक्ति होता है। हमारी श्रमण-सस्था ने प्रजातन्त्रीय पद्धति की किसी परम्परा का निर्वाह नही किया। फरवरी मे आयोजित अधिकारी मुनियो की मीटिंग मे इस मौलिक प्रश्न पर पूरी छानबीन के साथ विचार किया जाना चाहिये कि श्रमण-सस्था मे प्रजा-तन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट होने देना उचित है या नही। यदि उचित है तो किस सीमा तक? भारतीय सघ अथवा प्रदेश रस्म के पदो के समान पदो का नामकरण किस सीमा तक उचित होगा। मेरे नम्र मत से हमारी श्रमण सस्था का सारा आधार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य पर निर्भर हैं। ऐसी दशा मे श्रमण सघ का सारे सगठन का आधार भी यही होना चाहिये। श्रमण सघ को तो किसी पद का निर्वाचन, यदि मतो के आधार पर किया गया तो कोई दुर्भाग्यपूर्ण अवसर ऐसा आ सकता है कि जब उक्त रत्नत्रय की दृष्टि से घटिया किसी मुनिराज को निर्वाचित कर दिया जावे। इसलिये चुनाव की पद्धति अत्यन्त शुद्ध नियत करनी चाहिये। हमारे धर्म-शास्त्रो मे श्रमण-संस्था के पदो के नाम अत्यन्त उपयुक्त अर्थपूर्ण हैं। एक सर्वसत्ता-सम्पन्न (आचार्य) तथा उनके सहायक अन्य शास्त्रीय पद नियत करना चाहिये।

राजनीतिक क्षेत्र का सत्ताविकेन्द्रीयकरण का नारा, श्रमण-सस्था मे अनुपयुक्त है। इसी प्रकार श्रमण-सस्थाओ के बहुमत निर्णय अनुपयुक्त है। श्रमण संस्था के निर्णय सर्वानुमति मे हो तब ही शोभास्पद होवे ऐसा मेरा मत है। अधिकारी मुनि-सम्मेलन इन मौलिक प्रश्नो पर कोई स्पष्ट सामयिक निर्णय करेगा ऐसी आशा अनुचित नही है।

●

१०

साधु-संस्था और आधुनिकता

हमारे देश के महाकवि कालिदास ने कहा है कि:—

पुराणमित्येव न साधु सर्व
नवापि नूनं नवमित्यवद्यम् ।।
सन्त परीक्षान्यतरद् भजन्ते ।
मूढस्तु पर - प्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

महाकवि ने उक्त श्लोक मे नवीन प्राचीन आदि अपनाने के सम्बन्ध मे "विवेक" के उपयोग का निर्देश किया है। यदि प्राचीन अथवा नवीन पद्धति के उपयोग का प्रश्न विवादग्रस्त हो तो "परीक्षा" द्वारा उक्त प्रश्न का निर्णय कर लेना चाहिए। वस्तुत: न तो सब प्राचीन अच्छा ही होता है, न सब नवीन बुरा ही होता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति परीक्षा द्वारा अपने विवेक का उपयोग करता है जबकि मूढ व्यक्ति अधानुकरण करता है। यह कहा जाता है कि हमारे साधु मुनिराजो मे नवीन प्रवृत्तियो के लिए अधिक अनुराग उत्पन्न हो रहा है, यह भी कहा जाता है कि गत कुछ वर्षों मे ध्वनिवर्धक यन्त्र के उपयोग की प्रवृत्ति बढ गई है। यह दोनो बातें किसी सीमा तक सत्य हो सकती है जैसा कि मैंने पूर्व मे उल्लेख किया है। कोई भी धर्म सस्था काल के प्रभाव से नही बच सकती। इसी प्रकार किसी भी धर्म सस्था के नियम, उपनियमो पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। ऐसी दशा मे हमारे साधु-मुनिराज भी उससे अछूते नही रह सकते। वास्तव मे देखा जाये तो यह एक प्रकार से नवीन प्राचीन के सघर्ष मे समाज को काफी विवेकशील रहना पडेगा। प्राचीन का अत्यधिक मोह, नवीन विचार वालो मे विद्रोह की भावना को जन्म देगा और नवीन का अत्यधिक मोह प्राचीनता के हामियो मे घृणा का भाव उत्पन्न करेगा। ऐसी स्थिति मे नवीन-प्राचीन का कोई समन्वयात्मक मार्ग खोजना पड़ेगा। प्राचीन तो अनुभव की कसौटी पर किसी समय

उतर चुका था चाहे समय के प्रभाव से उसमे कुछ परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जा रही हो किन्तु नवीन तो अनुभव की कसौटी पर चढ़ाया ही नही गया ऐसी दशा मे यदि बिना सोचे नवीनता अपना ली गई तो उसके परिणाम भयकर भी हो सकते हैं। गत कुछ वर्षों से प्रकाशन-प्रियता के लोभ मे हमारे श्रद्धालु श्रावको द्वारा अपने विशेष स्नेहपात्र मुनिराजो के फोटो समाचार-पत्रो मे प्रकाशित समाचारो के साथ प्रकाशित होते रहते है। इन समाचार-पत्रो मे प्रकाशित मुनिराज के चित्रो की इस समय विडम्बना होती है जब कि कोई व्यक्ति उक्त समाचार-पत्र को अवलोकन करके लापरवाही से फेंक देता है। श्रद्धालु श्रावको द्वारा अपनाई गई मुनिराजो के फोटो लेने की पद्धति कई वर्षो से आगे है। यह सत्य है कि फोटो के नीचे यह निर्देश देकर अपने कर्तव्य की इति श्री मान ली जाती है कि "यह चित्र केवल परिचय के लिये है" किन्तु कभी-कभी केमरा द्वारा फोटो लेने तथा उसके प्रकाशन मे हमारे प्रकाशनप्रिय मुनिराज की मौन सम्मति होती है। मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि फोटो की पद्धति मे श्रमण सघ के प्रति आदर-भाव घटा ही है। मेरी यह भी स्पष्ट मान्यता है कि अत्यधिक प्रचार से उस वस्तु का आदर, उसका मूल्य कम हो जाता है। जो वस्तु जितनी अधिक सुलभ होगी उसकी प्राप्ति मे उतना ही कम आनन्द होता है। इस सब का यह तात्पर्य नही है कि समाज अपना प्रचार न करे? नवीन प्राचीन का समन्वय आज के युग की माँग है ऐसी स्थिति मे समाज को प्रचार प्रकाशन के सम्बन्ध मे विवेक का उपयोग करना पड़ेगा। समाज के Cause का प्रचार-प्रकाशन उचित है। किन्तु व्यक्ति का प्रचार प्रकाशन यदि अधिक मात्रा मे हुआ तो समाज के अन्य व्यक्तियो मे स्पर्द्धा या ईर्ष्या का कारण होगा।

दूसरी बात, जिसकी ओर हमारे अधिकारी मुनिराजो का ध्यान जाना आवश्यक है वह यह है कि हमारे आधुनिकताप्रिय मुनिराजो के निकट सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति के मन पर स्पष्ट छाप गिरती है कि कई साधु मुनिराजो मे राजनीतिज्ञो जैसी कूटनीतिकता बढ़ गई है। राजनीतिज्ञो जैसी घुमावदार, द्वयर्थक भाषा का प्रयोग, श्रावको के द्वारा उनके आपस के पत्र-व्यवहार की भाषा तक सकेत करते है। ऐसी दशा मे ऐसे साधु मुनिराज के जीवन मे "ऋजुता" का कम स्थान रह जाता है। मुझे खेद होता है जब कभी-कभी आधुनिकताप्रिय मुनिराज को अपने विशेष समारोह के भाषण को रेडियो पर Relay कराने, अथवा उसका Tap record कराने के अथवा टेलीफोन पर राजनीतिक सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियो से अथवा मत्रीगण के बंगलो पर भेंट करने को उत्सुक पाता हूँ। मैंने एक बार एक जैन साधु (अन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित)

को राष्ट्रपति भवन मे राष्ट्रपति के मिलिट्री सेक्रेटरी अथवा निजी सचिव के मेज के पास भेंट का समय निश्चित कराने के लिए खडे हुए पाया है। मैं उस समय स्व० राजेन्द्रबाबू के मिलिट्री सेक्रेटरी स्व० यदुनाथसिहजी के पास निजी परिचय के कारण कुछ चर्चा मे व्यस्त था। मुझे उक्त घटना से बडा दुख रहा। आधुनिकता का अत्यधिक मोह, साधु मुनिराज मे मानसिक अशान्ति का कारण होगा। आज साधारण जनता मे किसी दिन समाचार-पत्रो अथवा रेडियो-न्यूज के अभाव के कारण जो विकलता देखी जाती हे वही बेचैनी किसी दिन हमार साधु मुनिराजो मे देखी जा सकेगी। आधुनिकता से सम्बन्धित कई प्रश्न ऐसे हैं जिनका समन्वयात्मक स्पष्ट निर्णय अधिकारी मुनि सम्मेलन को करना है। अन्यथा आधुनिकता का अधानुकरण हमारी साधु-सस्था को कहाँ ले जायगा नही कहा जा सकता।

यह एक निश्चित तथ्य है कि स्थानकवासी जैन साधु-मुनिराजो का आचार शुद्ध 'अहिसा' पर आधारित है। यह सत्य है कि समय-समय पर 'अहिंसा' की व्याख्या की जाती रही, जिसके कारण अहिसा का क्षेत्र विकसित होता गया। इस कसौटी पर यदि 'ध्वनिवर्धक यत्र' के उपयोग के प्रश्न की परीक्षा की जाये तो निश्चित रूप से यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता हे कि 'ध्वनि-वर्धक यन्त्र, मे सचित्तता है या नही ? ध्वनिवर्धक यत्र ऐसा यत्र है जिसके द्वारा वाणी अथवा ध्वनि का विस्तार होकर श्रोतागण के पास पहुँचती है। इस यत्र के द्वारा कोलाहलपूर्ण स्थान पर भी मनुष्य वक्ता के भाषण को सुन सकता हे। ध्वनि के विस्तार के लिए इस यत्र का उपयोग करने के लिए यह आवश्यक हे कि उसमे विद्युत अथवा बैटरी के द्वारा शक्ति प्रविष्ट की जाय। जब तक उसमे विद्युत अथवा बैटरी द्वारा प्राणसचार न किया जाये तब तक वह यत्र निरुपयोगी रहेगा। ध्वनि वर्धक यन्त्र जब वह Wprking order मे हो सचित होता है या नही ! इस प्रश्न पर अधिकृत रूप से अपनी सम्मति देने के लिए वैज्ञानिक सक्षम होता है किन्तु Common sence मे मुझे इसमे कोई सन्देह नही कि उक्त यन्त्र मे सचित्तता है। इस दृष्टि से मौलिक रूप से ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग शुद्ध अहिसक नही है इसमे कोई सन्देह नही है, किन्तु ध्वनि वर्धक यन्त्र के उपयोग का प्रश्न ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जिसके सम्बन्ध मे श्रमण सघ मे तीव्र मतभेद है यदि यह कहा जाय कि इस प्रश्न ने हमारे साधु मुनिराजो के अन्तर्मन को काफी आन्दोलित कर रखा है तो अत्युक्ति न होगी। सोजत मे दिनाक १७-१-५२ से ३१-१-५२ के अन्तर्गत आयोजित मत्री मुनिवर सम्मेलन मे सचित्ताचित प्रश्न के निर्णय के

सिलसिले मे उक्त यन्त्र के उपयोग के सम्बन्ध मे रोक की गई थी उसके पश्चात सन् १९५६ मे भीनासर सम्मेलन मे उक्त प्रश्न ने अत्यन्त उग्ररूप धारण कर लिया। सन् १९५६ मे भीनासर सम्मेलन के समय इस प्रश्न पर अनिश्चितता रही, इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमण सघ की स्थिति भयकर हो गई तथा श्रमण-सघीय आचार व्यवहार मे एक रूपता नही रह सकी। ध्वनिवर्धक यत्र के उपयोग मे सैद्धातिक दृष्टि से यत्किचित हिसकता होते हुए ही व्यवहारिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करना उचित मालूम होता है।

हमारे देश मे पूर्व मे जैन साधु सस्था केवल उद्यान मे रहती तथा वही पर धर्मोपदेश करती थी। ग्राम तथा नगरो मे उनका शुभागमन केवल आहारादिक अनिवार्य वस्तुओ के प्राप्ति हेतु हुआ करता था। उद्यान, आराम (बगीचो) का वातावरण इतना शान्त गम्भीर होता था कि वहाँ पर कोलाहल का प्रश्न ही उत्पन्न नही हो सकता था। जब से हमारी साधु सस्था ने ग्राम नगरो मे अपना आवास प्रारम्भ किया, स्थिति मे परिवर्तन हो गया उस पर भी गत कुछ शताब्दियो से शहरीकरण हो रहा है ग्राम मे निवास करने वाली आबादी ने अपनी आजीविका आदि कारणो से शहरो की ओर प्रयाम प्रारम्भ कर दिया। गत कुछ वर्षों से हमारे देश मे औद्योगीकरण हो रहा हे इस स्थिति मे यदि कोई यह आशा करे कि ग्राम तथा शहरो का वातावरण शान्त, गम्भीर रहेगा तो यह असम्भव बात होगी। छोटे-छोटे ग्रामो मे भी यत्र-तत्र रेडियो गायन होता रहता है। शहरो मे बाजारो मे सर्वत्र रेडियो गायन-वादन की धूम होती रहती है। हमारे धर्म स्थान ग्राम नगर मे भी होते हैं, वहाँ पर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण वातावरण रहता है ऐसी दशा मे यह स्वाभाविक है कि धर्मोपदेश के समय मुनिराजो की अनिच्छा के बावजूद श्रावकगण इसका आग्रह करे कि ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग किया जावे ऐसी दशा मे मुनिराज के सम्मुख समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसमे सन्देह नही कि ऐसी स्थिति मे सुविधापूर्वक यह तर्क रखा जा सकता है कि यदि श्रावकगण व्याख्यान श्रवण करना चाहते हो तो उन्हे शान्त गम्भीर वातावरण निर्माण करना चाहिये। वास्तविकता यह है कि हमारे मुनिराजगण ने श्रावकगण मे क्या ऐसी स्थिति निर्माण कर दी है कि धर्म स्थानको मे ऐसी शान्ति रह सके जैसी की ईसाइयो के गिरजाघरो मे रविवार को प्रार्थना के समय रहती है। वास्तव मे हम लोगो मे धर्म श्रद्धा की कमी है। ऐसी स्थिति जब तक उत्पन्न न हो जावे तब तक हमे इस प्रश्न का भी व्यावहारिक हल खोजना चाहिये। हमारे मुनिराज केवल धर्म प्रचार की दृष्टि से ही तो पुस्तको, ग्रन्थों की रचना करते है तथा उसे मुद्रण कराने की स्पष्ट अथवा मौन स्वीकृति देते हैं यह अज्ञान जनता के प्रति

उनके दयाभाव का सूचक है। आगामी फरवरी मे आयोजित सम्मेलन मे श्रमण सघीय अधिकारी मुनिराजो को ध्वनिवर्धकयन्त्र के सम्बन्ध मे स्पष्ट निर्णय लेना चाहिये कि श्रमण सघीय मुनिराज किन-किन समारोहो मे, धार्मिक पर्व के समय उस यन्त्र का उपयोग कर सकते है। इसी प्रकार व्याख्यान सभा मे कितनी उपस्थिति हो तब उक्त यन्त्र का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के उपयोग के लिए "आपवादिक नियम" तथा "प्रायश्चित का विधान" निश्चय कर देना चाहिये। इसमे सन्देह नही कि उक्त यन्त्र का उपयोग स्वच्छन्दता के साथ करना अनुचित है जबकि व्याख्यान सभा मे उपस्थिति कम हो। कोई कोलाहल न हो, न कोई समारोहात्मक अवसर हो। ऐसी परिस्थिति मे उक्त यन्त्र के उपयोग के औचित्य की कभी सिद्धि नही की जा सकती। इसी प्रकार अन्य आधुनिक साधनो का उपयोग साधु मुनिराज किस सीमा तक कब कर सकेंगे और यदि उनका उपयोग सदोष है तो उन्हे क्या प्रायश्चित लेना होगा आदि प्रश्नो का स्पष्ट निर्णय होना चाहिये।

'ध्वनिवर्धकयन्त्र तथा आधुनिक साधनो के उपयोग का प्रश्न भी साधु मुनिराज के आचार-व्यवहार का प्रश्न है। साधु मुनिराज के व्यवहार की मर्यादा स्पष्टरूप से निश्चित की जानी चाहिये। इसमे सन्देह नही कि मर्यादा समय-समय पर आवश्यकतानुसार सशोधित होती रहती है। जैसा कि मैंने पूर्व मे कहा, साधु दिन मे केवल एक बार आहार प्राप्ति (गोचरी के लिये) जाया करते थे। उसके पश्चात् दिन मे दो बार जाने की पद्धति प्रारम्भ हो गई। इसी प्रकार वस्त्र सम्बन्धी तथा अन्य विषय के उदाहरण दिये जा सकते हैं। विद्वानो का मत है कि भगवान पार्श्वनाथ का सघ सचेल धर्म-पालन करता था तथा भगवान महावीर का सघ अचैल धर्म-पालन करता था। जैन साहित्य के प्राचीनतम शास्त्र 'आचाराग सूत्र' के निर्देश तथा आज की सचेलावस्था की तुलना करने पर आश्चर्यचकित होना पडता है। भगवान महावीर का अचेलक धर्म किस प्रकार सचैलक हो गया इस स्थिति मे शनै शनै किस प्रकार परिवर्तन हुआ यह एक इतिहास का प्रश्न है जो स्वतन्त्र लेख का विषय हो सकता है। किन्तु सैद्धान्तिक रूप से इतना निर्विवाद है कि नग्नावस्था अपरिग्रहवाद की चरमसीमा है। मनुष्य के लिए आहार उतना अनिवार्य नही है जितना वस्त्र। कोई जब तक पूर्ण रूप से निर्विकारी न हो, नग्न रहने की हिम्मत नही कर सकता। यह एक अलग बात है कि समाज ने साधुओ के नगर तथा ग्राम निवास अथवा अन्य कारणो से परिमित वस्त्र परिधान आवश्यक मान लिया हो। तात्पर्य यह है कि साधु मुनिराज के मूल नियम अटल, अचल रहते हुए भी उपनियमो मे सदैव आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। जैसा

मैंने पूर्व मे उल्लेख किया है। साधु मुनिराज के आचरण की मर्यादा अल्प की जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कम से कम अमुक मर्यादा पालन प्रत्येक साधु मुनिराज के लिए अनिवार्य होगा। अल्प मर्यादा-निश्चय करने के पश्चात् उसके पालन के लिए कड़ा नियत्रण आवश्यक है। अल्प मर्यादा-निश्चय करने की भावना रहेगी कि मनुष्य मनुष्य है। उसे इसी जीवन मे देवता बनाने का प्रयास उसकी स्वेच्छा से ही सफल हो सकता है यदि उसे अनिच्छापूर्वक देवता बनाने का प्रयास किया गया तो मानवीय कमजोरी के कारण उसमे ढोंग प्रवेश करेगा, वह शिथिलाचारी बनेगा।

११

क्या नग्नत्व एकान्त अश्लीलता है ?

हमारे देश का प्रसिद्ध उत्तेजनात्मक सामग्री प्रस्तुत कर्ता अग्रेजी समाचार पत्र "ब्लिट्ज' दिनाक ३-६-६१ के अक को देखने का मुझे अवसर मिला जिसमे उक्त समाचार पत्र ने अपने पृष्ठ तीन पर Let misguided shanti sanik ledise शीर्षक से अपने Delhi Bureau का Despatch प्रकाशित किया उक्त Despatch मे उक्त पत्र ने सर्वोदयी कार्यकर्ताओ (शान्ति सैनिको) को अप्रत्यक्ष उपदेश देने का प्रयत्न किया है और उनके द्वारा सचालित 'अश्लील' पोस्टर विरोधी आन्दोलन, पर व्यग करते हुए उसकी नि:सारता सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है और इस बात पर भी ध्यान दिलाया है कि अश्लील पोस्टर्स के बजाय देहली मे अनेक स्त्रियों द्वारा बदित 'नग्न साधु' अश्लीलता की साक्षात मूर्ति है ।

उक्त Despatch को पढ कर यह स्पष्ट रूप से समझ मे आ सकता है कि हमारे फिल्म व्यवसायियो की देश सेवाओ से प्रभावित होकर उक्त पत्र के सवाददाता महोदय ने उनकी सेवाओ से वचित करने वाले इस आन्दोलन के प्रति अपनी 'नाराजगी' जाहिर की है,न केवल इतना ही, अपितु उसने शिकायत की है कि कुछ समाचार पत्रो ने फिल्म व्यवसाइयो के पोस्टर्स प्रकाशित करने से इन्कार कर दिया है । देश के सुशिक्षित वर्ग को यह भली भाति समझ मे आ चुका है कि हमारे सामाजिक जीवन मे जो कई खराबिया आ गई है उसका उत्तरदायित्व सिनेमा फिल्मो पर कम नही है, यही कारण है कि कुछ वर्ष पूर्व से देहली की माता, बहिनो ने केन्द्रीय शासन से माग की थी कि फिल्म्स का भावी नागरिकों (बच्चो) पर कुप्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए अश्लील फिल्म्स पर रोक लगाई जावे । अश्लील पोस्टर्स नही लगाये जाने चाहिये यह निर्विवाद है कि इस आन्दोलन को देश के महान् विचारक तथा सर्वोदय आन्दोलन के प्रणेता युग पुरुष आचार्य विनोबा भावे का आर्शीर्वाद प्राप्त है । स्वय

उक्त पत्र अश्लील पोस्टर्स की अनुचितता को इन्कार नही करता। यह मतभेद का विषय हो सकता है कि कौनसा पोस्टर 'अश्लील' है। इसमे सन्देह नही कि 'अश्लीलता' का भारतीय माप-दण्ड तथा विदेशी माप-दण्ड पृथक-पृथक है। उक्त पत्र यदि विदेशी माप-दण्ड का हामी है तो उसकी नजर मे सम्भवत कोई पोस्टर ही अश्लील न हो बहरहाल उक्त पत्र को अपने विचारो से भिन्न विचार रखने वालो के प्रति इतना अनुदार नही होना चाहिये।

उक्त Despatch मे 'नग्न साधु' का जिक्र आया हैं। उक्त सवाददाता महोदय का 'नग्नता' का मूल्याकन करने मे भ्रम हुआ है कामोत्तेजक दृश्य उपस्थित करने वाले नग्न चित्रो की श्रेणी मे ही वीतराग की प्रतिमूर्ति 'साधु' को रखा जाना उपयुक्त है ? 'साधु' दिगम्बर होता है। अर्थात दिग् (दिशाएँ) जिसका अम्बर (वस्त्र) है जैसा, वीतरागी, नग्नता अपरिग्रहवाद की चरम सीमा है। वास्तव मे तो पापो को छुपाने के लिये आवरण की आवश्यकता होती है उसी का माध्यम वस्त्र है। जो मनुष्य बच्चो जैसा निष्कपट, निर्विकारी है उसे आवरण वस्त्र की आवश्यकता नही है। जिसके हृदय मे जरा-सा भी विकार विद्यमान है वह नग्न रहने का साहस नही कर सकता। मानव मे जो कमजोरिया है उनका आवरण करने के लिये वस्त्रो की आवश्यकता अनुभव की गई। एक बार पूज्य विनोबाजी ने कहा था कि लोग अनाज को अनिवार्य मानते है मेरे मत मे अनाज से भी आवश्यक वस्त्र है। मनुष्य अनाज के बिना एक दो दिवस रह सकता है किन्तु वस्त्र के अभाव मे एक क्षण भी नही रह सकता, कारण स्पष्ट है कि मनुष्य विकार का पुतला है।उसे अपनी कमजोरियो को छुपाने के लिये 'वस्त्र' परिधान अनिवार्य है किन्तु साधु मुनिराज विकार-रहित जीवन व्यतीत करते है वह अपरिग्रही है इस कारण वह बच्चे जैसे निर्विकार जीवन व्यतीत करते है, यह नग्न रहते है अथवा सीमित वस्त्रो का उपयोग करते है वास्तविकता तो यह है कि दिगम्बरत्व साधु जीवन का आदर्श है।

उक्त पत्र के सवाददाता महोदय ने भारतीय हिन्दू धार्मिक समाज के हृदय को गहरी ठेस पहुचाई है। साधु मुनिराज के जीवन का मूल्य नही समझा है। सच तो यह भौतिकवादी युग मे साधु जीवन का रहस्य समझने का प्रयत्न ही उक्त सवाददाता ने नही किया। कदाचित उक्त पत्र के सवाददाता को अपनी बुद्धि से सोचने का अवसर प्राप्त होगा तो उसे अपने Despatch पर खेद होगा।

पत्र के सम्पादक महोदय को भी (जिन्होने ऐसे Despatch को अपने पत्र मे स्थान दिया) भारतीय सस्कृति के प्राचीन उदात्त तत्वो के प्रकाश मे पुर्नानरीक्षण करने पर अवश्य ही अपनी भूल अनुभव होगी। वास्तव मे पाखड

और ढोंग ढकोसलो के इस युग मे सच्ची दिगम्बरता को परखना और उसके महत्व से जन साधारण को परिचित कराना विवेकशील पत्रकार का ही पावन कर्तव्य है। यदि वही इस प्रकार की मखौल उडाने वाली भाषा का औचित्य मानने लगें और 'सब धान बाइस पसेरी' समझ कर निर्विकारिता को भी विकार से ही सश्लिष्ट रूप मे चित्रित करने लगे बल्कि इस काल्पनिक आधार पर ही नैतिकता को प्रस्थापित करने वाले सर्वथा सामयिक एव समुचित आन्दोलन की व्यगात्मक कटु आलोचना अपने पत्र द्वारा करने लग पड़े तो जन जीवन की उन्नति के लिये यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण घटना होगी, स्वय पत्रकार के लिये तो ऐसा करना लज्जाजनक, अशोभनीय एव कर्तव्य पराङ्मुखता का द्योतक है ही, यह कहने की आवश्यकता नही।

अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि सिनेमा पोस्टरो के विरुद्ध हो रहे इस आन्दोलन के काफी समय पहिले केलेन्डरो आदि मे नारी का कामोत्तेजक ढग मे अकन करने का विरोध होने पर हमारे बडे-बडे राष्ट्रीय नेतागण ने व्यवसायी वर्ग की स्वार्थान्धता के कारण होने वाली इस अनैतिक कार्य प्रणाली की कडे शब्दो मे निन्दा की थी और उनके पोस्टर के भी अन्य व्यवसायीगण के द्वारा प्रचलित कलेन्डर का ही बृहद् विराट रूप है, जो अश्लीलता कैलेन्डरो पर होने की दशा मे निन्दनीय मानी जाती है वही पोस्टर के रूप मे प्रशसनीय किस प्रकार हो सकती है ? सच पूछा जाय तो सिनेमा व्यवसाइयो की कुटिल चातुरी का ही एक प्रमाण है कि उन्होने ब्लिट्ज जैसे पत्रो को अपने स्वार्थ साधन हेतु अश्लील पोस्टरो के पक्ष मे कहने के लिये रहस्यमयी कोशिश द्वारा उद्यत कर लिया है और देहली के जो दो तीन दैनिक पत्र उनके कुप्रभाव मे नही आ सके उन बेचारो की भर्त्सना भी ब्लिट्ज ने उसी प्रवाह मे कर डाली है। अस्तु, हम कामना करते हैं कि हमारे सिनेमा व्यवसायियो को राष्ट्रीय चरित्र के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो और सभी पत्र (चाहे वे अग्रेजी, हिन्दी या किसी भी भाषा के हो) भारत के प्राचीन सस्कृति और तदाधारित नैतिकता के पुरस्कर्ता एव प्रचारक प्रसारक बन सकें।

१२

भारतीय जीवन में सन्यास-परम्परा

हमारा भारतवर्ष धर्म प्रधान देश रहा है, उसने मानवजीवन का लक्ष्य केवल लोकैषणा, वितैषणा, पुत्रैषणा तक ही सीमित नही रखा है अपितु उसने मानव जीवन की सफलता आध्यामित्क इकाईयो से नापी है, इसी प्रकार भारतीय धर्मों ने पारलौकिक विचारो को अपनी तत्वविद्या मे अधिक स्थान दिया है यह तत्व इससे परे हैं कि विश्व मे जितने प्राणी है उनमे मानव का स्थान सर्वोपरि है। "नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्" की उद्घोषणा ने मनुष्य की गरिमा का महत्व प्रतिपादन किया है। जैन साहित्य के अनुपम आगम "उत्तराध्यन सूत्र" मे "मनुष्यत्व" की प्राप्ति अति कठिन बताई है। यही नही सारा विश्व भगवान महावीर का ऋणी रहेगा। उन्होने तत्कालीन "देववाद" का निराकरण करते हुए स्पष्टरूप मे घोषित किया था कि मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और किसी भी प्राणी को मानव-शरीर से ही मोक्ष प्राप्ति सभव है, चाहे देव हो उसे भी मोक्ष प्राप्ति के लिये मानव-भव मे अवतरित होना पड़ेगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारतीय जीवन मे सन्यास की परम्परा का आविर्भाव हुआ। यह सत्य है कि जैन साहित्य मे यदा-कदा ऐसे उदाहरणो का उल्लेख है कि जिसमे किसी गृहस्थ मनुष्य को भी भावो मे अत्यधिक निर्मलता होने पर मोक्ष प्राप्ति हुई है किन्तु ऐसे उदाहरण अधिक नही है। तात्पर्य यह है कि केवल जैन साधना प्रणाली मे ही सन्यास की परम्परा नही है। अपितु भारतीय समस्त धर्मो मे बल्कि अधिक स्पष्ट कहा जावे तो विश्व भर के कई धर्मों मे सन्यास-परम्परा का महत्व बताया गया तथा उसको जीवन-लक्ष्य पूर्ति का एक महत्व पूर्ण साधन माना गया।

यह सत्य है कि वेद-कालीन ऋषि गृहस्थ होते थे। उनके आश्रम, पत्नी, सतान सब होता था किन्तु यह कहा जाता है कि आद्य शंकराचार्य जी ने वैदिक परम्परा मे सन्यस्त जीवन का सूत्र-पात किया और उसका आदर्श "करतल भिक्षा, तरुतलवास" (हाथ मे भोजन तथा वृक्ष के नीचे रहना) जैसा प्रकृति आश्रित रखा। जैन परम्परा मे तो भगवान ऋषभदेव के काल से ही सन्यास परम्परा चली आ रही है। बौद्ध परम्परा मे भी भगवान बुद्ध के काल से ही सन्यास जीवन का सूत्र-पात हो गया, और वह "भिक्षु" कहे जाने लगे। वास्तविकता यह है कि श्रमण परम्परा के विभिन्न पुरस्कर्ताओ ने सन्यास जीवन का महत्व बताकर उसका प्रारम्भ किया जो देश के सामान्य मानव से लेकर प्रतिष्ठित वर्ग तक की श्रद्धा का केन्द्र बना तथा सारे देश मे पाद-विहार करते हुए मानव समाज मे आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना मे योगदान दिया तथा मानव समाज मे सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा दी। यदि हम इस्लाम तथा ईसाई सतो, के जीवन की ओर देखें तो उनके यहाँ पर भी सन्तो ने इस दिशा मे बहुत सा कार्य किया है। किन्तु इस सबका विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित नही है।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि वैदिक परम्परा मे मानव जीवन के चार आश्रम बताकर आयु विचार करके यह निश्चय किया गया कि मानव जीवन के अन्त मे चौथा आश्रम सन्यस्त जीवन होगा। किन्तु यह प्रश्न विचारणीय रहा कि यदि किसी व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर इतना ऊँचा हो कि जिसके कारण अपनी पूर्वीय अवस्था मे ही सन्यास लेना चाहे तो उसकी आयु बाधा स्वरूप क्यो होनी चाहिए? और फिर अवस्था का क्या भरोसा और इस कारण जैन परम्परा मे सन्यास जीवन प्रारम्भ करने के लिये कोई अवस्था निश्चित नही की गई। यह सत्य है कि वैदिक परम्परा मे भी स्वय आद्य शकराचार्य जी तथा उनके पश्चात्वर्ती कई विशिष्ट प्रतिभाओ ने अल्पायु मे सन्यास जीवन प्रारम्भ कर दिया और उन्होने अपनी प्रतिभा के बल पर देश के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। इसी प्रकार जैन सन्यास परम्परा के कई जाज्वल्यमान नक्षत्रो ने अपनी आत्म-साधना के साथ-साथ भारतीय जन जीवन को प्रभावित करके आध्यात्मिकता का रस वर्धन किया। भारतीय जन जीवन मे सन्त परम्परा का जो स्थान है वह परमादरणीय है और वह लाखो लोगो के श्रद्धा के केन्द्र हैं।

सप्तम आयाम

दर्शन और धर्म

दर्शन

(१) जीवन-शुद्धि की दो पाखें-अहिंसा और अनेकांत
(२) अहिंसा का क्षात्र-तेज
(३) स्याद्वाद बौद्धिक अहिंसा
(४) अनेकान्तवाद और साम्प्रदायिक सहिष्णुता
(५) स्याद्वाद-सिद्धान्त और हम
(६) श्रद्धा बनाम तर्क
(७) धर्म और विज्ञान
(८) जैनदर्शन मे ईश्वर

धर्म

(१) अनास्था से आस्था की ओर
(२) सच्ची पूजा
(३) सम्प्रदाय और धर्म मे अन्तर
(४) भारतीय दर्शनो मे 'वैराग्य' का स्थान
(५) प्रार्थना और सामायिक
(६) तपस्या और उसका महत्व
(७) णमोक्कार मंत्र
(८) क्षमा-वणी पर्व और हमारा दायित्व
(९) जैनधर्म का समाजवादी स्वरूप
(१०) सामाजिक तथा आर्थिक न्याय
(११) विश्वधर्म सम्मेलन-एक भेंट वार्ता

☐ A Lecture at ceylon

१

अहिंसा और अनेकांत

मानव जीवन मे धार्मिक पर्वो का विशेष महत्व है। वैसे धार्मिक पर्वों के अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा सामाजिक पर्व भी मानव जीवन मे महत्व रखते हैं किन्तु मानवजीवन मे जो महत्व धार्मिक पर्वों को प्राप्त है, वह महत्व अन्य पर्वों को नही। कारण इसका एक ही है कि धर्म मनुष्य को छूता है वह हृदयस्पर्शी होता है जिससे मनुष्य अपने जीवनशुद्धि की बात सोच सकता है और यथाशक्ति उस पर अमल करना प्रारम्भ करता है। धर्म की व्याख्या प्राचीन ग्रन्थो मे जो की गई कि 'यतो अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्ति. स धर्म,' जिससे आत्मा का अभ्युदय हो, आत्मा श्रेय मार्ग को प्राप्त करे, उसे धर्म कहा जाता है। यही कारण है कि भारतवर्ष मे मनुष्य जीवन मे जो स्थान धार्मिक पर्वों को प्राप्त है उतना महत्व अन्य पर्वो को प्राप्त नही हो सका। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो मनुष्य के जीवन के साथ धर्म का अविभाज्य सम्बन्ध है। इसी बात को दृष्टिगत रखकर जैन धर्म मे धर्माराधन के लिए विशेषरूप से पर्युषण पर्व निश्चित किया। जैन समाज मे पर्युषण पर्व मे पुरुष तथा स्त्री जीवन शुद्धि की भावना को लेकर अत्यन्त उल्लास के साथ मनाते हैं। धार्मिक तथा श्रद्धालु बुद्धि के लोग पर्युषण पर्व मे श्रद्धापूर्वक व्रत, नियम आदि का पालन करते तथा विभिन्न प्रकार की तपस्या करते है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे यह पर्व लगभग एक सप्ताह "पर्युषण पर्व' के नाम से मनाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे यह पर्व "दशलक्षण पर्व" के नाम से लगभग दस दिनतक मनाया जाता है और अपनी मान्यता के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी इस पर्व के दिनो मे धर्माराधन करते हैं। यह सर्वमान्य बात है कि जैसे जैसे समय बीतता जा रहा है कही कही हमारा यह पर्व भी एक प्रथा का रूप ग्रहण करता जा रहा है। यह भी निश्चित है कि जब किसी प्रथा तथा रूढि के कारण कोई पर्व मनाया जाय

तो इसमे वह तेज नही रह पाता अपितु मनुष्य प्रथा तथा रूढ़ि के नाम पर उसको मनाता है। वास्तव मे इस प्रकार के उत्सवो मे धर्म की भावना कम रह पाती है रूढि का बाहुल्य होता है। यही कारण है कि हमारे समाज मे धार्मिक उदात्त सिद्धान्तो की शिक्षा प्राप्त होने के पश्चात् भी जीवन-शुद्धि का प्रश्न लगभग जैसा का तैसा रह जाता है। वैसे तो यह स्थिति केवल जैन समाज की नही अपितु अधिकतर समाज की स्थिति है। आज देश मे धर्म के नाम पर धार्मिक भावना का नही अपितु रूढियों का प्रचलन है। हम धर्म की आत्मा को नही छूते अपितु उसके कलेवर को झकझोरते है। धर्म के नाम पर ढोंग-आडम्बर सबका प्रचलन हो रहा है। इसी बात को लक्ष्य करके उर्दू मे एक कवि ने कहा था कि---

मस्जिद तो बना दी पल भर मे,
ईमा के हरारत वालो ने;
मन वही पुराना पापी रहा,
वर्षो में नमाजी हो न सका।

आवश्यकता इस बात की है कि हम पर्यूषण पर्व मे जो प्रेरणा प्राप्त करें उसे वर्ष भर तक निभायें। केवल धर्म स्थान पर नियत समय तक व्रत, नियम का पालन करके कर्तव्य की इतिश्री न समझें अपितु धर्म के सिद्धान्त और उसकी भावना भी अपने जीवन मे उतारें। तात्पर्य यह है कि धर्मस्थान पर धर्माराधन करने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि हम अपने दैनिक जीवन मे प्रमाणिक हो और जीवन शुद्धि का ध्यान रखें। यदि हम अपने जीवन मे शुद्धि चाहते है तो यह आवश्यक है कि हम अहिसा तथा अनेकातवाद का मार्ग ग्रहण करे। भगवान महावीर ने अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त को जितना महत्वपूर्ण बताया यदि हम उसकी भावना के साथ अपने जीवन मे अहिंसा तथा अनेकान्त को स्थान दे तो निश्चय पूर्व हमारी जीवन शुद्धि हो सकती है।

हमारे जीवन मे आचार मे अहिसा और विचार मे अनेकान्त आ जाय तो निश्चयपूर्वक जीवन-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। दुर्भाग्य से अभी तक की प्रचलित मान्यताओ के कारण समाज मे अहिसा को कायरता का समकक्ष माना जाता रहा है। यदि यह कहा जाय तो अधिक सत्य होगा कि समाज मे अहिंसा को वीरतासूचक कहने के साथ-साथ अमल इस प्रकार का रहा कि जो कायरता को प्रश्रय देने वाला था। जबकि जैन धर्म का इतिहास स्पष्ट रूप से बताता है कि अहिसा कायरता नही अपितु वीरतासूचक है। भगवान महावीर ने स्वय अनेक प्रकार के कष्ट का मकाबला

करके उस बात को बताया कि जिसमे अपूर्व सहनशक्ति हो वही अहिंसक हो सकता है। उन्होने परिषहो के समक्ष पलायन वृत्ति नही बताई अपितु डटकर परिषहो को सहन किया। महात्मा गाधी ने एक समय स्पष्ट रूप से कहा था कि यदि मुझे हिसा और कायरता मे चुनाव करने के लिये कहा जाय तो मैं हिसा को पसन्द करुगा। दूसरी बात यह भी ध्यान मे रखने के योग्य है कि अहिसा का तात्पर्य केवल प्राणहरण न करना अथवा पीडा न पहुँचाना नही है अपितु यदि हम किसी व्यक्ति का आर्थिक शोषण करते हैं तो यह भी हिंसा ही कही जायगी। आज के इस विकासशील युग मे आर्थिक समता तथा सामाजिक समता भी अहिसा की परिभाषा मे आती है और इसी प्रकार यदि अपने से भिन्न विचार वाले के प्रति न्याय करना चाहते हैं तो हमे अनेकान्त का सिद्धान्त अपनाना पडेगा। किसी प्रश्न विशेष पर हमारे दृष्टिकोण के अतिरिक्त भिन्न विचार, भिन्न दृष्टिकोण भी हो सकता है। यह एक निश्चित सत्य है और इसी कारण भगवान महावीर ने अनेकान्त, स्याद्वाद-सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार सिद्धान्त के कारण हम परस्पर भिन्न विचारधाराओ का समन्वय कर सकते है। किन्तु दुर्भाग्य है कि अनेकान्त तथा स्याद्वाद का हामी जैन समाज अपने आन्तरिक मतभेदो का समन्वय नही कर सका। दुर्भाग्य यही समाप्त नही होता अपितु जैन समाज के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायें भी अपने अन्तर्निहित मतभेदो का समन्वय नही कर सकी। आज जैन समाज के अन्तर्गत किसी भी सम्प्रदाय के इतिहास को लीजिए, उसमे विभिन्न विचारधाराएँ है, उपसम्प्रदाय है, उनमे एकसूत्रता नहीं है और यही कारण है कि जैनसमाज की शक्ति इस आपसी मतभेद तथा तज्जनित विषम वातावरण मे व्यय होती है। जैन समाज की सर्वांगीण उन्नति की ओर शक्ति लगाने का ध्यान भी नही जाता। अच्छा हो, हम पर्युषण पर्वाधिराज के इस मगलमय अवसर पर आत्म-निरीक्षण करें, और देखें कि हमारे मन मे साम्प्रदायिक अहकार तो व्याप्त नही है। यदि वास्तव मे ऐसा है तो हमे अपने आत्मनिरीक्षण के समय इस अहकार को समाप्त करने के लिये कटिबद्ध होना पडेगा।

यदि हम पर्युषण पर्वाधिराज के इस मगलमय अवसर पर जीवनशुद्धि की दो पाखें 'अहिसा और अनेकान्त' पर गहरा विचार कर सकें और उनकी आत्मा को किंचितमात्र अपने जीवन मे उतार सकें तो हमारा पर्युषण पर्वाराधन सफल होगा, इसमे सन्देह नही। आचार्य अमितगति के शब्दो मे हमारी भावना यह हो कि —

सत्वेषु मैत्री, गुणिषुप्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ-भाव विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

२

अहिंसा का क्षात्रतेज

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व के प्रत्येक धर्म मे 'अहिंसा' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है किन्तु फिर भी अहिंसा व्रत के सम्बन्ध मे विस्तार की बातो मे न्यूनाधिक भेद है। किसी महापुरुष के मत मे अहिंसा-व्रत का पालन केवल मानव जाति तक सीमित रहा, किसी के मत मे पशु-पक्षी तक विस्तार पाया किन्तु जैन धर्म जितनी सूक्ष्मता के साथ अहिंसा-व्रत के सम्बन्ध मे चिंतन हुआ उतना किसी अन्य धर्म ग्रन्थो मे नही पाया जाता। जैन-धर्म मे अहिंसा केवल प्राणी-जगत तक ही सीमित नही है। अपितु जहाँ-जहाँ चैतन्य की सभावना है वहाँ तक उसका विस्तार किया गया। यदि हम दूसरे शब्दो मे कहें तो जैन-धर्म का प्राण 'अहिंसा' है। जैन-धर्म के पुरस्कर्ता तीर्थंकरो ने अहिंसा के क्षेत्र मे बौद्धिक अहिंसा को भी सम्मिलित कर दिया और अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया इसलिये जैन-धर्म का परिचय देने के लिए एक जैनाचार्य ने कहा था:—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैनधर्मस्तदुच्यते॥

यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो पूर्ण अहिंसक होना या अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना असभव है। केवल जैनधर्म ही नही, आज का विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि सब मे जीव है। यह लोकाकाश जीवयोनि से व्याप्त है, ठसाठस भरा हुआ है। ऐसी दशा मे किसी के लिये (चाहे साधु ही क्यो न हो) पूर्ण रूप से अहिंसक होना असम्भव है। यह पृथक् बात है कि जीवनयापन के लिए जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है उसमे साधु का द्वेष नही हो तो इस कारण कर्मबध चाहे न हो किन्तु हिंसा तो है ही। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की हिंसा की नही जाती, अपितु हो जाती है। इसलिए भगवान महावीर ने हिंसा के सम्बन्ध मे और अधिक गहराई मे जाकर श्रमण-वर्ग के जीवनयापन का

तरीका इस प्रकार का निश्चित किया कि जिसमे केवल अनिवार्य हिंसा ही हो सके, शेष समस्त प्राणि-जगत के लिए वह पूर्ण अहिंसक रहे। गृहस्थ के लिए भी कुछ-कुछ प्रावधान किये किन्तु भगवान महावीर तथा उनके पश्चाद्वर्ती समर्थ आचार्यों के पश्चात् कई शताब्दियो से अहिंसा की व्याख्या केवल 'नकारात्मक' करने तथा हिंसा न करने पर व्रत पालन को पर्याप्त मान लिया गया। प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार अहिंसा के सम्बन्ध मे केवल नकारात्मक रुख अपना कर सन्तोष कर लेना उचित है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि क्या इस प्रकार अहिंसा का जो विधायक स्वरूप है उसका पालन करना एक अहिंसक के लिये आवश्यक नही है। यह एक शका से परे बात है कि इस प्रकार के नकारात्मक रूप के कारण जैन समाज की अहिंसा प्राणहीन होती जा रही है। उसमे क्षात्रतेज का अभाव है। एक अहिंसक उपरोक्त हत्या, अन्याय-अत्याचार बरदास्त करके सतोष अनुभव कर लेता है कि उसने व्रत पालन कर लिया। यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अन्याय-अत्याचार को बरदाश्त करने वाला भी पापी होता है। आवश्यक है कि वह उसका प्रतिकार (चाहे अहिंसात्मक रूप से ही सही) करें तब ही अहिंसा का क्षात्रतेज प्रगट होगा, वह तेजस्वी होगी। अभी-अभी सितम्बर १९७१ की मासिक पत्रिका "अमर भारती" मे भारतीय दर्शनो के अपूर्व व्याख्याकार कविवर श्रद्धेय श्री अमर मुनि का जो एक चिन्तन पूर्ण लेख प्रकाशित हुआ जिसमे उन्होने अहिंसा के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार व्यक्त करते हुए भारतीय समाज का ध्यान आकर्षित किया है कि क्या तात्कालिक समस्या (पूर्व बगाल) के सम्बन्ध मे तथा-कथित धार्मिक उपदेशक मुनिराजो का इस प्रकार तटस्थ दर्शक रहकर 'मौन, साधना' उचित कहा जा सकता है ?

इस परिप्रेक्ष्य मे यह प्रश्न विचारणीय तथा हमारे लिए प्रेरणास्पद होगा कि क्या अब समय नहीं आ गया है, जबकि मानव की अहिंसक शक्ति (जो सुप्तावस्था मे है) को जाग्रत करके कार्यरत होने के लिये गति दी जावे ? जैन ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि भगवान महावीर के युग मे जब हिंसा-प्रधान यज्ञो का अत्यधिक प्रचार था उस समय उन्होने 'यज्ञशाला' मे मुनियो को भेज कर इस हिंसाप्रधान यज्ञ का विरोध कराया। एक दूसरे मौके पर मुनि को भेजकर जन्मना वर्ण तथा जाति के सिद्धान्त का विरोध कराकर कर्मणा वर्ण एव जाति के सिद्धान्त की महत्ता बतलाई। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर के युग में वह इस प्रकार के हिंसाप्रधान यज्ञो के प्रति तटस्थ दर्शक नही रहे। इसमे सन्देह नही कि मानव यदि केवल दार्शनिक तथा चिन्तक रह जावे तो वह जन सामान्य को प्रभावित नही कर सकता जब कि दार्शनिकता तथा चिन्तकता के साथ ही

कर्मयोगत्व हो तो उसका आन्दोलन जन जन तक पहुँच सकता है , हमारे युग के दो महापुरुषो को ही लें । महाकवि टैगोर केवल दार्शनिक थे, चिंतक थे, उनका प्रभाव क्षेत्र बौद्धिक वर्ग रहा, उनका तेज भारत के ७ लाख ग्रामो को नही छू सका । महात्मा गाधी जो दार्शनिक चिंतक के साथ कर्मयोगी थे । अन्याय-अत्याचार को बरदाश्त करके चुप बैठ जाना उनके स्वभाव तथा कार्य प्रणाली के विपरीत था । परिणाम स्पष्ट है कि उन्होंने असहकार तथा अहिंसात्मक प्रतिकार का आविष्कार करके अहिसा का क्षात्र तेज प्रकट किया और उनका सदेश भारत के कोटि कोटि जन सामान्य तक पहुँचा । भगवान महावीर के २॥ हजार वर्ष के पश्चात् महात्मा गाधी जैसा पुण्यशाली महामानव इस देश मे पैदा हुआ जिसने केवल व्यक्ति के जीवन मे ही अहिसा का प्रयोग करने मे सतोष नही माना अपितु देश के तथा विदेशो मे सामूहिक प्रश्नो का निराकरण कराने के लिये अहिंसा का प्रयोग किया । अन्याय-अत्याचार का विरोध असहकार तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध के द्वारा करने के लिए देश मे प्राण फू के तथा अहिंसक शान्ति का विकास करके उसे सगठित किया । यही कारण है कि विदेशी शासको द्वारा सत्ता हस्तान्तरण के समय जब मानव खून का प्यासा हो रहा था, मानव की सामूहिक हत्या की जा रही थी उसके प्राणो का मूल्य गाजर मूली जैसा हो रहा था तथा स्त्री की अस्मत लूटी जा रही थी ऐसे हिंसक वातावरण मे अहिसा की प्रतिष्ठा के लिए, शाति स्थापना के लिए उन स्थानो पर गये तथा स्वय भी प्राण की परवाह किये बिना मानव की प्रसुप्त दैवा वृत्ति को जगाने का प्रयत्न किया यह अहिंसा का क्षात्रतेज था ।

इसमे सदेह नही कि अहिंसा शक्ति का विकास करने के लिये मानव को निर्भयता का पाठ पढाना होगा । महात्मा गाधी ने देश को पहले निर्भयता का पाठ पढाकर महान् शक्तिशाली सशस्त्र विदेशी सरकार के सामने खडा कर दिया । यही कारण है कि स्वतन्त्रता पूर्व के आन्दोलनो के समय शस्त्रो से सज्जित सेना तथा पुलिस के सम्मुख निहत्थे लोगो के झुड के झुड आकर खडे हो जाते तथा निर्भय होकर डटे रहते थे और विदेशी सत्ता द्वारा चलाये दमन-चक्र का शिकार हो जाते, हसते-हसते प्राण न्योछावर कर देते थे । इस वातावरण ने देश मे अहिसक शक्ति को सगठित होने तथा अन्याय अत्याचार का मुकाबला करने के लिये प्रेरणा दी । किन्तु इस महामानव के महाप्रयाण के पश्चात् अहिसा का क्षात्र तेज समाप्त होता जा रहा है । ऐसा आभास होने लगता है कि महात्मा गाधी जी की जीवन लीला समाप्त हो जाने के पश्चात् देश मे सैकड़ो साम्प्रदायिक वर्ग के दगे हुए किन्तु श्री गणेशशकर विद्यार्थी जैसा उदाहरण एक नही निकल सका । अभी-अभी का ताजा उदाहरण है, पूर्व बगाल की

घटनाओं का। पाकिस्तान के राष्ट्रपति तथा सैनिक तानाशाह याहया खॉन ने अपने वचनो से मुकर कर जन-प्रतिनिधि बगबधु को सत्ता हस्तारित नही की जिसके परिणामस्वरूप पूर्व बगाल मे पाकिस्तान का विरोध हुआ उसका दमन करने के लिये जो अमानवीय कृत्य वहाँ पर पाकिस्तान के सैनिक शासको तथा सैनिको ने किये हैं, उसका उदाहरण इतिहास मे नही मिल सकेगा। किन्तु हमारे इस अहिंसा-प्राण देश मे कोई माई का लाल ऐसा तेजस्वी नेता नही निकला जो पाकिस्तान की खू रेजी का अहिंसक प्रतिरोध करने के लिये देश को सगठित करता तथा वहाँ टुकडियाँ ले जा कर अहिसा का क्षात्रतेज प्रगट करता। पाकिस्तान के इस कुकृत्य के कारण लाखो शरणार्थी हमारे देश मे आये। इस देश को कई समस्याओ का सामना करना पडा। तब देश की प्रधानमत्री श्रीमती इदिरागाधी ने रक्षात्मक युद्ध लडा और हमे प्रसन्नता है कि इस न्याय युद्ध War of Justice मे न्याय पक्ष की विजय हुई। बगाल देश स्वतत्र हो गया। वहाँ जन-प्रतिनिधियो की सरकार बन गई।

महात्मा गाधी जी ने एक बार कहा था "कि यदि मुझे कायरता तथा हिंसा के बीच चुनाव करना पडता तो मै हिंसा पसन्द करू गा।" पूर्वी बगाल (हमारा पडौस) मे गत नौ मासका सामूहिक नर-सहार तथा अमानवीय कृत्यो के प्रति भारतीय अहिंसको की ओर से तटस्थ दर्शक की स्थिति चाहे कायरता न कही जावे किन्तु साहस का अभाव तो निश्चित रूप से दीख रहा है। आज विचारक वर्ग के सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि यदि इस प्रकार के नर-सहार या अमानवीय कृत्यो का अहिंसक प्रतिकार न किया गया तो शासन की ओर से हिंसक प्रतिकार अनिवार्य होता है। बगला देश की घटनाओ ने एक प्रश्न-चिन्ह छोड दिया है कि क्या हमारे देश मे अहिंसक प्रतिरोध की प्रणाली पुन स्थापित हो सकेगी? काश, कोई ऐसा तेजस्वी महापुरुष हमारे देश मे होगा जो अपने प्राणो के प्रति भी अनासक्त होकर देश मे अभय का मत्र फू क सके और एक बार पुन अहिंसक शक्ति का विकास कर सके।

३

स्याद्वाद : बौद्धिक अहिंसा

एक जैनाचार्य ने ठीक ही कहा है—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैनधर्मं स उच्यते ॥

आचार्य ने सक्षिप्त मे जैन धर्म का अतस्तल उक्त श्लोक मे व्यक्त कर दिया है । वास्तव मे "स्याद्वाद और अहिंसा" जैन धर्म का प्राण है जिस प्रकार किसी प्राणधारी मे से प्राण निकल जाने पर वह निष्प्राण हो जाता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार '-जैनधर्म" मे से उक्त दोनो महान सिद्धान्त यदि कम (Minus) कर दिये जावे तो उसका अस्तित्वही नहीं रहेगा । वैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उक्त सिद्धान्त वास्तव मे एक ही है । स्याद्वाद मे ही अहिंसा की भावना निहित है और अहिंसा मे स्याद्वाद की । जैन दर्शन मे "अहिंसा" का सिद्धान्त सर्वोपरि है जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिसा का प्रयोग किया है जैन दार्शनिक विचार-मथन ने प्राणिमात्र के वध निषेध से अहिंसा की परिपूर्णता नही मानी अपितु जैन दर्शन न यह भी आवश्यक समझा कि मनुष्य मे "बौद्धिक अहिसा" भी जरूरी है । मनुष्य मे जब तक विचार करने की क्षमता है उसके दृष्टिकोण मे अन्तर रहेगा । उसी प्रकार विश्व मे प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य के सीमित ज्ञान के कारण वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप अथवा प्रश्न के समस्त पहलू एक समय ही मनुष्य के मस्तिष्क म नही आ सकते । इस कारण मनुष्य का किसी वस्तु अथवा प्रश्न के सम्बन्ध मे अभिप्राय आशिक सत्य ही हो सकता है यदि मनुष्य का आंशिक सत्य परस्पर विवाद करता रहे तथा स्वय द्वारा अनुभूत सत्य (आशिक) को ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता रहे तो यह सत्य नही हो सकता । वास्तव मे आशिक सत्यो को यदि एकत्रित कर लिया जाये तो पूर्ण रूप सत्य का दर्शन

हो सकता है। यही स्थिति विश्व के धर्मों की विभिन्न मान्यताओ के सम्बन्ध मे है। विश्व के धर्माचार्यों ने अपनी तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित होकर सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था इस कारण यह स्वाभाविक था कि देश काल क्षेत्र की भिन्नता के कारण उन सिद्धान्तो मे वैषम्य होता है और वही हुआ भी। किन्तु मनुष्य अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता, उसके मन मे व्याप्त आग्रह तथा अहंकार ने उसको उस आशिक सत्य को पूर्ण सत्य मानने के लिए प्रेरित किया, परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को पूर्ण सत्य अतिम सत्य मानता रहा। यहाँ तक भी ठीक था किन्तु उसके आग्रह तथा अहकार मे वृद्धि हुई और उसने स्वय द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को दूसरे धर्मानुयायी से पूर्ण सत्य के रूप मे मनवाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया परस्पर प्रतिस्पर्धा हुई, उससे कटुता निर्माण हुई और विश्व ने देखा कि "धार्मिक असहिष्णुता" ने विश्व मे जघन्य दुष्कृत्य कराये और धर्म के नाम पर उनको स्वर्ग प्रवेश का साधन बताया।

विश्व के इतिहास मे रुचि रखने वाले सज्जन भली भाँति जानते है कि धर्म के नाम पर "धार्मिक असहिष्णुता" के कारण जितने अत्याचार हुए हैं उतने किसी कारण से नही हुए। यह आश्चर्य का विषय है कि "धर्म" मनुष्य को आतरिक शाति प्रदान कर्त्ता होते हुए भी मनुष्य ने उसका दुरुपयोग क्यो किया ? तो विचार करने पर यही फलित होता है कि मनुष्य मे आग्रह, अहकार तथा तज्जनित बौद्धिक हिंसा काम कर रही थी। धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंसक कृत्य की हमारे देश मे कमी नही रही। यूरोप आदि देशो मे भी कमी नही रही तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के अतिम तीर्थंकर "महात्मा महावीर" के हृदय मे इस परिस्थिति के निराकरण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पाठक भली भाँति जानते है कि महात्मा महावीर के समय मे विभिन्न सिद्धान्तो (वादो) को प्रतिपादित करने वाले दार्शनिक तथा धर्माचार्य वर्तमान थे और वह अपने-अपने मतो का प्रचार करते थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि परस्पर जय-पराजय की भावना से वाद-विवाद होता, परस्पर कटुता निर्मित होती और परिणाम स्वरूप धर्म की आत्मा का हनन होता। जैन शास्त्रो से यह स्पष्ट है कि महात्मा महावीर के समय मे ३६३ मत प्रचलित थे। बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय ६२ या ६३ मत प्रचलित थे। सख्या का महत्त्व नही है किन्तु उस समय जन साधारण मे मतिभ्रम था और परस्पर धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी। महात्मा महावीर ने इस स्थिति पर गम्भीर विचार किया और यह प्रतिपादित किया कि यह

सब आंशिक सत्य प्रतिपादित करते है। यदि पूर्ण सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो एकात का आग्रह तज दो। इसी सदर्भ मे ३६३ मतो का समन्वय किया। सूक्ष्म विचार करने पर यह भली भाति स्पष्ट होगा कि महात्मा महावीर ने विश्व के प्रत्येक प्रश्न तथा वस्तु के सम्बन्ध मे विचार करने की एक नई पद्धति को जन्म दिया जिसे "अनकान्त विचारधारा" कहा जाता है कि सक्षिप्त मे यह कहा जा सकता है कि महात्मा महावीर ने प्रत्येक वस्तु तथा प्रश्न पर ७ नयो की अपेक्षा से विचार करके अपना मत स्थित करने की जिस पद्धति का आविष्कार किया उसे (सातनय के कारण) "सप्तभगी" अथवा "अनकान्त विचारपद्धति" कहा गया। उसे वाणी द्वारा स्पष्ट करने को "स्याद्वाद" नाम से अभिहित किया। सत्य यह है कि इस अनेकान्त विचार पद्धति मे किसी पक्ष विशेष के प्रति आग्रह नही होता "अनाग्रह" होता है। किसी वस्तु अथवा प्रश्न के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाने वाला उसी वस्तु तथा प्रश्न के प्रति अन्य दृष्टिकोण अपनाने वाले के प्रति उदार विचार रखता है। यह मानता है कि उसमे भी सच्चाई है। मेरे द्वारा अपनाया दृष्टिकोण जहाँ सत्य है वहाँ अन्य दृष्टिकोण मे भी सत्यता हो सकती है। यह उदारता का लक्षण है। एकात विचारधारा का व्यक्ति जहा अपने द्वारा अपनाये दृष्टिकोण के प्रति "ही" का आग्रह रखता है वहा अनेकान्त विचारधारा के "भी" का मत रखता है। वास्तव मे महात्मा महावीर ने इस सिद्धान्त का आविष्कार करके विश्व के सम्मुख "धार्मिक सहिष्णुता" "सर्वधर्म समभाव" का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भगवान महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का काल साहित्य के दृष्टि से आगम युग कहा जाता है अर्थात् वीर निर्वाण विक्रम पूर्व ४७० से लेकर विक्रम पश्चात् ५ वी शताब्दी का काल "आगम युग" है। उसके पश्चात् ५ वी शताब्दी से ८ वी शताब्दी तक का काल साहित्य निर्माण की दृष्टि से "अनेकान्त व्यवस्था युग" कहा जाता है। इस युग मे महात्मा महावीर के पश्चात् वर्ती आचार्यों ने अनेकान्त पर साहित्य काफी निर्माण किया। महात्मा महावीर द्वारा प्रतिपादित "स्याद्वाद" सिद्धान्त का ही प्रताप था कि जैनाचार्यों ने जो तार्किक दृष्टिकोण अपनाया उस प्रकार निष्पक्ष तथा उद्धार दृष्टिकोण अन्य के लिए अपनाना सम्भव नही था। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने शिवमन्दिर मे निम्न प्रकार की स्तुति की।

भव-बीजाकुरजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मावा, विष्णुर्वा, हरो, जिनो वा नमस्तस्मै ॥

उक्त श्लोक मे आचार्य ने उस महापुरुष को नमस्कार किया है जिसने राग-द्वेष नष्ट करके पुनर्जन्म की सम्भावना समाप्त कर दी हो, चाहे वह ब्रह्मा हो विष्णु हो,हरि हो या जिन हो। इस उदारता का उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नही है। जैनाचार्यों के तार्किक दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा जो एक जैनाचार्य ने दृढ शब्दो मे व्यक्त किया था।

पक्षपातो न मे वीरे-, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

उक्त आचार्य को न तो महावीर के वचनो के सम्बन्ध मे पक्षपात है और न कपिलादि मुनियो के सम्बन्ध मे द्वेष है। उनकी केवल एक कसौटी 'तर्क' है वह तर्क युक्त वचनो को प्रमाण मान्य करते है इसी प्रकार एक अन्य आचार्य स्वय महात्मा महावीर के अनुयायी द्वारा अपनाई गई एकान्त विचारधारा के कारण क्षुब्ध होकर स्पष्ट मन्तव्य देते है कि —

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे।
न तत्ववादे न च तर्कवादे ॥
न पक्षसेवाश्रयेण मुक्तिः
कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव ॥

उक्त आचार्य ने केवल कषाय मे मुक्तता को ही मोक्ष का कारण प्रतिपादन किया है। यदि जैनेतर दृष्टिकोण पर विचार करें तो वहाँ पर भी ऐसे सूत्र वाक्य मिल जाते है जिसमें 'स्याद्वाद' अथवा अनेकान्त विचार पद्धति का प्राधान्य है उदाहरण के लिए 'एक सद्विप्रा बहुधा वदति' एक ही सत्य को विप्रगण अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। वास्तव मे विश्व मे ही भिन्नता का मूल है उसमे भिन्नत्व का आग्रह उचित नही है।

हो भिन्न सब, भिन्नत्व तो, ससार का है नियम ही।
पर भिन्न होना नहीं किसी से बुद्धिमत्ता है यही ॥

जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त का जन साधारण को सरलता से बोध कराने के लिए कई उदाहरण अपने साहित्य मे प्रस्तुत किये है। स्याद्वाद के सम्बन्ध मे कुछ अजैन विद्वानो ने भ्राति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, कुछ विद्वान इसे सशयवाद (ढिलमिल यकीनी) बताते है। यह भी कहा जाता है कि इसमे जब मनुष्य अपने से भिन्न दृष्टि को सत्य होने का विचार करता है तब वह अपने द्वारा अपनाये हुए दृष्टिकोण को असत्य मानता है इसीप्रकार किसी समय एक दृष्टिकोण को सत्य मानता है किसी समय अन्य को। यही ढिलमिल यकीनी तथा सशयवाद कहा जाता है

किन्तु जैनाचार्यों ने दधिमन्थन का उदाहरण देकर इसको निराकृत किया है यूरोपीय विद्वान ने 'सापेक्षवाद Principle of relativity का आविष्कार करके उक्त सिद्धान्त की उपयोगिता मानी है। एक विद्वान का कहना है कि यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल तथा तर्कपूर्ण है यदि एक लकीर स्लेट पर खीच कर तलाश किया जाये कि यह बडी है या छोटी तो निश्चित रूप से उसके दोनो उत्तर होगे। अन्य लकीर (जो उससे छोटी हो) खीचकर इसे बडी कहा जा सकता है अथवा अन्य (जो उससे बडी हो) खीचकर इसे छोटी कहा जा सकता है, यही तो सापेक्षवाद है।

स्याद्वाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मे जो भावना काम करती है वही भावना प्रजातन्त्रीय पद्धति मे कार्य करती है। लोकतंत्रात्मक राज्य मे पार्लियामेंट मे 'विरोधी दल' का बडा महत्व है उसमे भी यही भावना काम करती है। सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई गई नीति मे आलोचना की गुन्जायश स्वीकार करता है। सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई नीति तथा कार्यक्रम मे विश्वास रखते हुए भी इस बात की गुन्जायश स्वीकार करता है कि अन्य नीति तथा कार्यक्रम देश हित के लिए अपनाया जाना उचित हो सकता है। उक्त आलोचना को सुनकर वह लाभ उठाता है। हम इसे 'राजनीतिक स्याद्वाद' के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है 'स्याद्वाद' एक अग है 'अहिसा का'। स्याद्वाद वास्तव मे 'बौद्धिक अहिसा' ही है। ऊपर यह भी बतलाया जा चुका है कि जैन दर्शन मे 'अहिसा' सर्वोपरि है। यदि यह कहा जावे कि 'अहिसा जैन दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो भी अतिउक्ति न होगी। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा था कि जो तीर्थंकर पूर्व मे हुए वर्तमान मे है, तथा भविष्य मे होगे उन सबने अहिसा का प्रतिपादन किया है। अहिसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है इससे जैन दर्शन मे अहिसा का स्थान सर्वोपरि पाया जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'अहिसा' के सम्बन्ध मे देश मे काफी भ्रम रहा। किसी ने उसे अव्यवहार्य बताया, किसी ने उसे वैयक्तिक बताकर सामाजिक राजकीय प्रश्नो के लिए अनुपयोगी बताया। इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने वालो ने जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'अहिसा' का पूर्ण अध्ययन किये बिना ही उसकी आलोचना की है। जो जैन दर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन की प्रत्येक क्रिया मे 'हिंसा' का आभास पाता है और कहता है कि विश्व मे किसी भी प्राणधारी को पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा

सजीवों की हिंसा से विरत रहना चाहिए उसी जैन दर्शन के व्याख्याता आचार्यों ने यह भी प्रतिपादित किया कि '—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जय सये।
जय भुजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।।

तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन यह मानता है कि किसी भी प्राणधारी का जीवन सर्वथा अहिंसक होना असम्भव है कारण कि प्राणधारी से जीवित रहने के लिए वायु काय आदि के जीवो का सहार अकारण (बिना इच्छा) के ही हो जाता है । इसी कारण उपरोक्त व्याख्याकार ने यत्नपूर्वक जीवन यापन मे पापकर्म के बधन न होने का प्रतिपादन किया है । हमारे देश के जीवन मे अहिंसा की जो छाप दृष्टिगोचर होती है वह जैनधर्म की देन है । सामूहिक प्रश्नो के निराकरण के लिए अहिंसा का प्रयोग हमारे देश मे काफी सफल रहा । जैन दर्शन मे मनुष्य को केवल वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने का ही विधान नही किया है। अपितु सामूहिक जीवन मे उसके कर्तव्य भी बतलाये है । जैन शास्त्र 'स्थानांग सूत्र' मे ग्राम धर्म, नगर धर्म राष्ट्रधर्म आदि का उल्लेख करके मनुष्य को सामूहिक जीवन के कर्तव्यो का बोध कराया गया है हमारे देश मे विदेशी सत्ता के विरुद्ध महात्मागाधी जी के नेतृत्व मे 'अहिंसक युद्ध' ही लडा गया । जिसके परिणाम स्वरूप देश स्वतत्र हुआ और आज हम स्वतत्रता के फल भोग रहे है । वास्तव मे यह प्रयोग एक अभूतपूर्व प्रयोग था । हमारे इतिहास मे शायद ही अहिंसा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण उपलब्ध हो सके । प्राचीन ग्रन्थो मे 'हार तथा हाथी' के लिए स्वजनो का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है , रामायण काल मे रावण को सत्यपथ पर लाने के लिए श्री रामचन्द्र ने युद्ध का ही आश्रय लिया । महाभारत मे भी भ्रातृजनो मे व्याप्त कलह के कारण युद्ध को अनिवार्य माना गया । महाभारत युद्ध के एक पात्र के द्वारा निम्न वाक्य कहलाये गये जो तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं और जिसमे युद्ध की अनिवार्यता स्पष्ट होती है ।

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !"

वास्तव मे अहिंसा के प्रयोग मे गाधी युग ने एक नई दिशा का श्रीगणेश किया था किन्तु गाधी युग के उक्त श्रीगणेश को आज विश्व मे अधिक प्रोत्साहन नही मिल रहा है । आज पूज्य गान्धी जी के स्वर्गवास को २६ वर्ष हो गये । उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व के अभाव के कारण अहिंसा का विचार गति नही पारहा है, विश्व के राजनीतिज्ञ अपने प्रश्नो को निपटाने के लिए अहिंसा का माध्यम स्वीकार नही करते अपितु 'हिंसक युद्ध' को माध्यम

मानते हैं। यही कारण है कि कुछ समय पूर्व चीन ने 'सीमा विवाद' के नाम पर भारत पर हिंसक आक्रमण किया और शातिप्रेमी भारत को अपने रक्षण के हेतु शस्त्रो का उपयोग करना पडा। दुर्भाग्य से हमारे बीच अहिंसा का अपूर्व व्याख्याकार, अहिंसा का अपूर्व हामी पूज्य गाधी जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नही है, इसी कारण अहिंसा के तत्व दर्शन को हमारे जीवन मे जो स्थान मिलना चाहिए था वह नही मिल पा रहा है। काश! समाज कोई ऐसा नर रत्न पैदा कर सके।

विश्व समन्वय अनेकान्त पथ
सर्वोदय का प्रतिपल गान ॥
मैत्री, करुणा सब जीवो पर।
विश्वधर्म जग ज्योति महान ॥

४

अनेकान्तवाद और साम्प्रदायिक सहिष्णुता

एक प्रसिद्ध जैनाचार्य ने कहा है कि—

जेण विणा वि लोगस्स, ववहारो सव्वहा न निव्वहई।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंत-वायस्स ॥

उक्त जैनाचार्य ने अनेकान्त वाद का महत्व सक्षिप्त मे उपरोक्त गाथा मे स्पष्ट किया है, वह वस्तुत सत्य है। अनेकान्त-वाद के आधार पर सारा विश्व का कार्य भार चल रहा है। इसी अनेकान्त-वाद को त्रिभुवन गुरु होने की सज्ञा दी गई है। हमारे प्राचीन जैनशास्त्रो, ग्रन्थो मे अनेकान्त-वाद के विचार बीज रूप मे विद्यमान थे। प्राचीन आचार्यों ने उन बीज रूपी विचारो को लेकर विपुल साहित्य का सृजन किया। अनेकान्त वाद वास्तव मे तीर्थकरो की देन है। भगवान महावीर ने देश मे विभिन्न विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करने वाले "वाद" विद्यमान देखे तथा यह भी देखा कि उनमे से प्रत्येक के पास आशिक सत्य है, उनकी विचार शैली एकागी है। यदि यह विचारक अनेकान्त-मार्ग का अवलोकन करें तो उन्हे 'सत्य' का साक्षात्कार हो सकता है। भगवान महावीर ने बडे कष्ट से यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार एकागी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति परस्पर वाद-विवाद करते हैं तथा धार्मिक असहिष्णुता के कारण अशान्ति उत्पन्न करते है। विभिन्न वादो के परस्पर सघर्ष ने केवल देश मे नही अपितु सारे ससार मे इस प्रकार का वातावरण निर्माण किया है। इस कारण कोई व्यक्ति अपने से भिन्न विचारधारा के प्रति न्याय करना चाहता है तो उसे अनेकान्त विचार पद्धति से काम लेना होगा। अनेकान्त विचारपद्धतिमे वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का ध्यान रखा जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बन्ध मे विश्लेषण करे तो वह वस्तु का समग्र चित्र नही हो सकता। यदि हम उसी वस्तु के विभिन्न पहलुओ को एकत्रित कर लें तो वस्तु का समग्र चित्र सन्मुख आ सकता है। अनेकान्त विचार-पद्धति से

उत्पन्न (उद्भूत) दृष्टिकोण को जैनाचार्यों ने 'स्याद्वाद' संज्ञा से अभिहित किया था। इस विचार पद्धति को जिस भाषा मे व्यक्त किया जाता है वह स्याद्वाद है। कई जैनाचार्यो ने वर्गीकरण के लिये इसे सप्तभंगी न्याय, सप्त नय आदि मे विभाजित करने का प्रयत्न किया किंतु वास्तविकता यह है कि वस्तु मे जब अनन्त धर्मात्मकता है तो सत्य को भी वर्गीकरण के द्वारा सीमा मे नही बाँधा जा सकता है। सत्य के लिये भौगोलिक अथवा अन्य कोई भी सीमा नही होती। अतएव मोटे रूप मे जैनाचार्यों ने 'नय' को केवल दो भागो मे विभक्त किया (१) निश्चय नय (२) व्यवहार नय, किन्तु विशालता की दृष्टि मे नय की सख्या भी उतनी ही है कि जितनी विचार पद्धति।

वास्तव मे उपरोक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा कि सत्य का इजारा किसी मत, पन्थ या वाद के पास नही हो सकता। विभिन्न मतो, धर्मों, वादो को समन्वय की दृष्टि से विचारा जावे तो उनमे एकता परिलक्षित होगी। विश्व मे धार्मिक असहिष्णुता को नाम-शेष करने के लिये 'समन्वय' की आवश्यकता है। यह "सर्व धर्म समभाव" को जन्म देगी। इस युग के महान विचारक संत महात्मा गाधी ने सर्व धर्म समभाव को अपने द्वारा निर्दिष्ट ११ व्रतो मे स्थान दिया है। गाधी जी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा जी ने उसे 'अनाग्रही विचार' कहा। एक प्राचीन जैनाचार्य ने भारतीय षड्दर्शन म विभिन्न नयो (दृष्टिकोणो) के माध्यम से सत्य का दर्शन किया। चाहे तत्त्व की दृष्टि से, चाहे वाद की दृष्टि से ससार का कार्य अनेकान्त विचार पद्धति' के बिना नही चल सकता। यही नही विश्व मे विभिन्नता का राज्य है किन्तु भिन्नता मे ही एकता का दर्शन पाना जीवन के कलाकार का काम है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, कौटुम्बिक आदि क्षेत्र मे यदि अनेकान्त विचार पद्धति मे काम न लिया जावे तो सघर्ष अवश्यम्भावी है। और उसका परिणाम है "अशान्ति"। मानव जाति अपनी अशान्ति, दुख के कारणो के नाश के लिये "धर्म" की शरण मे जाती है वहा पर भी अशान्ति ही प्राप्त होगी। इस स्थिति मे भी "जल मे आग" लग जावेगी इसमे सन्देह नहीं है।

यदि हम सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो "अनेकान्त पद्धति" का जन्म अहिंसा के विचार से ही हुआ है। अपने से भिन्न विचार रखने वालो के प्रति न्याय करने के लिय उसके विचार मे भी सत्यता का अश विद्यमान होने के विचार को मानव जाति के उद्धारक तीर्थकरो ने जन्म दिया। कहा जाता है तीर्थकरो द्वारा उपदेशित मार्ग मे (चाहे उसे निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से पहचाना जावे चाहे जैन धर्म के नाम से) अहिंसा मुख्य है। यह सत्य है कि अनेकान्त

विचार-पद्धति अथवा स्याद्वाद बौद्धिक अहिंसा है। इस विचार पद्धति से हम जीवन के किसी भी क्षेत्र मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण ले सकते हैं—राजनीतिक क्षेत्र मे प्रजातान्त्रिक विचार इसी ओर ले जाते है। हमारे देश मे आज (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) ससदीय प्रजातांत्रिक परम्परा चल रही है। इस परम्परा मे बहुमत दल द्वारा गठित सरकार, अल्प मत दल को अपने विचार प्रदर्शन का अधिकार मान्य करती है। उससे यथासम्भव लाभ उठाती है यह 'राजनीतिक स्याद्वाद' है। इसी प्रकार कौटुम्बिक क्षेत्र मे भी इस पद्धति का योगदान परस्पर कुटुम्बो मे, कुटुम्ब के सदस्यो मे संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा—इसमे सन्देह नही। तात्पर्य यह है कि जैनाचार्यों ने अनेकान्त-वाद को ससार गुरु की जो उपमा दी है वह सत्य है, अनूठी है तथा ससार को सच्चा मार्ग देने वाली है।

हम प्राचीन जैन आचार्यों के अनुपम विचारो को प्राचीन ग्रन्थों मे जब अध्ययन करते है तो पता चलता है कि उनमे कितनी उदार भावनाएं विद्यमान थी। अनेकान्त विचार पद्धति के अनुयायी जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

भवबीजाकुरजनना, रागाद्या, क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

उन्होने ब्रह्मा, विष्णु, हरि जिन सब को नमस्कार किया है बशर्ते कि उनके पुनर्भव के बीच राग,द्वेष आदि क्षय हो चुके हो। कितनी उदार भावना काम कर रही थी, कितना अनाग्रही विचार उनका था। यही नही उन्होने भारतीय दर्शनो मे आशिक सत्य की अनुभूति की। चूंकि विभिन्न दर्शन आशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं इस कारण उनमे पाखण्ड है किन्तु उन्होने यह उदघोष करने मे भी हिचक नही की कि 'जैनदर्शन पाखण्डो का समूह है। कारण कि जैन दर्शन मे सब दर्शनो के आशिक सत्य का समन्वय करके पूर्ण सत्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। उन्होने यह भी घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यःपरिग्रहः॥

उन्होने भगवान महावीर के वचनो के प्रति पक्षपात तथा कपिल आदि मुनियो के वचनो के प्रति द्वेष न होना प्रगट किया था उन्होने केवल युक्ति-पुरस्सर वचनो को अगीकार करने का निश्चय किया—

प्राचीन ग्रन्थ इस बात के साक्षी है कि भगवान महावीर के समय मे भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण विद्यमान थे और दोनो परम्परा के

प्रतिनिधित्व करने वाले श्रमण वर्ग के विचार तथा आचार मे कुछ भिन्नता थी। श्वेताम्बर परम्परा के एक उपदेशप्रद शास्त्र "उत्तराध्ययन" के २३वें अध्ययन मे दोनो परम्परा के प्रतिनिधि मुनि केशी मुनि तथा गौतम स्वामी के मिलन का वर्णन है। कितना सुन्दर, भव्य दृश्य था दोनों का शुभ मिलन, परम्परा भेद मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने का था। दोनो सफल हो गए और उन्होने देश मे 'अहिंसा धर्म' का प्रचार, प्रसार किया। भगवान महावीर के समय मे भी श्रमण वर्ग मे वस्त्रधारी तथा नग्न दोनो प्रकार के श्रमण विद्यमान थे। चाहे उनको वर्गीकरण के नाम पर 'जिनकल्पी, स्थविरकल्पी' बताया गया हो किन्तु यह तथ्य है कि दोनो प्रकार के श्रमण भगवान महावीर द्वारा उपदेशित 'अहिंसा धर्म को देश भर मे फैलाने के भागीरथ प्रयत्न मे जुटे हुए थे। भगवान महावीर के कुछ सौ वर्ष पश्चात् तक आचार्य परम्परा एक ही रही। कहा जाता है कि भगवान महावीर के पश्चात् बारह वर्षीय दुष्काल मे कुछ श्रमण दक्षिण दिशा मे चले गए तथा कुछ उत्तर मे रह गए। दुष्काल समाप्ति के पश्चात् उत्तर-दक्षिण का मिलन हुआ तो सचेल, अचेल का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया। परिणामस्वरूप विश्व की प्रत्येक समस्या का हल 'अनेकान्त विचार-पद्धति" से कर देने वाले जैन दर्शन के अनुयायी स्वय श्वेताम्बर, दिगम्बर परम्परा मे विभाजित हो गए। यह एक आश्चर्य का विषय रहेगा कि इस प्रकार के उदार विचारमना जैनाचार्य परम्पर के इस सचेलत्व तथा अचेलत्व के विचार का समन्वय क्यो नही कर पाये ? मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि इस विचार-भेद का समन्वय तत्कालीन जैनाचार्य कर पाते तो उनके द्वारा 'जैन दर्शन' की अधिक सेवा हुई होती।

जैन दर्शन के रहस्यविद्, शान्तिप्रिय जैनाचार्यो ने समय-समय पर दोनो परम्परा मे शान्ति स्थापनार्थ यह उद्घोष किया कि —

> **नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे,**
> **न तत्ववादे न च तर्कवादे।**
> **न पक्ष सेवाऽऽश्रयेण मुक्तिः,**
> **कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥**

उन्होने मुक्ति श्वेताम्बर अथवा दिगम्बरत्व मे नही मानी न तत्ववाद मे न तर्कवाद मे। उन्होने यह भी कहा कि पक्षपाती दृष्टिकोण से मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। मुक्ति तो केवल कषाय मुक्तता से ही प्राप्त होती है। मैं नही जानता कि हमारे प्राचीन जैनचार्यों ने जैन समाज के दोनो अग श्वेताम्बर, दिगम्बर समाज मे परस्पर स्वय, सौहार्द स्थापनार्थ क्या-क्या प्रयत्न किये। मेरी यह निश्चित मान्यता है कि कई ऐसे जैनाचार्य हुए है जिन्होने शान्ति

स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया किन्तु यह भी एक तथ्य है कि आज दो सहस्र वर्ष से अधिक के काल मे दोनो परम्परा के पृथक् हो जाने के कारण अत्यन्त हानि हुई है। यह एक तथ्य है कि इन दोनो परम्परा मे आपस मे कितना कलह, कितना वैमनस्य हुआ। परिणामस्वरूप तीर्थ, मन्दिरो अन्य कई धार्मिक स्थानो के सम्बन्ध मे कितनी मुकद्दमेबाजी हुई। जिसमे समाज की शक्ति, धन का विपुल परिमाण मे अपव्यय हुआ। मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि हमारे तत्कालीन जैनचार्यों ने इस पृथकता के विचार को प्रारम्भ से ही न पनपने दिया होता, कोई माध्यम, समन्वयात्मक मार्ग निकाला होता तो आज जैन समाज अधिक सगठित, बलशाली होता, उसकी वाणी अधिक प्रभावशाली होती। किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नही हो पाया। दो सहस्र वर्ष से अधिक इस लम्बे काल मे दोनो परम्पराओ के मतवैभिन्य के कारण जैन धर्म का अनुयायी जैन समाज को हम छिन्न-भिन्न अवस्था मे पाते हैं तो हृदय को बडी ठेस लगती है।

आज इसकी बड़ी आवश्यकता है कि हम सगठित होकर जैन धर्म के व्यापक प्रचार, प्रसार के लिये प्रयत्न करें। सब कोई जानते है कि आज जैन धर्म, श्रमण सस्कृति के प्राण 'अहिंसा' के विचार को देश मे कितना कम महत्व दिया जाता है। भारतीय शासन अहिंसा 'तत्व' की कितनी उपेक्षा करता है किन्तु हम अपनी पृथकता के कारण सामान्य प्रश्नो पर भी एक नही हो पाते, न सम्मिलित प्रयत्न कर पाते है। मैं इसी आशा, विश्वास को अपने हृदय मे सजोये हुए हूँ कि समाज मे कोई ऐसा महाभाग उत्पन्न हो जो जैन धर्म की इन दो परम्पराओ को एक सूत्र मे आबद्ध कर सके।

काश ! यह स्वप्न साकार हो तथा हम सगठित अखिल जैन समाज का निर्माण करके श्रमणसस्कृति के प्रचार, प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान कर सकें ताकि देश मे अहिंसात्मक विचार, आचार की प्रतिष्ठा हो और देश पुन एक बार 'जिओ और जीने दो' का मत्र उद्घोष करते हुए इसे अपने आचार मे उतार सकें।

५

स्याद्वाद सिद्धान्त और हम

एक सस्कृत के कवि ने कहा है कि—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्म स उच्यते ।

उक्त श्लोक मे कवि ने जैनधर्म की सूक्ष्म परिभाषा बतलाई है । कवि ने बतलाया है कि जैनधर्म उसे कहते है जिसमे स्याद्वाद वर्तमान हो, पक्षपात किंचित न हो, और किसी अन्य को पीडा न पहुचाने का सिद्धान्त वर्तमान हो । इससे विदित है कि पहली दो बातें सैद्धान्तिक है और अन्तिम तीसरी बात व्यवहारिक है । पहली दो बातें वास्तव मे एक है जब हम स्याद्वाद के वास्तविक अनुयायी होगे हममे पक्षपात हो नही सकता । देखना यह है कि स्याद्वाद आखिर क्या है और हमने उसे अपने जीवन मे कितना उतारा है, यही इस लेख का विषय है । 'स्याद्वाद" प्रत्येक वस्तु को एक खास दृष्टिकोण से देखता है । यह खास दृष्टिकोण सात प्रकार से है जिसे सप्तभगी भी कहते हैं । सात दृष्टिकोण से जो वस्तु देखी जायगी और उससे देखने का जो नतीजा मनुष्य निकालेगा वह गलत नही हो सकता । वह सात दृष्टिकोण कौन से है, वह लिख कर इस लेख का कलेवर बढाने की आवश्यकता नही है क्योकि वह तो अधिकाँश जैन जनता जानती ही है । मनुष्य आज किसी वस्तु को केवल एक दृष्टिकोण से देखता है और उससे जो नतीजा निकलता है वही सत्य है, इस पर हठ करता है और दूसरा मनुष्य उसी वस्तु को भिन्न दृष्टिकोण से देखता है और उसका जो मजमुई नतीजा होता है उसे ससारके सामने रखता है । इन दोनो नतीजो मे कितना अन्तर होना चाहिये यह समझने की बात है । इसमे कोई शका नही हो सकती कि अतिम मनुष्य की बात ही पूर्ण सत्य होगी । हमारे यहा पर एक हाथी को अन्धे मनुष्यो को देखने की बात प्रसिद्ध ही है

जिनमे से एक एक ने भिन्न-भिन्न अवयव देखे। नतीजा यह हुआ कि प्रत्येक अन्धे मनुष्य ने हाथी के सम्बन्ध मे अपनी जो धारणा बताई वह अपूर्ण रही। इन चारो मनुष्यो की बात यदि मिलाकर के एक बात समझी जावे तो वह हाथी के सम्बन्ध मे सत्य धारणा कही जा सकती है। यही कथा दुनिया भर के प्रत्येक धर्म की है। दुनिया के प्रत्येक धर्म ने ससार की प्रत्येक वस्तु को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा। नतीजा यह हुआ कि उनका निर्णय अलहदा-अलहदा असत्य तथा अपूर्ण रहा। जैन धर्म को इस बात का दावा है कि उसने प्रत्येक वस्तु को सप्तभगी न्याय से देखा और उसका निर्णय सत्य तथा पूर्ण है। इस तरीके पर दुनिया के प्रत्येक धर्म को यदि पाखण्ड कहा जा सकता है और कहा ही जाना चाहिये क्योकि उसका निर्णय एकागी होने से असत्य तथा अपूर्ण है। जो जैनधर्म 'पाखण्डो का समूह' है क्योकि प्रत्येकधर्म ने जो बात अलहदा-अलहदा कही वही बात जैनधर्म सामूहिक रूप से कहता है। वह कहता है अमुक धर्म जो बात कहता है। वह भी सच है और उससे विपरीत दूसरा धर्म जो बात कहता है वह भी सच है वह यह नही कहता और न इस पर इसरार करता है कि अमुक बात ही सच है। यदि जैन धर्म इस तरह कहना शुरू कर दे तो वह एकातिक होगा जबकि जैनधर्म का दावा उपरोक्त रीति से अनेकान्तवाद का है। इस तरह जैनधर्म ने तीन सौ तिरेसठ पाखडो का समन्वय किया है यही कारण है कि जैन धर्म की नीव इतनी गहरी है कि अतीत के अनुकल प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी भारतवर्ष मे अचल रहा जबकि बौद्ध धर्म विपरीत परिस्थितियो को सहन न कर सकने के कारण भारतवर्ष से पलायन कर गया। एक अजैन विद्वान ने कहा है कि 'स्याद्वाद एक ऐसा अभेद्य किला है, जिसके अन्दर शत्रु के गोला बारूद कार्य नही कर सकते' किन्तु शोक के साथ कहना पडता है हमारे पूर्वजो ने जिस खूबी के साथ सैद्धान्तिक दृष्टि अथवा व्यवहारिक दृष्टि से स्याद्वाद सिद्धान्त का उपयोग किया हम उसका उपयोग धार्मिक मतभेदो के सम्बन्ध मे सर्वथा भूल गये। व्यवहारिक जीवन मे अनजान मे हम चाहे उसका उपयोग कर लेवें किन्तु धार्मिक जीवन मे हम उसका उपयोग सर्वथा नही करते। आज हमारी जैन समाज मे कितनी सम्प्रदायें है? दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—मूर्तिपूजक सम्प्रदाय तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय के धार्मिक मतभेद कितने है किन्तु इन तीनो सम्प्रदायो मे कोई ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त का सच्चा भक्त नही निकला जो इन मतभेदो का समन्वय कर सकता बल्कि मतभेदो की लिस्ट दिन व दिन बढती जाती है। दूर क्यो जाइये, हमको अपना घर देखना चाहिये। हमारी एक सम्प्रदाय के अन्दर कितनी उप-सम्प्रदाय है और उनमे आपस मे कितने मतभेद है। जब हम अपनी

उप-सम्प्रदायों का मत भेद ही दूर न कर सके तो अखिल जैन समाज के मतभेद दूर करने की बात तो समय से पूर्व होगी । कहाँ तो हमारे पूर्वज ३६३ मतो का समन्वय करने की सामर्थ्य रखते थे कहाँ हम हमारी उप-सम्प्रदाय के हास्यास्पद छोटे-छोटे मतभेद तथा इतर सम्प्रदायो के मूर्ति और मुंहपत्ति के मतभेदो का समन्वय तक नही कर सकते हैं । ऐसी दशा मे हम कैसे आशा कर सकते हैं कि हम दुनियाँ भर के तमाम धर्मों का समन्वय करके जैन धर्म को विश्वधर्म बना सकेंगे । भगवान हमें शक्ति दो कि हम क्रमश अपने घर के, उसके पश्चात् अपनी समाज के मतभेदो का समन्वय करके एक सगठित जैन समाज दुनिया के सामने पेश कर सके और उसके पश्चात् दुनिया के तमाम धर्मो का समन्वय करके जैन धर्म को विश्व धर्म बना सकें ।

६

श्रद्धा बनाम तर्क

केवल भारतवर्ष ही नही अपितु विश्व की दृष्टि से सन् १९६९ का वर्ष महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् १९६९ मे मानव जाति के अदम्य साहसी व्यक्तियो ने चन्द्रतल पर अपने चरण रखे यह घटना अभूतपूर्व थी। सहस्राब्दियो से जो चन्द्रमा मानव जाति के लिये रहस्य पूर्ण था। मानव केवल धर्म शास्त्रो के ग्रन्थो से उसका चमत्कार पूर्ण वर्णन पढ या समझकर सतोष करता था अथवा कवियो द्वारा वर्णित उपमाओ से मनोरजन कर लेता था। उसी चन्द्रमा का रहस्य मानव जाति के इन सपूतो ने उद्घाटित कर दिया। इस घटना से जैन तथा जैनेत्तर श्रद्धाशील समाज मे यह प्रश्न विचारणीय हो गया कि धर्मग्रन्थो मे चन्द्रमा के सम्बन्ध मे जो वर्णन हम पढते आ रहे थे वह आलकारिक था या अतिशयोक्तिपूर्ण था या काल्पनिक ? जैन समाज के उद्भट विद्वान, कवि श्री अमरचन्द्र जी के प्रवचन के आधार पर, "अमरभारती" मासिक के फरवरी १९६९ के अक मे "क्या शास्त्रो को चुनौती दी जा सकती है ? शीर्षक से एक लेख-प्रकाशित हुआ था। उक्तप्रवचन लेख अत्यन्त सार गर्भित, तार्किक दृष्टि सम्पन्न सतुलित विचारधारा पूर्ण था। जिसमे यह मत प्रतिपादित किया गया था कि जिन जैन ग्रन्थो मे सूर्य, चन्द्र सम्बन्धी वर्णन है, वह ग्रन्थ है–उनको शास्त्र नही कहा जा सकता। उसमे आध्यात्मिकता नही है। शास्त्रो को चुनौती नही दी जा सकती। इस प्रवचन लेख से समाज के स्थिति-पालक सज्जनो मे खलबली मच गई और विभिन्न प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। मैने उक्त प्रवचन लेख तथा अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया को सूक्ष्म रीति से अवलोकन किया। उसके पश्चात् कविजी का एक लेख "अमरभारती" के सितम्बर ६९ के अक मे "पर्युषण पर्व और केश लोच' शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमे उन्होने सप्रमाण यह मान्यता प्रस्थापित की कि पर्युषण कब किया

जाना चाहिये तथा क्या विशेष स्थिति मे भी केशलोच अनिवार्य है ? आदि। उसके कुछ समय पश्चात् "अमरभारती" के नवम्बर ६६ अक मे 'क्या विद्युत मे अग्नि है ? शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। जिसमे बहुर्चचित ध्वनि वर्धक यंत्र के उपयोग के प्रश्न पर भी प्रकाश डाला गया। इन उपरोक्त लेखो ने समाज को झकझोर दिया। एक क्षेत्र मे कवि जी के उपरोक्त विचारो की कटु आलोचना हुई, उन पर वह आरोप लगा कि वह समाज मे धर्मशास्त्रो के प्रति-अश्रद्धा फैला रहे है। दूसरे क्षेत्र मे यह प्रतिक्रिया भी व्यक्त की गई कि कवि जी के विचारो की छानबीन होकर उसका मूल्याकन होना चाहिए। मुझे स्मरण आता है 'यूरोप मे ईसाई पादरियो की मान्यता के विरुद्ध जब वैज्ञानिको ने सूर्य और पृथ्वी के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किये थे उस समय उनको राज्य तक का कोप भाजन होना पडा था। क्योकि राज्य पर ईसाई पादरियो का प्रभाव था, ऐसी दशा मे कवि जी के सम्बन्ध मे विपरीत प्रतिक्रिया होती है तो आश्चर्य की बात नही है। मेरे अपने विचार मे जिस प्रकार आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व जैनधर्मान्तर्गत गुजरात के सद्गृहस्थ लोकाशाह ने तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ के विरुद्ध मुख्यतः आचारक्रान्ति की थी। उसी प्रकार कविजी के द्वारा प्रचलित मान्यताओ के सम्बन्ध मे विचार तथा आचार क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है और इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। इसमे सन्देह नही है कि समाज का जो वर्ग निहित स्वार्थ का हामी है, अत्यन्त श्रद्धा शील है। वह इस स्थिति से अत्यधिक बैचैन होते है उनकी मान्यता है कि महा-पुरुषो के वचनो का जो तात्पर्य भूतकाल मे समझा जाता रहा है वही शाश्वत सत्य है। उसकी व्याख्या (जो उसके हार्द के निकट ही क्यू न हो) करने से धार्मिक मान्यताएँ तहस-नहस हो जावेंगी। उन्होने मनुष्य के हृदय का, मस्तिष्क का सामन्जस्य करने का प्रयत्न नही किया। इसमे सन्देह नही है कि मनुष्य जीवन मे श्रद्धा का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु श्रद्धा का तात्पर्य अन्धश्रद्धा या अन्ध-विश्वास कदापि नही है। श्रद्धा जो पर्याप्त छान बीन के पश्चात् मनुष्य के हृदय मे स्थान पावे वही सच्ची श्रद्धा है। इसलिये 'सद्धा परमदुल्लहा' जैसे वाक्य का निर्माण हुआ। श्रद्धापरमदुल्लभ इसलिये है कि वह छान बीन करके प्राप्त की जाती है। छान बीन से मेहनत मशक्कत पडती है। केवल यह कह देने से काम नही चलेगा कि 'सशयात्मा विनश्यति' अथवा सम्यकत्व नष्ट हो जाने का हव्वा खडा कर देने, पापभीरू व्यक्ति को परलोक बिगडने का भय बता देने से आज का जिज्ञासु भयग्रस्त नही होगा। जैसा कि एक विद्वान ने कहा था (धर्मस्य मूल जिज्ञासा-धर्म का मूल जिज्ञासा है।) वास्तव मे श्रमण सस्कृति (जिसमे जैन-बौद्ध दोनो सम्मिलित है) मे सम्यक् शब्द

बड़ा महत्वपूर्ण है, मेरी अल्पमति मे सम्यक् शब्द से तात्पर्य जैसे का तैसा, दर्पणवत् है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को दर्पण मे देखना चाहता है तो दर्पण कोई पक्षपात नही करेगा। इसी प्रकार शुद्ध निष्कपट, निष्पक्ष दृष्टि की अपेक्षा है। सम्यक् दृष्टि का महत्व बताते हुए एक जैनाचार्य ने ठीक ही कहा था 'मिथ्यादृष्टि परिग्रहित्वा सम्यक् श्रुतमपि मिथ्याश्रुतं भवति' तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी प्रज्ञा का उपयोग करते रहना चाहिए। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसी कारण जैनाचार्य ने यहाँ तक कहा कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रह ॥

मनुष्य को दर्पण मे किसी वस्तु का आकार प्रकार देखने के लिये चक्षु की आवश्यकता होती है वही मनुष्य की प्रज्ञा है। यदि चक्षु नहीं है तो मनुष्य वास्तविक तात्पर्य से वचित रहेगा।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्र तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिस्यति ॥

शास्त्रकारो ने भी मनुष्य से अपेक्षा की थी कि—

पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छिय।

इस पृष्ठभूमि मे हम यह अनुभव करेंगे कि हमारे शास्त्रो के वचनो के नाम पर जो मान्यताएँ समाज मे, श्रमण वर्ग मे प्रचलित है, उनमे किसी परिवर्तन की आवश्यकता है ?

वास्तविकता यह है कि सत्य एक अखड, अनादि, अनन्त तत्व है। उसके दर्शन इस विश्व मे होने वाले महापुरुषो को होते है चाहे उसे अवतार, तीर्थंकर पैगम्बर कुछ भी कहा जावे। जो महापुरुष जिस देश मे उत्पन्न होता है उस देश की पूर्व स्थिति, इतिहास आदि सबका प्रभाव उसके मन मस्तिष्क पर होता है। परिणामस्वरूप उसके उपदेश, उसके विचार भी उस स्थिति से प्रभावित होते है। इस कारण जिस महापुरुष के वचनो, उपदेश की व्याख्या उस का तात्पर्य समझना हो तो उस देश की स्थिति, इतिहास को भी ध्यान मे रखना होगा। इसी स्थिति को जैन पारिभाषिक शब्दो मे द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव कहा जाता है, इस सब के अतिरिक्त शाश्वत सत्य भी होना है जिस पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का कोई प्रभाव नही होता। महापुरुषो के उपदेशो व उनकी व्याख्या पर काल के कारण विकृति भी आ जाती है। जिस भावना से महापुरुषो ने उक्त उपदेश दिया था वह भावना काल-यापन के साथ समाप्त हो

जाती है, या उसमे विकृति आ जाती है। इसी कारण श्रमण सस्कृति मे शास्त्र वचन के स्थान पर उसके Essense का अधिक महत्व है, तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि —

अत्थ भासई अरहा, सुत्त गुत्थति गणहरा निऊणा ।

यदि हम सहस्राब्दि पूर्व महापुरुषो के कहे हुए वचनो का जो तात्पर्य विकृति के कारण हमारी पुरानी या वर्तमान पीढी समझ रही है। यदि उस विकृति को दूर न करें, या युगानुकूल व्याख्या न करे, या उस उद्देश्य के हार्द को ध्यान मे न रखकर केवल शब्दो का मोह रखे तो हम उस महापुरुष के साथ न्याय न कर सकेंगे। यदि कोई मकान ६ मास तक बन्द रखा जावे नो उसमे गर्द, गुबार ही इकट्ठा हो जावेगा। इसलिये यह महापुरुषो की इस धरोहर पर वैचारिक मन्थन सदैव होते रहना चाहिये।

भारतवर्ष म आज जो साहित्य उपलब्ध है उसमे प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद है। यह तथ्य भी सर्वविदित है कि ब्राह्मण-सस्कृति के अनन्य पोषक वैदिक साहित्य है। वेद कालीन साहित्य अथवा ब्राह्मण सस्कृति मे यज्ञ-याग कर्मकाड तथा जन्मना वर्ण का प्राबल्य रहा है। यज्ञ मे पशुओ को होम दिया जाना एक साधारण घटना थी। इसके लिये यज्ञ कर्ता राजा द्वारा देश मे कृषि योग्य पशुओ तक को पकड लिया जाता तथा इस प्रकार कृषक वर्ग त्राहि-त्राहि कर रहा था। जन्मना वर्ण के नाम पर ब्राह्मण जाति का सर्वस्व शिखर पर था। ब्राह्मण उस काल मे एक Privileged Caste थी। इस स्थिति मे वैचारिक क्रान्ति महर्षि दयानन्द ने की जो आज की पीढी के अधिक निकट थे। उन्होंने तत्कालीन ब्राह्मण जाति तथा रूढिग्रस्त समाज का घोर विरोध सहन करके भी यज्ञ-याग की व्याख्या 'अनाज परक' की तथा इस प्रकार अहिंसा की बात को पुष्ट किया। इसी प्रकार जन्मना जाति के आधार पर कर्मणा जाति के विचार को महत्व दिया। हालाकि इसके पूर्व भी उपनिषद् काल मे भी इस प्रकार की वैचारिक क्रान्ति की गई। स्वय महाभारत तथा गीता (जिसे उपनिषदो का सार कहा जाता है) मे भी इस प्रकार के विचार पल्लवित हुए है। किन्तु जिस तीव्रता के साथ महर्षि ने अपने विचार देश के सम्मुख रखे तथा उन विचारो के प्रचार, प्रसार तथा तदनुकूल आचरण के लिये समाज की स्थापना की उसके कारण महर्षि एक प्रकार से सक्रिय वैचारिक क्रान्ति के जन्मदाता सिद्ध हुए।

ब्राह्मण सस्कृति के विभिन्न कर्मकाड, यज्ञ, याग का महाभारत तथा श्री भगवत्गीता मे आत्मलक्षी अर्थ करके अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त किया

गया। यही नही अपितु जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर तथा उसके पूर्ववर्ती २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ने भी यज्ञ-याग का आत्मलक्षी अर्थ करके जहाँ अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त किया वही वैचारिक क्रान्ति का भी सूत्रपात किया। यह सब भलीभांति जानते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ के शासन काल मे चातुर्याम धर्म था जिसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ महाव्रत्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नही था। सम्भवतः स्त्री भी एक प्रकार से पुरुष की सम्पत्ति मानली गई थी। या समाज मे इस प्रकार की मान्यता थी कि स्त्री एक सम्पत्ति है और इस प्रकार चतुर्थव्रत का समावेश पचम महाव्रत अपरिग्रह व्रत मे कर लिया जाता था। आज की इस २०वी शताब्दि के युग मे चाहे यह विचार प्रतिगामी तथा दकयानूसी लगें किन्तु यह एक तथ्य था कि भगवान महावीर ने स्त्री के स्वाभिमान की रक्षा की और इस अमानवीय विचार को तिलाजलि देकर उसके पृथक, स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया, तथा पच महाव्रत का विधान किया। भगवान महावीर ने अपने सघ मे स्त्री को समान दर्जा देकर महिला समाज के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया है वह उनकी वैचारिक क्रान्ति का अपूर्व उदाहरण है। तत्कालीन सामाजिक मान्यता, तत्कालीन धर्म प्रचारिका महात्मा गौतम बुद्ध की स्त्री के प्रति आशका का भाव, इस सब विपरीत स्थिति के बाद भी भगवान महावीर का यह कदम साहसपूर्ण था। तात्पर्य यह कि वैचारिक क्रान्ति की प्रक्रिया शताब्दियो से हमारे इस देश मे चल रही है।

अन्त मे इस वैज्ञानिक तर्क-प्रधान युग मे आज इस बात की बडी आवश्यकता है कि धार्मिक क्षेत्र मे पचलित अन्धश्रद्धा, अन्ध विश्वास तथा तज्जनित अविचार पूर्ण मान्यताओ पर विचारक, शास्त्रज्ञ विद्वद्वर्ग पुनर्विचार करें तथा समाज को मार्गदर्शन दें, ताकि समाज मे व्याप्त वैचारिक जडता, अनुदार, सकुचित वृत्ति का अत हो सके और सारा देश निम्न विचारो का हामी हो सके।

विश्वसमन्वय अनेकान्तपथ, सर्वोदय का प्रतिपलगान।
मैत्री करुणा सब जीवों पर, जैनधर्म जग ज्योति महान्॥

७

धर्म और विज्ञान

इस अखिल विश्व मे यदि कोई शाश्वत तत्व अनादि, अनन्त है तो वह सत्य ही है । । इस अनादि अनन्त विश्व मे मानव सदैव सत्य का अन्वेषक रहा है और उसने सत्य की खोज मे पीढिया व्यतीत कर दी, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि सत्य की खोज समाप्त हो चुकी अथवा सत्य अन्तिम रूप से मनुष्य पा चुका है । वास्तव मे बात यह है कि सत्य भी एक अनन्त तत्व है । मनुष्य को भगवान् सत्य का साक्षात्कार उसकी अपनी बुद्धि-प्रज्ञा की ग्रहण शक्ति के अनुरूप होता है । इसी कारण जब मनुष्य अपने अनुभूत सत्य को विश्व के सन्मुख प्रकाशित करता है तो वह अपनी सीमित अनुभूति की बात कहता है । इसी का परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के वचनो मे विभिन्नता हुई । विश्व के महापुरुषो ने अपने-अपने समय मे जिस सत्य का साक्षात्कार किया वही उन्होंने मनुष्य जाति को भेंट किया । बहुत अधिक सीमा तक वह आंशिक सत्य था और विशिष्ट दृष्टिकोण पर आश्रित था । बिरले महापुरुष हुए उन्होंने इस आंशिक सत्य को अपूर्णता बताकर समन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित किया ।

वास्तव मे सत्य व्यक्ति, समाज, देश निरपेक्ष होता है । उसकी साधना, उनका प्रयोग, एक तपस्या है । यदि हम गहराई से विचार करे, तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि सत्य ही धर्म की जड है । विश्व मे धर्म-संस्था सत्य को रक्षण देने के लिए ही हुई है । महाभारत मे एक प्रसग मे एक शिष्य के प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है --

सत्येनोत्पद्यते धर्मः, दया - दानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोध-लोभाद् विनश्यति ।।

सत्य से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और दया दान से उसकी वृद्धि होती है । क्षमा से उसमे स्थायित्व आता है और क्रोध,लोभ से उसका नाश हो जाता

है । ऐसे महान तत्व सत्य की उपासना, उसका आग्रह, जिन-जिन महापुरुषो ने किया है, वह हमारे प्राचीन तथा अर्वाचीन युग की विभूति है ।

प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों में प्रह्लाद का एक प्रसंग है । जिसमे उसने पिता की अनुचित, धर्म-विरुद्ध आज्ञा की अवमानना करके सत्य की उपासना की थी । अर्वाचीन युग मे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने विदेशी शासन से देश को मुक्त कराने, अन्याय, अत्याचार का मुकाबला सत्याग्रह के द्वारा किया । पूज्य बापू ने सत्य की अनुभूति की और उसका आचरण किया । अन्याय का प्रतिकार प्रेमपूर्वक किया । विज्ञान स्वय सत्य की ही उपासना है, सत्य की खोज है । विज्ञान की खोज ने विश्व के रहस्यो को उद्घाटित किया है तथा मानव-समाज के सन्मुख समृद्धि का भण्डार खोल दिया है ।

सत्य, सत्य की खोज, सत्याग्रह यह सब धर्म के अग है । धर्म और दर्शन जहाँ मानव की अन्तश्चेतना को जाग्रत करता है, अन्तर मे सद्-असद् विवेक बुद्धि जागृत रखता है वहाँ विज्ञान दृश्यमान जगत के रहस्य को उद्घाटित करता है । यदि हम गहराई मे देखें तो पता चलेगा कि धर्म तथा विज्ञान मे कोई विरोध नही है, अपितु वे एक दूसरे के पूरक हैं । इस दृष्टिकोण से मेरा यह मत है कि नया मानव जहाँ सत्याग्रही तथा वैज्ञानिक होगा, वहाँ पहले धार्मिक होगा । इसमे सन्देह नही है । जब मै धर्म की बात करता हूँ, तो मेरा तात्पर्य किसी विशिष्ट नाम अथवा रूढिग्रस्त धर्म से नही है अपितु मेरा तात्पर्य ऐसे सार्वभौम धर्म से है, जो शाश्वत है । द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का कोई प्रभाव जिस पर नही है । वास्तव मे आज धर्म के नाम पर बाह्य कर्मकाण्ड ही प्रचलित है । इसी कारण धर्म जहाँ मानव का उद्धारकर्ता था वही आज मानव मे सकुचित भावना उत्पन्न करने वाला बन गया है । विभिन्न धार्मिक मान्यतायें मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न करने का काम करती है, जबकि धर्म का काम मनुष्य के हृदय की पवित्रता स्थापित करना था । मन्दिर,मस्जिद, गिरजा आदि सब साधन थे, साध्य नही थे, किन्तु मनुष्य ने उनको साध्य मानकर उसके लिये अपने साथी मनुष्य का गला दबाने मे भी परहेज नही किया ।

आज मानव जाति धर्म, धार्मिक-भावना से रिक्त है । खलील जिब्रान के शब्दो मे—

"उस कौम पर तरस खाओ जो विश्वासो से भरी है किन्तु धर्म से खाली है ।"

यदि आज की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि आज का युग राजनीति-प्रधान हो गया है । धर्म सस्था विज्ञान सब उसके

गुलाम बन गये है। महाभारत के प्रसग के अनुसार आदर्श राज्य की कल्पना यह थी कि—

न राज्य न राज्यासीनं न दण्डो न दाण्डिकः
धर्ममेव प्रजा सर्वः रक्षतु स्व-परस्परम् ॥

धर्म, धार्मिक आदर्श के द्वारा मनुष्य के अन्तर को इतना जागृत कर देने का सकल्प था कि उसके परस्पर के सब व्यवहार धर्म के आधार पर स्वत प्रेरित चलते रहे। राज्य, दण्डिक, दण्ड की आवश्यकता न हो। किन्तु राजनीति प्रधान इस युग ने परिस्थिति म आमूल परिवर्तन कर दिया है। धर्म, जो मनुष्य के अन्तर तक को जागृत करके स्वय पर स्वयप्रेषित नियन्त्रण करके समाज का सचालन करना चाहता था। वही राज्य द्वारा आश्रित बनता जा रहा है। यूरोपीय देशो मे धर्म सस्था एक प्रकार से राज्याश्रित बन गई थी। अनुभव यह बताता है कि जो धर्म राज्याश्रयी बना उसका पतन भी वहाँ से प्रारम्भ हो गया। विज्ञान, जो मानव जाति के सुख समृद्धि, विश्व-रहस्य को प्रगट करने की सद्भावना लेकर आया, राज्याश्रित हो गया। फलत' विज्ञान कई अशो मे वरदान के बजाय अभिशाप बना। नरसहार को उसने सुगम कर दिया। यदि सच पूछा जावे तो राजनीतिज्ञ politician इस विश्व को सहार के रास्ते पर ले जाने का श्रेय प्राप्त कर रहे है। उन्होंने एक ऐसा आशियाना बनाया है जो कमजोर वृक्ष की कमजोर टहनी पर टिका है।

यदि हम स्वतन्त्रयोत्तर काल तथा उसकी घटनाओ पर सूक्ष्मता से अवलोकन करें तो राजनीतिकों ने जहाँ उनके हाथ मे सत्ता थी सत्याग्रह रूपी धर्म को प्रजातन्त्र मे अनुपयुक्त प्रतिपादित किया, जहाँ उनके हाथ मे सत्ता नही थी वहाँ उक्त धर्म की पवित्रता नष्ट की। वास्तविकता यह थी कि गाधी-युग मे साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता की अनिवार्य शर्त थी, वह स्वातन्त्र्योत्तर काल मे लुप्त होती गई। आवश्यकता इस बात की है कि सत्याग्रह की उपयोगिता और विज्ञान के दार्शनिक तथा मानवीय पक्ष का उचित मूल्यांकन कर उसे जीवन का आधार बनाने का प्रयत्न किया जाय।

८

जैन-दर्शन में ईश्वर

जैन दर्शन मे 'ईश्वर' का कोई स्थान है या नही ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है किन्तु इस प्रश्न पर कोई मत प्रतिपादित करने के पूर्व यह आवश्यक है कि 'ईश्वर' शब्द से क्या तात्पर्य है ? इसका विश्लेषण किया जाय। वास्तव मे ईश्वर, भगवान परमेश्वर आदि पर्यायवाची शब्द हे। एक सस्कृत के कवि ने 'भगवान' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा था कि—

ऐश्वर्यस्य, समग्रस्य, धर्मस्य, यशस श्रिय।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णा 'भग' इतिस्मृतः॥

तात्पर्य यह है कि 'भग' शब्द मे ऐश्वर्य, समग्रता, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इनका समावेश होता है। इस प्रकार इन छ ऐश्वर्यो मे युक्त को 'भगवान' कहा जा सकता है। यही भाव 'ईश्वर' शब्द मे है। ऐश्वर्यवान् (साहबे औमाफ) को ईश्वर कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य से युक्त को ईश्वर कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न को 'साहबे जायदाद' कहा जाता हे इसी प्रकार आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक ऐश्वर्य से युक्त को ईश्वर (साहबे औसाफ) कहा जा सकता है। विश्व मे प्रचलित धर्मों मे ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओ का यदि हम विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगा कि कुछ धर्मो मे ईश्वर को रचयिता, नियामक माना जाता है कुछ मे उसे प्राणियो के भले-बुरे कर्मों का निर्णायक मानकर दण्डदाता या पुरस्कारदाता के रूप मे माना जाता है या उसे दयालु मानकर क्षमादात के रूप मे चित्रित किया जाता है। कुछ मे ईश्वर केवल साक्षीरूप माना जाता है। यदि हम वैदिकयुग की मान्यता पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होगा कि उस काल मे विश्व की अज्ञात प्राकृतिक शक्तियो (मानव समुदाय का उपकार करने वाली, सहायता प्रदान करने वाली या भयानक, सभी शक्तियो) मे मानव

ने 'देवत्व' का आरोपण करके बहु-देववाद की स्थापना की। हम देखते है कि उस काल मे मानव को दैवी-आपत्तियो का सामना करना पडता था, वैज्ञानिक आविष्कार नही हुए थे, प्रकृति के रहस्यो से वह वाकिफ नही था। इस कारण इस प्रकार की शक्ति मे देवत्व की कल्पना मानव-समाज की सहज स्फुरण भावना का प्रतीक है। जैसे-जैसे मानव का वैचारिक स्तर उन्नत हुआ वैसे-वैसे उसने एक ब्रह्म की कल्पना की। उसी को जगत् का मूलाधार माना। समस्त प्राणिजगत् उसी ब्रह्म का प्रतिरूप है। तात्पर्य यह है कि वैदिक परम्परा मे द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद के निरूपण के साथ ब्रह्म और जीवन के पृथकत्व तथा एकत्व की मान्यता प्रचलित हुई। अद्वैतवाद के प्रवंतक आचार्य शकर ब्रह्म को निर्गुण तथा द्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य रामनुज ब्रह्म को सगुण मानते है।

यह एक सयोग की बात है कि विश्व के लगभग सभी धर्माचार्य एशिया मे हुए जिनमे कुछ एकेश्वरवाद के हामी तथा कुछ बहुदेववाद के हामी थे। कुछ के निकट ईश्वर का स्वरूप निराकार तथा कुछ के निकट साकार स्वरूप था। जो धर्माचार्य ईश्वर अथवा भगवान के अस्तित्व मे विश्वास नही करते थे उनके मत मे भी समष्टि को नियमित करने वाली किसी शक्ति का अस्तित्व अवश्य था, चाहे उनको 'दैवी शक्ति' (Spirit) के नाम से पहचाना जाये या किसी और नाम से यह प्रश्न गौण था। वैदिक परम्परा के अतिरिक्त इस्लाम एकेश्वरवाद का हामी था। इस्लाम का पवित्र कलमा 'ला इलाहा इलिाह मुहम्मुर्दसुलिल्लाह' है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर केवल एक है और हजरत मुहम्मद उसके रसूल है पैगम्बर है, उसके सन्देशवाहक है। इस्लाम मे ईश्वर के अतिरिक्त किसी और शक्ति की मान्यता 'शिरकत' कहलाती है। और इस मान्यता का जबरदस्त विरोध है। सूफी मत के सन्त ईश्वर तथा सासारिक जीवो के मध्य 'द्वैत' का एक पर्दा मानते है जहाँ वह पर्दा (आवरण) हटा कि सासारिक जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है। कहा गया है कि--

महबूब मेरा मुझ मे है, मुझको खबर नहीं
ऐसा छिपा है पर्दे मे, जो कि आता नजर नहीं।
शौक है दीदार का तो नजर पैदा कर॥

इसके अतिरिक्त सूफी सत, मानव के अतरतम मे ही ईश्वरीय प्रकाश (जलवा) का अस्तित्व मानते थे --

दिल के आईने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गरदन झुकाई, देख ली॥

साथ ही ईश्वर को सर्वव्यापी मानते थे तथा वेदान्त की अद्वैत परम्परा के अनुसार अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) का नाद करते हुए ईश्वरीय प्रेम मे मस्त रहते थे ।

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।

और

आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं ।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं ।।

एक प्रसिद्ध सूफी संत सरमद का वाकआ बहुत प्रसिद्ध है जो अपनी ईश्वरीय प्रेम मे मस्त जिन्दगी व्यतीत करता-करता दिल्ली पहुँचा । उस काल मे दिल्ली के तख्त पर एक धर्मान्ध बादशाह औरंगजेब का शासन था । सरमद अपनी मस्ती मे 'अनलहक' की आवाज लगाता घूम रहा था । बादशाह ने उसे कई बार चेतावनी दी थी कि वह इस तरीके से बाज आजाय । बादशाह के निकट यह कुफ्र था किन्तु संत अपनी मस्ती मे उतना तल्लीन था कि उसकी इस बात पर ध्यान देने का समय ही नही था । अततोगत्वा बादशाह ने संत को मृत्यु दण्ड दिया उस समय के उसके वाक्य, उसकी मस्ती, तल्लीनता का स्पष्ट दिग्दर्शन करते हैं —

बजूमे इश्क तो अम भी कुशद मोगा अस्त ।
तो नीज वस्सरे वाम, आकि खुद तमा रास्त ।।

मुझे तेरे इश्क मे मारा जारहा है । जरा अटारी पर चढकर देख, कैसा तमाशा हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त निर्गुणी सन्तो मे कबीर का स्थान सर्वोच्च है जिसने ईश्वरीय प्रेम मे अपने को आपाद मस्तक गर्क कर लिया था और उसी मस्ती मे उसने 'अनहदनाद' सुना था और उसी मस्ती मे मुल्ला, मौलवी, पडित जैसी धर्मोन्मादी सस्थाओ पर तीखे व्यग करके उनकी नि सारता प्रगट की थी । इसी प्रकार के एक मस्त विचारक ने कहा था —

किसी का राम काशी में, किसी का है मदीने मे ।
किसी का जन, जमी, जर में, किसी का खाने पीने में ।
कोई कहता गया मे है किसी का योरोशलम में है ।
'प्रेमानन्द' राम अपना या तो हरजा है या सीने में है ।

वास्तविक रूप मे मनुष्य स्वय परमात्मस्वरूप है उसका स्थान मनुष्य का हृदय है वह सर्वव्यापी है । किन्तु जहाँ इस्लाम अपनी मान्यता पर इतना दृढ

था कि ईश्वर (अल्लाह) को लाशरीक कहता था उसी मे कई ऐसे शायर हुए कि जिन्होने ईश्वर की दयालुता का वर्णन करते हुए उसको चाटुकारिता के समकक्ष माना। उदाहरणस्वरूप :—

तेरे करम के भरोसे पर हश्र में या रब
गुनाह लाया हूँ और बे-हिसाब लाया हूँ।

और

गया शैतान मारा एक सिजदे के न करने पर
दोज़ख सही पै सर का झुकाना नहीं अच्छा।

और इसी कारण शायर ने सख्त मजाक करते हुए लिखा था

हुआ है चार सिजदो पर यह दावा जाहिदो तुमको।
खुदा ने क्या तुम्हारे हाथ जन्नत बेच डाली है।।

इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य मे यदि हम जैन दर्शन के तत्वज्ञान पर दृष्टिपात करते है तो यह स्पष्ट जाहिर है कि उपरोक्त किसी भी रूप मे ईश्वर की मान्यता यहाँ पर नही है। जहाँ तक सृष्टि कर्ता तथा कर्मफलप्रदाता का रूप है, जैन धर्म स्पष्ट रूप से इन्कार करके बताता है कि यह सारा विश्व कार्य-कारण के आधार पर अनादिकाल से चला आ रहा है तथा अतहीन है (Beginningless and endless) विश्व मे कभी प्रलय नही हो सकती। जो सत् है वह कभी असत् नही हो सकता। यह पृथक बात कि द्रव्य से पर्याय मे रूपान्तर हो जाय। कहा गया है —

नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सत ।।

केवल जैन धर्म ही नहीं, वैदिक परम्परा मे भी कई ग्रन्थो मे ईश्वर को विश्व का नियता या कर्मफलदाता नही मानते हुए 'स्वभाव' के कारण ही इसका अस्तित्व माना है जैसा कि श्रीमद्भागवत गीता मे कहा गया —

न कर्तव्य न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलसयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।
नादत्ते कस्य चित्पापे न कस्य सुकृत विभु।
अज्ञानेनावृतं ज्ञान तेन मुह्यन्ति जतवः ।।

जैन दर्शन का विश्वास है कि प्राणी स्वय अपने कर्म करने मे स्वतत्र है तथा भले बुरे कर्मों के कारण वह पुन्य-पाप का बध करता है। वास्तव मे ईश्वर नाम की कोई शक्ति न तो न्यायदाता (जज) का कार्य करती है न उसकी दयालुता किसी को भले-बुरे कर्मों से क्षमा प्रदान कर सकती है न किसी

ईश्वर मे यह शक्ति है कि वह उसके नाम-स्मरण या नाम-जप से प्रसन्न होकर उसे क्षमा प्रदान कर सके। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन की समष्टि निर्माण, कर्मफल की मान्यता अत्यन्त तर्कपुरस्सर है और आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि समष्टि का निर्माण कार्य-कारण Law of causes and effect के अ धार पर ही हुआ है। वास्तव मे जैन धर्म मे ईश्वर के किसी अवतार धारण करके विश्व मे अवतरित होने की मान्यता का स्थान नही है। वह ईश्वर का मानवीय रूप Personalised godhood स्वीकार नही करता। उसके निकट मौलिक रूप मे विश्व का समस्त प्राणि जगत् शुद्ध-बुद्ध है। उसकी क्षमता है कि वह आत्मिक गुण या आध्यात्मिक या आधिदैविक ऐश्वर्य से महात्मा अथवा परमात्मा पद तक पहुँच सके। जैसा कि कहा गया है कि निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा मे यह शक्ति है कि वह वास्तविक रूप से परमात्मत्व अपने मे आरोपित कर सके। अधिक उपयुक्त यह है कि "ईश्वर" शब्द के स्थान पर "परमात्मा" शब्द का प्रयोग करें। जीवात्मा अपनी आत्मिक उन्नति करते-करते महान आत्मा हो सकती है और जब सारे घातिक कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय) क्षय करके शुद्ध-बुद्ध हो जाती है तो उसे "केवल्य प्राप्ति" हो जाती है और जब अघातिया ४ कर्म (नाम, गोत्र, वेदनीय, आयुष्य) क्षय हो जाते है तो वही सिद्ध है और कृतकृत्य हो जाता है। सती मदालसा का एक वाक्य प्रसिद्ध है जो वह अपने गर्भस्थ शिशु या नव-जात शिशु को अच्छे सस्कार डालने के लिए कहा करती थी -

शुद्धो ऽसि बुद्धो ऽसि, निरजनो ऽसि

अथा अन्य दर्शनो मे भी कहा गया है—

न मृत्युर्न शका न मे जातिभेद:
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बंधु र्न मित्र, गुरुर्नैव शिष्य
चिदानदरूपो शिवोऽह शिवोऽह।
न पुण्य न पाप न सौख्यं न दुःखम्
न मत्रं न तीर्थं न वेदार्न यज्ञा।
अह भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानंदरूपो शिवोऽहं शिवोऽहः।

जैन धर्म मे आत्मिक ऐश्वर्य या आत्मा की शुद्ध स्थिति के प्रगटीकरण के लिये जिन १४ गुण स्थानो का क्रम स्वीकार किया गया हैं वह अत्यन्त वैज्ञानिक

विचारसरणी है उससे जीवात्मा जो यद्यपि कर्म मल से लिप्त है वह शनै शनै. उन्नत अवस्था को प्राप्त करती हुई अपने शिव स्वरूप को प्राप्त कर सकती है। यही ईश्वरत्व है, परमात्मत्व है। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन मे उपरोक्त अर्थों मे ईश्वर का स्थान नही है किन्तु ईश्वरत्व का स्थान अवश्य है और Law of causes and effect Inopololised godhood नही है अपितु प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से शिवस्वरूप है और अपने राग-द्वेषोसे मुक्त होकर अपने शिवत्व का प्रकट कर सकती है। जीवात्मा मे शिवत्व उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे--

यथा जल जले क्षिप्त, क्षीरे क्षीर घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेतद्वद् जीवात्मपरमात्मन· ।।

हमारे देश मे गत शताब्दियो मे ईश्वर-सबधी मान्यता भ्रामक हो गई और मनुष्य अपने को ईश्वराधीन मानने लगा। 'हरेरिच्छा बलीयसी' के वाक्य ने मानव को केवल नियतिवादी बना दिया। उद्यम, साहस, पराक्रम पुरुषार्थ से उनका सम्बन्ध नहीं रहा। ईश्वर की मर्यादा बढती रही और आत्मा की घटती रही। मानव के चिन्तन मे 'अमृतस्य पुत्रा.' के स्थान पर 'पापो हे पाप कर्मा' 'पापात्मा, पापसम्भव' का नाद गूँज उठा जिसने उसके आत्म-गौरव का नाश कर दिया। यह बिडम्बना रही किन्तु जैन दर्शन ने सबसे बडी देन यह दी थी कि उसने मानव के आत्म-गौरव की स्थापना की, देव की गुलामी से मुक्त किया 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरह हि किंचित्' जैसे वाक्यो की सही-सही स्थापना की। इसी सन्दर्भ मे मुझे वैशेषिक दर्शन के एक विद्वान की रोचक घटना स्मरण आती है जो जगन्नाथपुरी मे दर्शन करने गया था, किन्तु असमय होने के कारण कपाट बन्द मिले तब उसने कपाट खोलने का आग्रह करते हुए कहा था :—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तते ।
उपस्थितेषु बोद्धेषु, मदधीना तवस्थिति ।

—उदयनाचार्य

सभवत इस प्रकार के उद्गार उस विचारसरणि के परिणाम थे जो जैन धर्म ने प्रवाहित की थी। मानव ने अपने आत्म-सम्मान को ध्यान मे रखकर यह श्लोक कहा होगा। जैन धर्म ने स्पष्ट रूप से बताया कि मनुष्य-जन्म देवत्व से भी बढकर है। मानव शुद्ध, शिवत्व प्रगट कर सकता है जबकि देव को भी मोक्ष तभी मिल सकेगा जबकि वह मनुष्य जन्म ले। मनुष्य कर्म मे स्वतन्त्र है किसी देव, ईश्वर की गुलामी या उसकी खुशामद की उसे आवश्यकता नही है।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो एशिया ही नही सारे विश्व के धर्माचार्य एक प्रकार से उस दैवी सन्देश के वाहक थे। चाहे वह राम हो, कृष्ण हो, महावीर हो, ईशा, मुहम्मद, जरथुस्त्र हो। इन सबने मानव को भला बनाने, उसे उन्नत बनाने तथा अपने शुद्ध रूप मे शिवत्व प्रगट करने का मार्ग बताया था। जैसाकि एक जैन अध्यात्मयोगी सन्त ने अपना मन्तव्य प्रगट करके कहा था :—

राम कहो, रहमान कहो, कोई कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म सयमेव री।
भोजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री।
निजपद रमे सो राम कहिये, रहीम करे रहमान री।
करे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्माण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्मरी।
इस विधि साधो, आप आनंदघन चेतन मया निकलंक री।

१

अनास्था से आस्था की ओर

मनुष्य के पास बुद्धि तथा हृदय दोनो है। तर्क से बुद्धि को सन्तोष होता है, जबकि श्रद्धा से हृदय को। यदि मनुष्य के पास केवल बुद्धि होती तो उसको तर्क से ही सतोष हो जाता। किन्तु प्रकृति को यह आवश्यक जान पडा कि वह मनुष्य जाति को बुद्धि तथा हृदय दोनो प्रदान करें और यही कारण है कि तर्क तथा श्रद्धा दोनो का ही समान महत्व है। तार्किक मनुष्य शुष्क होता है। उसके हृदय मे भावना नही होती। इसी प्रकार श्रद्धालु व्यक्ति कई समय अन्ध विश्वासी होता है। मेरे निजी मत मे मनुष्य को तर्क तथा श्रद्धा दोनो पर अपना आधार रखकर किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अपना निर्णय करना चाहिए। यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है कि मनुष्य किस अश तक जीवन मे तर्क को स्थान दे तथा किस अश तक श्रद्धा को। कुल लोग ५० प्रतिशत का आधार उचित मानते है। यद्यपि इस लेख मे तर्क तथा श्रद्धा के अश का प्रतिशत निश्चित करना मेरा उद्देश्य नही है। तथापि मेरा यह निश्चित मत है कि मनुष्य जीवन के लिये दोनो ही अनिवार्य वस्तु है। आज विशेष कर हमारा युवक वर्ग अत्यधिक तर्क-प्रधान हो रहा है। और इस कारण समाज मे अनास्था, अश्रद्धा व अनिष्ठा का राज्य है।

किसी-किसी समय जब तर्क पर अधिक जोर दिया जाता है तो वह कुतर्क हो जाती है।

आज हमारा युवक धर्म पर अनास्था करता है उसका तर्क यह है कि हमारे धार्मिक ग्रन्था मे कई ऐसी बातो का उल्लेख किया गया है कि जो आज के वैज्ञानिक युग मे तर्क सम्मत नही हो सकती है अर्थात् कई असम्भव बातो का उल्लेख किया गया है। यह सत्य है कि हमारे धर्म ग्रन्थो मे भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित आदि कई विषयो का समावेश किया गया है हम इस विवाद मे पडना नही चाहते कि धार्मिक ग्रन्थो मे धार्मिक नियमो तथा आत्मा को

उन्नत करने के मार्ग के अतिरिक्त कोई और विषय पर उल्लेख करना आवश्यक था या नहीं। किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि धर्म सदाचार के उच्चतम नैतिक सिद्धान्तो का नाम है। धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते। धर्म के अलावा दर्शन अथवा दार्शनिक प्रश्न विवादास्पद होते हैं।

हमारे इस देश मे प्राचीन काल मे विभिन्न धर्मों की मान्यताओ के भेद का कारण दार्शनिक प्रश्न ही थे, धार्मिक नियम नही। ईश्वर का अस्तित्व तथा अनस्तित्व अथवा अन्य किसीप्रकार के प्रश्न शुद्ध दार्शनिक प्रश्न है। ईश्वर के अस्तित्व का हामी एक पुरुष यदि हिंसा, असत्य का आश्रय लेता है तो उसे कदापि धार्मिक नही कहा जा सकता। इसीप्रकार कोई ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने वाला व्यक्ति धार्मिक नियमो का हृदय से पूर्णरूपेण अमल करता हो तो उसे अधार्मिक नही कहा जा सकता। किन्तु इससे भी बढकर धार्मिक ग्रन्थो मे अन्य कई ऐसे विषय भी सम्मिलित कर दिये गए हैं, जिनका धार्मिक नियमो से कोई सम्बन्ध नही है। यदि हमारे धर्म ग्रन्थो मे भूगोल, खगोल और ज्योतिष से सम्बन्धित किसी ऐसी बात का उल्लेख है जो आज के विज्ञान के दृष्टिकोण से सत्य ज्ञात नही होती तो भी धर्मग्रन्थो पर अनास्था का प्रश्न नहीं होना चाहिए। मै तो युवक वर्ग से यही कहना चाहता हूँ कि विज्ञान की किसी मान्यता के कारण धर्म ग्रन्थो मे उल्लेखित बात को असत्य करार देना, शीघ्रता का सूचक है। विज्ञान स्वय अपूर्ण तथा शोध के स्टेज की वस्तु है। जो बात आज से पचास वर्ष पूर्व असम्भव मानी जाती थी वही आज प्रत्यक्ष सत्य नजर आ रही है।

वायुयान की ही बात को लीजिये। आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व गगन-बिहार की कल्पना नही की जाती थी। जैन शास्त्रो मे वर्णित जघाचारी, विद्याचारी मुनियो की कथा अथवा तुलसीकृत रामायण मे पुष्पक विमान की कथा मे आकाश मे उडने की बात कही गई थी। मनुष्य उस पर विश्वास नही करता था। किन्तु इन ४०-४५ वर्षों मे गगन-बिहार प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्राचीन शास्त्रो मे वर्णित बातो मे जो सख्या बताई गई है, उसके सत्य या असत्य होने का निर्णय करते समय हमे इस बात का भी विश्वास करना पडेगा कि क्या उस समय की परिभाषा वर्तमान की परिभाषा के समान थी? यह बात बुद्धि को नही जचती है। मेरे मत मे समय के प्रभाव से यह भिन्नता अवश्य रही है। आज ३६५ दिनो का एक वर्ष माना जाता है। सम्भव है कि कई हजार वर्ष पूर्व एक वर्ष मे इससे कम दिन की गणना की जाती हो।

इसी प्रकार आज का युवक प्राचीन ग्रन्थो मे वर्णित कथा साहित्य को असम्भव, मानकर असत्य बताता है। जैन शास्त्रो मे मनुष्य की आयु, शरीर प्रमाण आदि, जिन बातो का उल्लेख किया गया है आज का युवक उसे असम्भव बताता है और इस कारण उसे धर्म शास्त्रो पर श्रद्धा नही है जैसा कि इसी लेख मे अन्यत्र उल्लेख किया गया है कि सम्भव असम्भव का निर्णय मनुष्य वर्तमान काल के मानव समाज की मान्यताओ के आधार पर करता है। आगामी काल मे कभी-कभी ऐसी मान्यतायें असत्य सिद्ध हुई है। मेरे निजी मत मे इस प्रकार के कथा साहित्य को ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पर जाचने की आवश्यकता नही है, प्रत्युत उस कथा के पीछे जो भावना निहित है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। अधिकत कथा साहित्य मे मनुष्य को भला बनाने की भावना निहित है। यदि उस कथानायक की आयु, शरीर प्रमाण किसी व्यक्ति को ठीक प्रतीत नही होती हो, फिर भी उसे विस्तार की बातो पर ध्यान न देकर उस भावना को सत्य मानना चाहिए ताकि उस कथा का असली उद्देश्य पूर्ण हो सके। इसमे सन्देह नही कि पूर्व काल मे धर्म शास्त्रो के निर्माण मे अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। यदि अधिक स्पष्टता से कहा जाय तो वास्तविकता यह है कि विभिन्न धर्म शास्त्रो मे अतिशयोक्ति की स्पर्धा थी। सम्भव है हमारे कथानायक के जीवन को अधिक आकर्षक व चमत्कारी बताने के लिए अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया हो। जिस समय पाठशालाओ के पाठ्यक्रम मे पौराणिक कथा सम्मिलित की जाती थी उस समय का यह अनुभव है कि उन कथाओ को पढकर बालक पर अच्छा प्रभाव पडता था। वह कुकर्म से भय खाता था तथा उसकी यह मान्यता बन जाती थी कि कुकर्म से दुर्गति होगी। जैन शास्त्रो मे स्वर्ग का जो लुभावना तथा नरक का बीभत्स वर्णन किया गया है, उसको पढकर मानव समाज अच्छे कार्यों के प्रति आकर्षित होता है और कुकर्म से डरता है। यदि कोई इस पर आग्रह करे कि स्वर्ग, नर्क के अस्तित्व का निश्चय किया जावे तो हमारे मत मे यह उचित नही होगा। जनहित की दृष्टि से तथा मानव कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि रहस्य, रहस्य ही रहे। प्रत्येक वस्तु की ऐतिहासिकता जाचने तथा सत्यासत्य का निर्णय करने पर जिद्द की गई तो सम्भवत हम किसी निश्चय पर नही पहुँचेंगे और हानि यह होगी कि मानव कुकर्म के प्रति भय रहित हो जावेगा। जिस मनुष्य को ज्ञानदान दिया जावे उसकी पात्रता देखना भी आवश्यक है। यदि किसी मूढ या दुष्ट व्यक्ति को यह विश्वास करा दिया जाय कि स्वर्ग नर्क, केवल कल्पना की वस्तु है, तो निश्चय रूप से वह कुकर्म के प्रति प्रेरित होगा तथा भय-रहित होकर अधार्मिक कृत्य करेगा। हमारे

धर्माचार्यों ने पूर्वकाल मे किसी विशेष कारण से कुछ रहस्यो को रहस्य ही रहने दिया। उसमे जन कल्याण की भावना निहित थी। आज मानव समाज रहस्य का पर्दाफास कराकर उच्छृंखल होना चाहता है। हम किसी बड़े व्यक्ति के सम्बन्ध मे कोई अनुचित बात सुनकर उस पर सहसा विश्वास करते हैं तथा सम्बन्धित व्यक्ति के प्रति अनास्था प्रकट करते हैं। हृदय मे सुप्त बुराई-प्रियता इसका कारण है। आवश्यक है कि हम अनास्था के स्थान पर आस्था का राज्य स्थापित करें। हम मोक्ष मार्ग के त्रिरत्नो मे से सम्यक् दर्शन पर अत्यधिक बल देकर श्रद्धा व आस्था का वातावरण प्रस्थापित करने मे सहायक हो? क्योकि मेरा यह नम्र किन्तु निश्चित मत है कि आज का युवक समाज जिस द्रुत गति से अनास्था की ओर बढ़ता जा रहा है यदि यही स्थिति कायम रही तो मानव समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जावेगी। श्रद्धा व आस्था का वातावरण स्थापित करने से मेरा तात्पर्य यह कदापि नही है कि तर्क को विदा करके अन्ध-विश्वास का वातावरण स्थापित किया जावे अपितु मेरा मन्तव्य तो यह है कि तर्क और श्रद्धा का सम्मिश्रण होना अति आवश्यक है। और मानव समाज मे इस प्रकार का तर्क एव श्रद्धा का सम्मिश्रित वातावरण स्थापित होने पर ही मानव समाज के कल्याण की आशा की जा सकती है।

२

सच्ची पूजा

ससार मे जितने महापुरुष हुए है। उन सब ने मानव समाज की उन्नति एव कल्याण के लिये अनेक कार्य किये है। इसके अतिरिक्त उन्होने मानवता को ऊँचा उठाने और सुसस्कृत बनाने के लिये भी अनेकानेक प्रयत्न किए है। वास्तव मे मानव समाज को उन महापुरुषो का आभारी होना चाहिये। उन्हे महामानव, महात्मा, ईश्वर आदि नाम से सम्बोधित करके कृतज्ञता ज्ञापन ही किया गया है फिर भी उपकारो को देखते हुए यह अतिस्वल्प है।

महापुरुषो ने मनुष्य की आत्मा को उच्चस्तर पर लाने के लिये जो मन्त्र दिया उसको 'धर्म' शब्द की सज्ञा दी जाती है। यह सिलसिला अनादि अनन्त है, अर्थात् मानव को ऊँचा उठाने का प्रयत्न ऐसे काल से चला आ रहा है जिसका आदि नही है, और ऐसे काल तक जारी रहेगा जिसका अन्त नही है। वास्तव मे इसी कारण 'धर्म' भी अनादि अनन्त है। प्रत्येक प्राण धारी आत्मा के साथ धर्म' का सम्बन्ध है। 'धर्म' आत्मा का स्वभाव है **'वत्थु सहावो धम्मो'**। जिस प्रकार अग्नि का काम जलाना होता है उसी प्रकार आत्मा का धर्म ऊँचा उठाना होता है **"धारणात् धर्ममित्याहु धारयतीति धर्म"** जो आत्मा को धारण करके, उसे ऊँचा उठावे उसे धर्म कहा जाता है। यदि वास्तविकता देखी जावे तो सदाचार के उच्चतम नैतिक सिद्धान्तो को धर्म कहा जा सकता है और यह भी स्पष्ट है कि सदाचार के नियम निर्विवाद होते है। विश्व मे कोई भी अहिसा, सत्य, अपरिग्रह, आदि नियमो का तथ्यत विरोध नही कर सकता है अथवा उसे मानव-समाज की अवनति का कारण नही मान सकता।

जैन परम्परा के अनुसार इस अनादि अनन्त विश्व मे इसी प्रकार के महापुरुष अनन्त हो गये है जिन्होंने मानव-समाज को अपने-अपने समय मे धर्म का उपदेश दिया। एक उत्सर्पिणी काल मे २४ तीर्थंकर होते है, और वह

अपने-अपने समय मे धर्म का प्रतिपादन करते हैं। इसी कडी मे अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए हैं। इन सब ने शाश्वत धर्म का रहस्य मानव समाज को बताकर धर्म का उपदेश दिया था अथवा दूसरे शब्दो मे कहा जावे तो अनादि अनन्त शाश्वत धर्म की व्याख्या इन महापुरुषो ने अपने-अपने समय मे अपने जीवनादर्श एवम् अपने प्रवचनो से की थी।

ससार मे यह नियम है, किसी वस्तु का स्वरूप अधिक समय बीतने पर विकृत हो जाता है। महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट धर्म का स्वरूप भी इस नियम का अपवाद नही रह सका है और उसमे कालान्तर मे विकार उत्पन्न हुए। यह कारण है कि पश्चात् के महापुरुषो ने उनको परिष्कृत करके ससार के सन्मुख रखा, इस विकृति को ही रूढि कहा जात है। इसी कारण जनसाधारण धर्म की असली भावना को भुलाकर उसके ककाल मात्र को धर्म समझने लगता है और धर्म के नाम पर अनेक अनर्थ कर बैठता है। इस शोचनीय परिस्थिति को मिटाने के लिये उस विकृति के उपरान्त प्रादुर्भूत होने वाले महापुरुष धर्म की पुरातन व्याख्या पर पुनरपि प्रचुर प्रकाश डालकर भ्रान्ति के अन्धकार को दूर करते है, और उही मूलभूत तत्वो को नए साचे मे प्रस्तुत करते हैं। देश, काल, भाव, क्षेत्र आदि का यथोचित विचार करके यह महानुभाव अपने मत का प्रवर्तन करते हैं, इन सब मे मानव हित की भावना विद्यमान होती है। बल्कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" की गौरवमयी कल्पना साकार करते हुए वे प्राणी मात्र को कल्याण के हेतु अपने सद्-प्रयत्न स्वान्त. सुखाय के रूप मे स्वभाव से सिद्ध कर जाते हैं और अमर कीर्ति छोड जाते है।

इस कारण सहज है कि मानव उन महापुरुषो का कृतज्ञ हो और उनकी पूजा करें। 'पूजा' शब्द का अर्थ आदर होता है, वास्तव मे यही माना जाना भी चाहिये, किन्तु समय के प्रभाव तथा भ्रमो के दयनीय प्रसार से 'पूजा' शब्द का अर्थ अत्यन्त सकुचित कर दिया गया है। यहाँ तक कि कही-कही तो वास्तविकता से कही दूर जा गिरा है। सम्प्रति 'पूजा' शब्द से तात्पर्य यही माना जाता है कि किसी मन्दिर मे प्रतिष्ठित महापुरुष की मूर्ति के सम्मुख विविध प्रकार के द्रव्य भेट किये जावें, उसको बहुमूल्य वस्त्र,आभूषण आदि से अलकृत किया जावे। वास्तव मे यह पूजा की विडम्बना है।

हम यहा इस विवाद मे नही पडना चाहते है कि किसी महापुरुष का स्मरण करने के लिये किसी मूर्ति की आवश्यकता है या नही। जैसे किसी अल्प-आयु बालक को अक्षर ज्ञान द्वारा वस्तु बोध कराना सरल नही है यदि उस बालक को चित्र से उस वस्तु का बोध कराया जावे तो वह सरल होता है। इस तर्क के आधार पर महापुरुषो के स्मरण करने के लिये उनके अथवा

उनके नाम पर निर्मित शास्त्र-ग्रन्थ आदि को सहायक मानते हुए भी उनकी मूर्ति को अधिक सहायक माना जा सकता है। यहा इस विवाद मे पड़ना इष्ट नही है कि इस प्रकार का आलम्बन मनुष्य की प्रारभिक अवस्था मे ही उपयोगी है अथवा आजीवन।

मनुष्य जब ज्ञान की दृष्टि से कुछ ऊँचा उठ जाय तब उसको शास्त्र तथा ग्रन्थो का अवलम्बन ही अधिक उपयोगी होता है। अल्पायु बालक ही प्रारम्भिक अवस्था से वस्तु का बोध चित्र द्वारा प्राप्त करता है, अधिक समझदार होने पर पुस्तक द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करता है। अपने उक्त विचारो के बावजूद यह मानने मे लेखक को कोई आपत्ति नही है कि इस अवलम्बन को यदि कोई मनुष्य आजीवन आवश्यकता मानता है तो अवश्य माने, किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम महापुरुषो की 'पूजा' किस प्रकार करें तथा क्या यह पूजा की विडम्बना नही है कि एक तो जहाँ हम किसी श्रद्धेय महापुरुष की बड़े समारम्भ और सजधज के साथ (षोड्शोपचार जैसी) अर्चना प्रदर्शित करें वही दूसरी ओर उन्ही महामनुज द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो व उपदेशो की सदैव हत्या करते है? ऐसे महापुरुष जिन्होने अपने जीवन-काल मे पूर्णरूपेण अपरिग्रहवाद को अपनाया सर्दी गर्मी व वर्षा ऋतु मे भी विपरीत जलवायु के प्रभाव से अपने शरीर को बचाने के लिये भी वस्त्रो का उपयोग कभी नही किया, यही नही, बल्कि दीक्षित होने के समय इन्द्र ने जो दैवदूष्य वस्त्र कन्धे पर डाल दिया था उसकी भी कोई चिन्ता नही की और निर्लिप्त भाव से यत्र-तत्र विहार करते रहे। उन्ही की मूर्ति को पूजा के नाम पर लोगो ने रेशमी वस्त्र पहिना डाले। जिन श्रद्धेयो ने आजीवन स्वर्ण-रजत आदि का स्पर्श तक नही किया, उन्ही की मूर्तियो को आभूषण पहिनाने मे भक्त नामधारियो ने अपने कर्तव्य की पूर्ति मान ली।

ऐसा प्रतीत होता है कि—मानो अनुयायीजन अज्ञानवश उन महापुरुषो की अतृप्त इच्छाओ को पूरा कर रहे हो। यद्यपि वस्तुतः उन आप्त महानुभावो की तो कोई इच्छा ही नही होती और न वह इच्छाओ के गुलाम होते है, तो उनकी तृप्ति-अतृप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, तथापि उन्हे कोई सात्विक अभिलाषा रहती है तो वह किसी ऐहिक नश्वर पदार्थ के लिए न रहकर उदात्त दैवी भावना से अनुप्राणित रहती है। उदाहरणस्वरूप -

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।

क्या ही अच्छा होता कि उनके पूजक उनकी इस आदर्श इच्छा को अतृप्त मान कर उसकी समुचित पूर्ति मे प्रयत्नशील होते? तथा कथित पूजको ने उनकी पवित्र भावनाओ को भुलाकर महापुरुषो के नाम पर ही

उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की और अपनी इच्छाओं के अनुरूप उन आदरणीय महापुरुषो के उपदेशो को तोडा-मरोडा, यह अत्यन्त ही कटु एव कष्टकर तथ्य है।

आज मानव समाज के सम्मुख महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि मनुष्य उन आदर्श दिव्य पुरुषो के सिद्धान्तो की स्पष्ट अवहेलना करके उनकी उक्तरूपेण पूजा करे अथवा उनके उपदेशामृत से अपने जीवन को सिंचित करके उसका यथोचित आदर अर्थात् वास्तविक पूजा करे। विवेकपूर्ण दृष्टि से देखने पर यही अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। दूसरी बात ही अधिक श्रेयस्कर है और यही सच्ची पूजा कही जायेगी। अँग्रेजी के विद्वान कवि लागफेलो ने कहा था।

Live of all great-man all reMind us
We can make our lives sublime
And departing leave behind us
Foot prints of the sand of the time

जैन मान्यता के अनुसार मनुष्य ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। साधारणत भी मनुष्य धार्मिक सिद्धान्तो का पालन करके अपनी आत्मा को उन्नत तो कर सकता है। आत्मा निर्मल, निष्पाप होते ही परमात्मत्व प्राप्त करती है। इसी को वैष्णव परम्परा मे "नर से नारायण" होना कहा जाता है महापुरुषो का यह उपदेश था कि उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो का पालन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उन्नत करे। और जब उन्नत करते-करते आत्मा पूर्णरूपेण निर्विकार बना ले तो उसे परमात्मपद की प्राप्ति हो जावे। दूसरे शब्दो मे कहा जावे तो महापुरुषो का उपदेश मूलतः यही था—मनुष्य स्वयम् महत्ता को धारण करे, किन्तु ऐसा करना तभी सभव है कि मानव समाज ऊपर लिखे अनुसार पूजित महापुरुषो के जीवन के अनुरूप अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करे और उनकी सच्ची पूजा करे किन्तु आज पूजने वालो द्वारा पावन पुरुषो के सिद्धान्तो की आत्मा की हत्या की जा रही है। आडम्बर बहुत है परन्तु उनके सिद्धान्तो की भव्य भावना और सजीवनात्मकता सर्वथा लुप्त हो चुकी है। उनकी अन्तरात्मा मृतप्राय हो रही। पूजक वर्ग मानो उच्च आदर्शों के शरीर मात्र को झकझोर रहा है। इतना ही नही उस निष्प्राण से अस्थिरपिजर को (जो सिद्धान्तो के सजीव शरीर का भग्नावशेष मात्र रहने दिया गया है) भाँति-भाँति की सज्जा-सामग्रियो से विभूषित करने मे ही इतिश्री एवं पूजा की परिसमाप्ति समझी जा रही है, यह दयनीय दशा है।

महापुरुषो के वाक्यो का अर्थ निकालने के लिए वास्तव मे उस भावना

को सामने रखने की आवश्यकता थी जिसको लक्ष्य में रखकर उन्होने अपने सुधोपम सन्देश का उदघोष किया। प्रत्येक कर्मयोगी, जिन्होने इसी प्रकार का श्रेयस्कर व्यहार किया है भगवान राम तथा कृष्ण क्रमश तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत तथा श्री नेमीनाथ के समय मे हुए हैं। इन दोनो महापुरुषो का जीवनचरित्र जैन शास्त्र तथा ग्रन्थो मे वर्णित है। भगवान राम तथा कृष्ण की पूजा भी इस प्रकार की जा रही है। उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्त तथा उनके द्वारा स्थापित उदाहरणो की ओर हम कतई ध्यान नही देते। राम भक्त होने का दावा करने वाले मनुष्य राम का नाम लेते है किन्तु कार्य रावण जैसा करते हैं और दुर्भाग्य से, यह कि इसके उपरान्त भी वे अपनी रामभक्ति के पाखण्ड पर लज्जित होने के स्थान पर गौरव का अनुभव करने मे सकोच नही करते। भगवान राम ने अपने जीवन मे एक-पत्नीव्रत, पिता-भक्ति, भ्रातृभाव आदि उच्च सिद्धान्तो का सक्रिय प्रतिपादन किया तथा ससार के सम्मुख ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया, जिसके कारण उन्हे मर्यादा पुरुषोत्तम माना गया। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने जीवन मे अन्याय का प्रतिकार करके न्याय का राज्य स्थापित करने मे अनवरत परिश्रम किया, किन्तु आज उनके पूजको की स्थिति बडी विषम है।

न्याय का पक्ष लेने के बजाय सबल का पक्ष लेना ही अच्छा समझा जाता है चाहे उसका पक्ष कितना ही अन्यायपूर्ण क्यो न हो। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे स्पष्ट बताया है कि अनीति का प्रतिरोध करने मे यदि मनुष्य को अपने स्वजन-परिजन का विरोध भी करना पडे तो चिन्ता नही, अपितु वह अनिवार्य रूपेण वाछनीय तथा इष्ट है क्योकि ससार मे शान्ति स्थापित करने और बनाए रखने के लिये न्याय की विजय होना और चिरस्थायी रहना आवश्यक है।

ससार मे आज सबल का प्रश्न प्रबल है। सबल निर्बल को दबाने की टोह मे है। यह बात केवल मनुष्य की ही नही बल्कि राष्ट्रो की भी यही स्थिति है, क्योकि वह भी तो मानवगण का ही तो वर्गीकृत समूह है। सबल राष्ट्र न्याय-अन्याय की परवाह किये बिना निर्बल को दबोचने की घात मे है। अन्तराष्ट्रीय रगमच पर यह नाटक सबल राष्ट्र खेल रहे है। आज इसके विरुद्ध जनमत जाग्रत होने की आवश्यकता है और वह तभी सम्भव है जबकि मानव-समाज सच्चे अर्थों मे पूजा के महत्व को समझे, महापुरुषो के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो का आदर करे और इस प्रकार उनकी सच्ची पूजा अपने व्यवहार से करे। यदि मानव ने महापुरुषो की ऐसी सच्ची पूजा प्रारम्भ की तो निश्चय रूप से एक दिन ऐसा आवेगा कि विश्व स्वर्ग बन जायेगा और मानव मे देवत्व आवेगा और वह एक दिन वास्तव मे स्वर्णिम होगा।

३

सम्प्रदाय और धर्म में अन्तर

भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है, तथापि जनसाधारण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नही है। यही नही अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्वर्ग मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नही कर पाता। वास्तव मे धर्म तथा सम्प्रदाय मे महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जबकि सम्प्रदाय अथवा पथ सकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष मे प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब सघ शासन ने 'धर्मनिरपेक्ष नीति' की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र मे भी बहुचर्चित रहा है। धर्म निरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है है कि जनसाधारण मे यह भ्रान्त धारणा गहराई से बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक सिद्धान्तो से कोई सम्बन्ध नही है। जहाँ तक मै समझता हूँ, यह तात्पर्य नही था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नही देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप से नीति का नाम यदि 'सम्प्रदाय निरपेक्ष नीति' रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व मे सम्प्रदायो के नाम पर जो रक्तपात पूर्वकाल मे हुआ है वह इस नीति के निर्माता गण की दृष्टि मे था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता है कि शासन उक्त सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति को अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय मे आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो से कोई

विरोध नही हो सकता । आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत में जिन सिद्धान्तो से मनुष्य का जीवन उदार, उन्नत सामाजिक जीवन बन सके, नैतिकता के उन उच्चतम नियमो का नाम 'धर्म' है । किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल मे ही भारतीय जनजीवन मे नैतिकता,सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारक वर्ग के लिये अत्यत विचारणीय प्रश्न है । भारतीय जनजीवन मे आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकतावादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट है । गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् दो वर्ष मे जो घटनाएँ देश मे, लोकसभा एव विधानसभाओ मे घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पडता है कि क्या भारतीयो मे सार्वजनिक प्रश्नो और समस्याओ को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है हमारे पास ? जन-जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है । इस पृष्ठभूमि मे यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैन धर्म एक सम्प्रदाय अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की है कि :

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवतो ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासति, एवं पण्णविंति, एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियोवेयव्वा न उद्दवेयव्वा, । एस धम्मे सुद्धे निइए सासए, समिच्च लोय खेयन्नेहिं पवेइयं तंजहा-उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदडेसु वा, अणुवरयदडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणेहिएसु वा, सजोगरएसु वा असजोगएसु वा, चेय, तहा चेय अस्सिं चेय पवुच्चई ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नही मारना चाहिये, उन पर आज्ञा नही चलाना चाहिए उनको दास की भाँति अपने अधिकार मे नही रखना चाहिये, उन्हे शारीरिक, मानसिक सताप नही देना चाहिये और उन्हे प्राणो से रहित नही करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत हे । ससार के दु खो को जानकर जगत-हितकारी भगवान ने सयम मे तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, योगी, भोगी को समान भाव से यह उपदेश दिया है, यह सत्य है, तथारूप है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन मे कहा गया है ।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्रयदाता धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नही हो सकता। वह धर्म शब्द मे निहित उच्च तथा महान् विचारो से समन्वित होने के कारण 'धर्म' है। यह सर्वविदित है कि 'धर्म' शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न संदर्भों मे विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहाँ जिस अर्थ का सदर्भ है यह कर्तव्य अथवा आचार सहिता का द्योतक है। एक प्राचीन आचार्य ने जैन धर्म की व्याख्या निम्न श्लोक मे अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण की है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडन किंचित् जैनधर्मः स उच्यते॥

४

भारतीय दर्शनो मे वैराग्य का स्थान

भारतीय दर्शन का लक्ष्य मनुष्य को आधिभौतिकता से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर ले जाकर मोक्ष प्राप्ति का रहा है। भारतीय प्राचीन साहित्य विशेष कर जैन साहित्य का कथाभाग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा देता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ स्व-पर के विवेक मे होता है। जब मनुष्य स्व तथा पर मे आत्मा तथा शरीर मे चेतन तथा जड मे भेद अनुभव कर लेता है, तब उसके जीवन का क्रम इस प्रकार हो जाता है कि जिसमे उसको स्व के प्रति राग तथा पर के प्रति द्वेष नही रहता वास्तव मे देखा जावे तो यही वैराग्य है। मनुष्य का हृदय जब वीतरागत्व के विचारो से ओतप्रोत हो जाता है तो उसको समग्र ससार, प्राणी-मात्र के प्रति कोई राग द्वेष नही रह पाता। उसी का वीतराग अथवा जिन कहा जाता है। किन्तु यह मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है। मनुष्य का हृदय इतना शुद्ध तथा परिष्कृत हो जावे कि उसमे राग तथा द्वेष का अश मात्र भी न रहे। तब ही वह 'वीतराग' अथवा 'जिन' कहलाता है। यही आत्मा की परमात्मत्व दशा है जैसा कि एक जैनाचार्य ने कहा कि

भवबीजाकुरजनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

उक्त आचार्य ने भव भ्रमण के मूल राग द्वेष को बताकर यह प्रतिपादित किया है उसका नाश जिसने कर लिया हो उसको नमस्कार करता हूँ। चाहे वह महान आत्मा ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो, चाहे जिन हो। प्रश्न यह है कि वैराग्य का आविर्भाव किस प्रकार हो? मनुष्य के शरीर 'मन' इतना शक्तिशाली होता है कि उसकी इच्छाओ पर काबू पाना बहुत मुश्किल कार्य है। मनुष्य शरीर मे जिन पाँच इन्द्रियो की विद्यमानता है, उन सब का

विषय सीमित है। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है। किन्तु छटा "मन" इतना विशाल होता है कि वह प्रत्येक विषय को ग्रहण कर सकता है। इस लिए उसे "सर्वग्राही" भी कहा जाता है। 'मन' का जब तक नियत्रण न हो तब तक "वैराग्य" असम्भव है। 'मन' की चचल वृत्ति पर श्री कृष्ण ने अर्जुन को सबोधन करते हुए श्रीमत् भगवद्गीता मे कहा है कि—

असशय हि महाबाहो, मनो दुर्निग्रहः चलम् ।
अभ्यासेण च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।।

तात्पर्य यह है कि 'मन' की चचल वृत्ति पर काबू पाना है उसको नियत्रित करना है तो अभ्यास डालिये तो निश्चित ही वैराग्य का आविर्भाव होगा और उस पर नियत्रण हो जावेगा ।

भारतीय दर्शनो से सम्बन्धित साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि उन्होने इस प्रकार के वैराग्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये 'सन्यासी' सस्था की व्यवस्था की। जैन धर्म तो श्रमण सस्कृति का महत्वपूर्ण अग माना जाता है। ब्राह्मण सस्कृति मे भी एक विशेष समय पर सन्यास जीवन की आवश्यकता स्वीकार करके उसका विधान किया गया। सन्यासी जीवन के नियम बनाए गए। यह दूसरी बात है कि सन्यासी सस्था मे काल क्षेप के कारण कुछ खराबिया आ गई वह अपने मूल उद्देश्य से कुछ सीमा तक पथ भ्रष्ट हो गई। यह प्रसन्नता की बात है कि श्रमणसस्कृति के जैन साधु समुदाय आज भी बहुत सीमा तक मूल उद्देश्य की पूर्ति करने वाला जीवन व्यतीत करता है हालाकि कालक्षेप के कारण उसमे भी बहुत सी खराबिया आ गई किन्तु मूल गुणो की विराधना बहुत कम है और यदि ऐसी घटना प्रगट हो जाती है तो श्रावक समुदाय उसे बरदास्त नही करता है। जैन समाज से सम्बन्धित सम्प्रदाय, परम्पराओ मे अधिकतर दीक्षित होने के पूर्व अभ्यास के रूप मे 'साधु जीवन' की मर्यादा सहित जीवन व्यतीत कराया जाता है। यही कारण है जब आज बुद्धिवादी वर्ग के निकट साधुओ की उपयोगिता विवादास्पद है वहा आज भी जैन श्रमण बहुत सीमा तक आदर का पात्र है। यह एक तथ्य है कि ब्राह्मण सस्कृति तथा श्रमण सस्कृति मे वैराग्य पूर्ण जीवन के लिए यह आवश्यक शर्त नही है कि वह परम्परागत सन्यासी अथवा श्रमण दीक्षा ग्रहण करे। दोनो सस्कृति मे इस प्रकार के कई उदाहरण भरे पडे है कि जिनमे गृहस्थावस्था मे भी कई महान् आत्माओ ने जल मे कमलवत् जीवन व्यतीत करके कर्मों से निर्जरा प्राप्त कर ली। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि वैराग्य के लिए आत्मा शरीर चेतन जड का भेद अनुभव होना तथा राग द्वेष पूरित भावना का नाश होना आवश्यक है। मनुष्य के लिये यह आवश्यक है

कि वह 'स्व' से भिन्न चाहे वह 'पर' हो, शरीर हो, जड हो उसे 'विरागी' रखे। पुद्गल के प्रति ममत्व भाव का नाश वैराग्य का मूल है। राजा जनक का उदाहरण स्पष्ट सकेत करता है कि राज धर्म निर्वाह करते हुए भी आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। इसी प्रकार के कई उदाहरण श्रमण संस्कृति मे भी विद्यमान है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य का जीवन तथा रूप नश्वर है किसी समय भी उसका नाश सम्भव है, विद्युत जैसा चचल है इसीलिये जैन-साहित्य के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' के १८ मे अध्याय मे एक मुनि द्वारा कम्पिलपुर के राजा सजय को उद्बोधन करने का जिक्र निम्न शब्दो मे किया गया है

जीविय चेव रूव च विज्जुसपात चंचलम्।
जत्थ त मुज्झसी राय, पेच्चत्थ नावबुज्झसि ॥

हे राजन्! मनुष्य जीवन तथा रूप विद्युत के समान चंचल है। इस पर भी तुम इसी मे मुग्ध हो? परलोक को क्यो नही सिधारते? बात वास्तव मे यह है कि इस विशाल विश्व म जीवन दुख तथा सुख रूप है। वैराग्यशील मनुष्य जिसे स्व-पर का विवेक जाग्रत हो गया है, वह दुख को भी सुख बना सकता है। उसको पीडा का अनुभव होने नही देता। कर्म की गति समझकर सहन-शीलता से बरदास्त कर लेता है जबकि ससार को ही सब कुछ समझने वाला पर-पदार्थ मे जीवन का सर्वस्व समझने वाला ऐसी विषम-स्थिति मे दुख अनुभव करके अधिक दुखी होता है। सत्य यह है कि ससार मे प्रत्येक बात मे भय ही भय है। 'वैराग्य' ही अभयदाता है जैसाकि भर्तृहरि शतक के वैराग्य शतक मे उल्लेख किया गया है।

भोगे रोगं भय, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयं।
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम् ॥
शास्त्रे वादभय गुणे खल भयम्, काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

५

प्रार्थना और सामायिक

हमारे देश मे ही नही, अपितु विश्व मे अनादिकाल से प्रार्थना का महत्व रहा है। भारतवर्ष की दृष्टि से विचार करें तो हम वेद काल मे वैदिक ऋषियो को मत्रो के माध्यम से प्रार्थना करते हुए पाते है। यही स्थिति उपनिषद् काल तथा श्रमण संस्कृति काल मे रही। ऐसा कोई युग नही कि जिसमे मानव जाति ने प्रार्थना को महत्व न दिया हो। साधारणतया-प्रार्थना शब्द से ईश्वर के प्रति-उनके स्तुति गान का तात्पर्य लिया जाता है। भारतीय आस्तिक दर्शन मानव जाति को प्रार्थना द्वारा ईश्वर के ही स्तुति गान करने का निर्देश दिया। उनके मत मे भगवान, भगवान रहा और भक्त सदैव भक्त। जैन दर्शन ने उक्त विचार धारा को अमान्य करके मानव जाति की आशा का सकेत दिया, तथा यह बताया कि ईश्वरत्व पर किसी जाति, कुल अथवा व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नही है। किन्तु आत्मा का विकास होते-होते वह महात्मा हो जाते हैं। जब उस महात्मा के पाप, पुण्य क्षय हो जाते है उनमे राग द्वेष नही रहता तब इस ससार मे आवागमन का प्रश्न समाप्त हो जाता है, वह परमात्मा हो जाता है। केवल मानव जाति ही नही समस्त प्राणधारी का यही चरम लक्ष्य है। जैन दर्शन ने बताया कि हमारी प्रार्थना परमात्मा से अपने किसी अभाव की पूर्ति के लिये नही होगी और न स्वर्ग प्राप्ति के लिये होगी। हम तो परमात्मा का गुण गान करेगे ताकि शनै शनै उस मार्ग पर चल कर मुक्तात्मा परमात्मा बन जावे। यदि हम वेदकालीन प्रार्थना के स्वरूप पर ध्यान दें तो हमे ज्ञात होगा कि उस काल मे भी वैदिक ऋषि अधिकतर अपने अभाव की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते थे। बात वास्तव मे यह थी कि उस समय मानव जाति को प्रकृति से सघर्ष करना पडता थाउसे प्रकृति के रहस्यो का पता न था। उपनिषद्काल मे तत्कालीन ऋषियो को स्वर्ग का विचार उत्पन्न हुआ उन्होने स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, श्रमण सस्कृति के काल मे तीर्थंकरो ने मानव

जाति का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्ररूपित किया और यह भी बताया कि मुक्ति (मोक्ष) किसी से भिक्षा याचना करने पर प्राप्त नही हो सकती अपितु मनुष्य को अपने पराक्रम से अपने शुभ अशुभ कर्मों का नाश करने ने लिये युद्ध घोष करना पडेगा तब आत्मा कर्म रहित विशुद्ध हो जावेगी जो कि आत्मा का मूल स्वरूप है। यह सच है कि इसप्रकार का मार्ग ग्रहण करने के लिये पूर्व के उदाहरण के रूप मे आदर्श निर्माण करना पडेगा। इस लक्ष्य को रखकर जैन दर्शन मे भी प्रार्थनाओ का महत्व बताया गया। जैन धर्म की समस्त परम्पराओ मे णमुक्कारमन्त्र का अत्यधिक महत्व है। उसमे पाच पदो मे अरहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय तथा लोक के सब साधुओ को नमस्कार किया गया है। इन पाच पदो मे प्रथम अरहत भगवान के चार घनघाती कर्म क्षय हो चुके है। सिद्ध भगवन्त के आठो कर्म क्षय हो चुके है वह मुक्तात्मा है। सिद्ध अनन्त हो चुके है अनन्त होगे। जैन दर्शन मे अनन्त शब्द पारिभाषिक शब्द है जिसका तात्पर्य अत रहित Endless है। मुझे अपने प्रारंभिक जीवन के दिनो मे, जब जैन साहित्य का यदा-कदा अवलोकन करता तो अनन्त शब्द गणित के सर्व मान्य सिद्धान्तो के सर्वथा प्रतिकूल लगता। मै अल्प बुद्धि से सोचता था कि गणित के सिद्धान्त के अनुसार २ मे से १ ऋण करने पर १ ही रहेगा २ नही रह सकते। इसी प्रकार अनन्त जीव राशि मे से अनन्त जीवो को मुक्ति प्राप्त होने पर अनन्त शेष कैसे रह जावेगे, जब मैने उपनिषद् के निम्न श्लोक को—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिद, पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥

पढा तो मुझे बडा समाधान हुआ।

जैन दर्शन मे सिद्ध भगवन्त को अनन्त शक्तिमान माना जाता है वास्तव मे आत्मा अपने मूलस्वरूप मे आ गया, शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्द हो गया तो उसे अनन्त शक्तिमान कहना उचित ही है। इस प्रकार जैन दर्शन मे प्रार्थना का उद्देश्य अभाव पूर्ति, स्वर्ग प्राप्ति की याचना के लिये नही है और न ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर का गुणगान केवल स्तुति मात्र के लिये है अपितु उसका उद्देश्य यह है कि हम उस आदर्श के अनुरूप स्वय अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध बना सकें। एक जैनाचार्य ने अरहन्त भगवान को लक्ष्य करके स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि -

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि को महान्॥

वास्तव मे जैन धर्मानुयायी परमात्मा की प्रार्थना करता है तो उसका उद्देश्य नर से नारायण' बनने का रहता है, उसके भगवान की गुलामी भी

पसन्द नही है कि वह सदैव भक्त ही बना रहे और प्रार्थना करता रहे। वह अपने आदर्श को जीवन मे ढाल कर अपने मूलस्वरूप-शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्द रूप, बनना चाहता है और इसी उद्देश्य को लेकर प्रार्थना करता है।

यदि हम जैनधर्मानुसार, मानव जाति के आदर्श पर विचार करें तो इसी परिणाम पर पहुँचेगे कि वे सब 'समता' को जीवन में उतार कर, समदृष्टि प्राप्त करने से ही उस स्थिति को पहुँचे थे। यदि मानव जाति-समता प्राप्त करले तो उसे निश्चित रूप से समदृष्टि प्राप्त होगी। मनुष्य को जब तक समदृष्टि प्राप्त न हो, उसकी दृष्टि सम्यक् न हो वह किसी समस्या पर विवेकपूर्ण सत्यासत्य का निर्णय नही कर सकता। जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के तीन उपाय मे सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान आवश्यक है। भगवान उमास्वाति ने कहा है कि.—
सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि मोक्षमार्ग।

किन्तु सम्यक्ज्ञान, दर्शन तब तक प्राप्त नही हो सकता जब तक कि सम्यक्दृष्टि न हो। नीर, क्षीर, विवेक बुद्धि मनुष्य को सम्यक्दृष्टि प्रदान करती है। वस्तु का यथातथ्य मूल्याकन तब तक नही हो सकता, नीर, क्षीर, विवेक-बुद्धि तब तक नही हो सकती जब तक आत्मा मे समता का विचार दृढ नही होता, जब तक कि उसके विचारो मे किसी के प्रति राग, पक्षपात, द्वेष, घृणा कायम रहेगी। आत्मा के इन सर्व दुर्गुणो से दूर रहने का अभ्यास-सामायिक व्रत है। सामायिक व्रत श्रावक के १२ व्रतो मे ९ वा शिक्षा व्रत है। मनुष्य ४८ मिनट के काल मे समस्त जीव, अजीव, पदार्थों पर समता भाव लाने का प्रयत्न करता है। श्रमण वर्ग का जीवन तो पूर्णरूपेण समतामय होना चाहिये। यह एक तथ्य है कि श्रमण वर्ग, दीक्षित होने के समय जिस प्रतिज्ञा को जीवन भर के लिये ग्रहण करता है वह सामायिक व्रत ही है। इसी से सामायिक व्रत का महत्व प्रगट होता है कि जैन धर्म का सार समता-मय भावना मे विद्यमान है। मानव सामायिक व्रत जितना शुद्ध रीति से पालन करेगा उसकी आत्मा उतनी ही अधिक शुद्धता के निकट पहुँचेगी। किन्तु आज समाज मे सामायिक व्रत भी रूढ़ि का पालन बनता जा रहा है यह एक निश्चित तथ्य है। कि धर्म का आभ्यन्तर स्वरूप सामायिक व्रत का शुद्ध रीति से पालन है। मनको अभ्यास के द्वारा ही अनुचित विचारो से रोक कर वैराग्य की ओर ले जाया जा सकता है। मानव के भीतर का मन, उसके अध्यवसाय की गति इतनी तीव्र होती है कि उसको किसी की आज्ञा द्वारा निश्चित दिशा मे ले जा सकना सम्भव नही है। मानव आत्मा उसे अभ्यास से द्वारा ही उस पर काबू पा सकती है। श्रीमद् भगवद्गीता मे स्पष्ट रूप से बताया गया कि :—

असंशयं हि महाबाहो, मनोर्दुनिग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।।

हे अर्जुन ! मन का निग्रह बहुत मुश्किल है उसको अभ्यास द्वारा ही वैराग्य की ओर ले जाया जा सकता है । कारण कि —

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयो: ।

हमारे सामायिक व्रत मे हम जितनी आभ्यन्तर स्थिति की शुद्धता का ध्यान रखेंगे उतने ही समता के निकट होगे । इसमे सख्या का महत्व नही है, समता भाव का सूचक विचार भगवान अमित गति के शब्दो मे—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ।

यह बडी प्रसन्नता की बात है कि समाज मे प्रार्थना तथा सामायिक के विचार को अपनाने पर बल दिया जा रहा है । सामायिक मे मनुष्य को स्वाध्याय करने का अवसर भी मिल जाता है । इसके लिये स्थविर पद विभूषित मुनि श्री पन्नालाल जी, तथा उपाध्याय श्री हस्तीमल जी मुनिद्वय, अत्यन्त प्रयत्नशील है यह सौभाग्य की बात है ।

६

तपस्या तथा उसका महत्व

जैनधर्म के समग्र तत्वज्ञान पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा तत्व ज्ञान का केन्द्र बिन्दु आत्मा, कर्म, मोक्ष रहा है इस कारण किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय इन तीनो बातो पर मनुष्य को अपना ध्यान केन्द्रित करना पडता है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टि का आदि, अन्त नही है इसी प्रकार आत्मा, कर्म, मोक्ष जैसे प्रश्नो का भी आदि अन्त नही है। यह सच है कि जैन धर्म मे सृष्टि के मौलिक प्रश्नो पर अनुपम रूप से विचार करके उनकी समस्या का हल निकाला गया है इस कारण यह स्वाभाविक था उसमे आत्मा, उसका कर्म के साथ सम्बन्ध तथा उससे मुक्ति जैसे प्रश्नो पर गहन रूप से विचार किया जावे, यह भी सच है कि जिसे हम आज जैन धर्म के नाम से अभिहित करते है, इसका प्राचीन नाम कुछ और था यदि यह कहा जावे कि वह आत्मधर्म ही था तो अधिक सत्य होगा। इस आत्मधर्म का जैनधर्म के रूप मे नामकरण तो बहुत अर्वाचीन है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध है किन्तु उसका अनादि अनन्तकाल से कर्म मल के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण ससार भ्रमण कर रही है, जैनधर्म की यह भी मान्यता है कि कर्म मल का नाश करके आत्मा अपनी शुद्ध बुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकती है, इसे मोक्ष, मुक्ति निर्वाण कहा जाता है, आत्मा अपने कर्म मल से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकती है इसको भगवान उमास्वाति ने अपने तत्वार्थसूत्र के प्रथम श्लोक मे ही सूत्र रूप मे विहित किया है--

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि-मोक्षमार्गः। १।

उक्त सूत्र मे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान्, सम्यक् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया गया है। प्रश्न यह रहा है कि इस त्रिविध मार्ग (रत्नत्रय) से आत्मा का भावी कर्म बध रुक सकता है किन्तु उसको सचित कर्म से मुक्ति किस

प्रकार मिल सकेगी। सचित कर्म से मुक्ति के दो ही मार्ग थे या तो उसे भोग लिया जावे या किसी अन्य प्रकार से उसका नाश किया जावे। तात्पर्य यह कि नवीन कर्म बध की रोक तो "सवर" के द्वारा हो सकती थी किन्तु सचित कर्म से मुक्ति "निर्जरा" के द्वारा हो सकती थी। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया कि सचित कर्म से निर्जरा का मार्ग केवल "तपस्या" है। इसी कारण दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन का आरम्भ ही निम्न गाथा से होता है —

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिसा, सजमो, तवो ॥
देवा वि तं नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

उक्त गाथा मे धर्म को सब मगलो मे उत्कृष्ट बताया है वह धर्म त्रिविध अहिसा, सयम तप रूप प्ररूपित किया गया है। इस प्रकार धर्म मय जिसका जीवन हो, जिसका धर्म मे ही आत्मरमण होता है। वह देवताओ का भी वदनीय है।

यदि हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करे तो यह स्पष्ट होगा कि भगवान पार्श्वनाथ के समय कई प्रकार के "तापस" विद्यमान थे जो विचित्र प्रकार से उद्देश्यहीन तपस्या करते थे। वास्तव मे वह तपस्याये एक प्रकार से केवल देहदमन या कायाक्लेश की थीं जिससे आत्मिक शाति बनी रहना सभव नही था। भगवान पार्श्वनाथ ने इस प्रकार की तपस्याओ का विरोध किया, भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की घटना जैन साहित्य मे प्रसिद्ध है। उन्होंने एक तापस को जो लकडी जला कर, तप कर रहा था, चेतावनी दी थी कि उसकी लकडियो मे एक नाग, नागिन जल रहे हैं, भगवान पार्श्वनाथ ने इस प्रकार हिसायुक्त तपस्याओ का विरोध करके सयम युक्त,सात्विक तप का उपदेश दिया है। भगवान महावीर के साधना काल के जीवन पर दृष्टि डाली जावे तो उन्होने अपने साधना काल मे अत्यन्त उग्र तपस्यायें की। कहा जाता है कि भ० महावीर के सचित कर्म अत्यधिक थे, इसी कारण उन्होने साधना काल मे अत्यन्त उग्र तपस्याये। की जैन साहित्य के प्राचीनतम आगम साहित्य मे श्रीमद् 'आचाराग सूत्र' का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा शास्त्रियो ने उक्त शास्त्र के प्रथम श्रुत स्कध को अत्यन्त प्राचीन माना है। 'श्रीमद् आचाराग सूत्र' अग साहित्य का प्रथम पुष्प है। उक्त सूत्र के ९वे अध्ययन मे भगवान महावीर स्वामी की अत्यधिक सयम युक्त तपस्याओ का वर्णन है। उक्त वर्णन से यह स्पष्ट ह कि भगवान महावीर ने बाह्य, आभ्यतर कई प्रकार की तपस्याए की, किन्तु अपनी शक्ति का ध्यान रखा। शारीरिक शक्ति के अनुसार तपस्या करने से आत्मिक शान्ति कायम रहती है। ऐसी तपस्या, जिससे अपनी शक्ति का ध्यान रखे

बिना केवल देहदमन या कायक्लेश किया जाता हो, से मनुष्य को शांति प्राप्त नहीं हो सकती। भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध ने अपनी शक्ति का ध्यान न रखकर पहले उग्र तपस्यायें की। परिणाम स्वरूप आत्मिक शान्ति कायम नही रह सकी। उन्होंने यह नतीजा निकाला कि इससे बोधि-लाभ नही हो सकेगा। वास्तव मे भगवान बुद्ध ने तपस्यायें सम्भवत अपनी शक्ति का ध्यान रखे बिना की थी। भगवान महावीर ने अपने कृति तथा उप-देशो मे तपस्या को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। उन्होंने बारह प्रकार की तपस्या विधान करके 'बाह्य तथा आभ्यन्तर' इस प्रकार का वर्गीकरण किया। वर्गीकरण से यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि आभ्यन्तर तप का अधिक महत्व है। उन्होने अज्ञान तप को निरर्थक बताया। श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट घोषणा है —

मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण तु भुजई।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कल अग्घई सोलसि॥

—अ० ९ गा० ४४

वास्तव मे 'तप' एक प्रकार का साधन है जिससे ससारी जीव अपने सचित कर्मो का नाश करके आत्मा की शुद्ध बुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। भगवान महावीर की उग्र तपस्या का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि लगभग २५०० वर्ष मे जैन जन-जीवन पर 'अहिसा' के सार्वभौम सिद्धान्त के अतिरिक्त यदि किसी की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है तो वह "तपस्या" की है। सारे देश मे जैन समाज की तपोनिष्ठा प्रसिद्ध है। चतुर्विध सघ मे साध्वी, साधु, श्रावक-श्राविका अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार वर्ष मे सुविधा तथा इच्छानुसार तपस्या करते हैं। विशेष बात यह है कि उक्त तपस्या करना ऐच्छिक है, अनिवार्य नही है। भगवान महावीर ने सदैव मनुष्य को यह स्वतन्त्रता दी है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार जिस प्रकार चाहे तप करे। उस महाभाग के श्रीमुख से सदैव 'जहा सुह देवाणुप्पिया' देव वल्लभ, जिस प्रकार सुखी हो वैसा आचरण करो। यही कारण है कि जैन समाज मे अन्य किसी बात मे विकृति हुई हो, किन्तु तपस्या की विशुद्धता बहुत अश मे कायम रही। मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि भगवान महावीर ने श्रीसघ या उसके किसी सदस्य पर तपस्या अनिवार्य करार दे दिया होता तो तपस्या की विशुद्धता नही रह पाती। अनिवार्यता मे ढोग होने की सम्भावना होती है जिससे विकृति आती है। फिर भी यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि जैन समाज के जन जीवन में आभ्यन्तर तप उतना घुल-मिल नहीं सकता जितना बाह्य तप। यही कारण है कि समाज मे स्वाध्याय आदि

जो आभ्यन्तर तप के भाग है, का प्रचलन अधिक नही हो पाया । जैन समाज के साधारण सदस्य को बाह्य तप की चकाचौंध में आभ्यन्तर तप का महत्व ज्ञात नही हो सका । तपस्याओ (बाह्य) की विशुद्धता के बावजूद तप के सम्बन्ध मे समाज मे कुछ रूढिया- प्रदर्शन अनुचित रूप से प्रचलित हो गई हैं । जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उपवास के प्रत्याख्यान के समय "चउत्थ भत्त" के त्याग कराये जाते है । किन्तु हम केवल उपवास के दिन दोनों समय का भोजन ही छोडते हे । धार्मिक मान्यता के अनुसार उपवास के पूर्व (धारणा) विशेष रूप से विशेष प्रकार का दुष्पाच्य भोजन ग्रहण करना अथवा उपवास के पश्चात (पारणा) इसी प्रकार का विशिष्ट भोजन ग्रहण करना अनुचित समझा जाना चाहिए । इसी प्रकार विशेष स्थानो पर लम्बे उपवास की समाप्ति पर आयोजन, समारोह, प्रदर्शन का औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता । जैन समाज को इन सारी समस्याओ पर गम्भीर विचारणा करके कोई सात्विक मार्ग निकालना चाहिए ।

"तपस्या" का साधारण अर्थ आहार त्याग माना जाता है । मनुष्य शरीर के जीवन निर्वाह के लिये "वायु भक्षण" भी करना पडता है किन्तु भगवान महावीर ने उपवास मे केवल चारो प्रकार के आहार के त्याग का विधान बताया हे । एक प्राचीन जैन आचार्य ने उपवास तथा लघन का भेद बताते हुए निम्न श्लोक मे अपूर्व उद्‌गार प्रगट किये थे:—

कषाय-विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवास स विज्ञेयं, शेषं लंघनकं विदुः ।।

यदि हम गहराई से विचार करें तो हमको यह स्पष्ट भान होगा कि 'लघन' तथा 'उपवास' मे मौलिक भेद है । लघन 'फाका' मे विवशता है, उपवास मे स्वेच्छा । आग्ल भाषा मे उपवास के लिये भी Fast शब्द का उपयोग किया जाता है । वास्तव मे Fast शब्द 'उपवास' के गर्भित अर्थ को व्यक्त नही करता । उक्त आचार्य ने उपवास के लिये कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ तथा विषय पचेन्द्रियो की अनुकूल इच्छाओ) का त्याग आवश्यक माना है । उसी को वह उपवास बताते हैं शेष तो 'लघन' हे । वास्तव मे 'उपवास' मे क्रोध आदि कषायो की कल्पना ही नही की जा सकती । उपवास आत्मा को निर्मल-शुद्ध बनाने का एक नम्र प्रयत्न है । एक अन्य आचार्य ने 'तप' की व्याख्या सूत्र (सक्षिप्त) रूप मे बडी महत्वपूर्ण की है । शब्दो की दृष्टि से सूत्र रूप मे होते हुये भी अधिक व्यापक व्याख्या कही जा सकती है उन्होने 'इच्छा-निरोध को तप कहा है (इच्छानिरोधस्तप.) वास्तव मे मनुष्य अपनी इच्छाओ का गुलाम है । अपनी

इच्छाओं के नियन्त्रण का नाम 'सयम' अथवा 'तप' है। जैनधर्म में प्रत्याख्यान प्रणाली महत्वपूर्ण मानी जाती है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी अनियंत्रित इच्छाओं पर नियन्त्रण 'काबू' करने का प्रयत्न करता है। जैन शास्त्रकारो ने इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त बताया है। मनुष्य प्रत्याख्यान के द्वारा इच्छा नियन्त्रण का अभ्यास करता है। शनै. शनै नियन्त्रण को कठोर किया जा सकता है। यह कठोर सत्य है कि आज समाज मे प्रत्याख्यान प्रणाली मे भी कुछ विकृति आती आरही है। हम देखते है कि वनस्पति 'हरी सब्जी' के त्याग को निर्वहन करने के लिये पूर्व से ही सुखाकर उपयोग किया जा सकता है। यदि हरी सब्जी का त्याग आवश्यक है तो उसको सुखाकर उपयोग करना प्रत्याख्यान की विडम्बना ही है। वास्तव मे हरी सब्जी के त्याग का महत्व इच्छा नियन्त्रण की दृष्टि से है किन्तु हम अपनी इच्छा पूर्ति का दूसरा रास्ता Back door बना लेते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से समाज, अन्य समाज तथा विचारक वर्ग की नजर मे हँसी का पात्र होता है।

जैन समाज के सम्मुख एक ज्वलत प्रश्न है कि समाज के युवको, किशोरो मे जैन सस्कार किस प्रकार प्रविष्ट हो। मुझे स्वय इस बात की चिन्ता है कि समाज के भावी सदस्यो-कर्णधारो मे जैनसस्कार की प्रविष्टि होना किस प्रकार शक्य होगा। यह कटु सत्य हमे स्वीकार करना होगा कि समाज के बच्चो के हृदय मे सस्कार की छाप के अभाव का कारण माता-पिता अथवा कुटुम्ब के अन्य सदस्यो का दुर्लक्ष-उपेक्षा है। कभी-कभी यह भी देखने मे आता है कि माता-पिता अथवा कुटुम्ब के वरिष्ठ सदस्यो मे ही जैन सस्कार नाम मात्र का है—इस सारी स्थिति मे तपस्या, उसका बाह्य-आभ्यन्तर रूप अथवा प्रत्याख्यान की पद्धति यह प्रश्न गौण हो जाते है। मुख्य प्रश्न, जिसे आज प्राथमिकता दी जानी चाहिये वह यह है कि जैन-आचार-पद्धति के प्रति समाज के बच्चो, किशोरो, युवको के मन मे आस्था, उत्पन्न की जावे। हमे जैन-आचार-पद्धति की विशिष्टता वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध करनी होगी, जहा जैन श्रावक प्रात काल उठकर नित्य नियम, स्वाध्याय, सामायिक, १४ नियम की बात सोचता था वहा आज जैन श्रावक का बच्चा, पाश्चात्य जीवन की नकल करता हुआ जिसे आज पाश्चात्य-प्रियता के कारण भारतीयो ने भी कुछ अश मे अपना लिया है। जिस प्रकार प्रात काल का कार्यक्रम सम्पन्न करता है उसका दिग्दर्शन हिन्दी के एक कवि ने बहुत सुन्दर शब्दो मे किया है —

दिन चढ़ आया, खुली नींद जब, पीने लगे 'बेड टी' लेट।
हाथों में अखबार आ गया, मुंह में सुलग रही सिगरेट॥
काफी, चाय, सिगार दोस्त को, दे फिर आप बनाते बाल।
पाखाने के बाथ रूम में, जहां नहा हो रहे निहाल॥

कवि का उक्त मतलब सम्भवत साधारण जैन कुटुम्ब पर पूरे तौर पर लागू न होता हो किन्तु ऐसे जैनकुटुम्ब पर अवश्य लागू होता है कि जो धनिक, पाश्चात्य जीवन पद्धति के अनुगामी हैं, शिक्षित है। आज जैन-आचार पद्धति का अनिवार्य नियम 'रात्रि भोजन त्याग' का पालन जैन कुटुम्बो मे यदा कदा ही देखने को मिलता है। हालाकि उक्त नियम अत्यन्त वैज्ञानिक स्वरूप का होकर स्वस्थ रहने की औषध है, किन्तु शिक्षित समुदाय में उसकी खिल्ली उडती हुई कई मरतबा देखी जा सकती है। यदि कोई मनुष्य उक्त नियम का पालन परिस्थितिवश मुश्किल मानता है तो वह विवशता बता दे यह समझ मे आने जैसी बात है किन्तु नियम की खिल्ली मनुष्य की अनास्था का प्रतीक है। एक समय मुझे एक कालेज के छात्रावास मे भाषण के लिये निमन्त्रित किया गया। मैंने अन्य बातो के अतिरिक्त रात्रि भोजन त्याग को धार्मिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, शारीरिक सब दृष्टि से उपादेय बताया किन्तु छात्रावास के बच्चो को गले न उतर सकी। जब मैंने उनको पाश्चात्य जीवन पद्धति के Break fast शब्द की व्याख्या करते हुये बताया कि इस शब्द के आविष्कार्ता की दृष्टि से यही अभिप्राय था कि मनुष्य रात्री को Fast फाका करे तब प्रातः काल उसे break करे। फास्ट को ब्रेक करने का नाम ब्रेक फास्ट है। जब तक आप रात्री (पूरी रात भर या कुछ घण्टो का) को फाका नही करते तब तक प्रात काल 'नाश्ता' लेने के अधिकारी कैसे होगे ? इस व्याख्या से छात्रो के मन मे इस नियम के प्रति आस्था का प्रादुर्भाव हुआ ऐसी मेरी धारणा है। समाज के चिन्तक, विचारक वर्ग को सामाजिक जीवन पद्धति के बारे मे ऊहापोह करके कोई मार्ग निकालना चाहिये जिससे हमारी भावी पीढी धार्मिक सस्कारो से शून्य न रहे, अन्यथा एक कवि के शब्दो मे जन-साधारण की भाति जैन का परिचय भी निम्न प्रकार का होगा —

मिट्टी का तन, मस्ती का मन ।
क्षण भर, जीवन मेरा परिचय ॥

७

णमोक्कार मंत्र

यह जन मामान्य तक भली-भाँति जानता है कि जैनधर्म के अन्तर्गत सम्प्रदाय तथा मम्प्रदायातीत पद्धति से विचार करने वाले सब कोई 'णमोक्कार मंत्र' को अत्यन्त पवित्र तथा महत्वपूर्ण मानते है। इसे जन साधारण अधिकतर 'नवकार मत्र' कहते है जबकि भाषा की शुद्धता की दृष्टि से यह 'णमोक्कार मत्र' है जिसका अर्थ है नमस्कार, इम णमोक्कार मत्र मे अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तथा लोक के समस्त साधु जनो को अपना नमस्कार निवेदन किया गया है। इम णमोक्कार मत्र के अन्त मे कई लोग इमका महत्व बताने वाली एक गाथा भी कहते है—

एसो पच णमुक्कारो, सव्व पाव प्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, पढमं हवइ मगलम्॥

जैन ममाज का साधारण व्यक्ति भी णमोक्कार मत्र का उच्चारण करके अपनी भाव पूजा पाचो पद को अर्पित करता है यदि हम इस महामत्र की भावना पर ध्यान दें तो हम इस मत्र को सम्प्रदायातीत विचार का सन्देश-वाहक पाते है वैसे जैनदर्शन मे सकुचितता या साम्प्रदायिकता की गध तक नही है। जैन दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनेकात दृष्टिकोण' हमे समस्त धर्मों के समन्वय का पाठ मिखाता है यह एक प्रकार से वैचारिक अहिसा है और इसके द्वारा अपने से भिन्न विचारधारा के पुरस्कर्ता के प्रति भी आदर का भाव व्यक्त करता है तथा उसमे आशिक सत्यता आरोपित करता है किन्तु इस महामत्र मे तो गणधर भगवान ने उदारता का ऐसा रूप बताया है कि—जिसके कारण इसका असाम्प्रदायिक रूप अकाट्य है। भारतीय धर्मों मे—"श्रमण सस्कृति" का विशिष्ट स्थान है। भगवान महावीर के काल मे तत्कालीन विचारधारा मे 'श्रमण' सस्था मे केवल जैन साधु ही नही अपितु अन्य साधु जन साख्य, गैरिक, तापस, जैन, बौद्ध का भी समावेश था ऐसी लेखक की

मान्यता है किन्तु गणधर भगवान ने इस महामत्र के पचम पद मे केवल जैन साधु या श्रमण सस्कृति के पुरस्कर्ता साधु जन तक ही सीमित नही किया अपितु लोक के समस्त साधु समुदाय तक को अपना-नमस्कार निवेदन करने का प्रावधान रखा।

यदि हम भगवान महावीर की समकालीन परिस्थिति पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि भगवान महावीर के अनुगमन कर्ता मे कई परिव्राजक, सन्यासी आदि भी थे और उनका पथ-प्रदर्शन भी इसी महापुरुष के द्वारा किया जाता रहा है। जन धर्म मे १५ प्रकार से मुक्ति प्राप्ति का प्रावधान है जिसमे विशेष रूप से तीर्थ सिद्धा, अतीर्थ सिद्धा, गृहलिंग सिद्धा, अन्यलिगसिद्धा आदि का भी समावेश है। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर के मार्ग मे मनुष्य चाहे वह निग्रन्थ धर्म मे निहित चारो तीर्थ (साधु साध्वी, श्रावक श्राविका) मे से कोई हो या अन्य किसी महापुरुष का अनुयायी हो किन्तु जिसके कषायो का उपशम हो गया हो चाहे वह गृहस्थ हो मोक्ष प्राप्ति के लिये सक्षम है। इस प्रावधान ने भी जैन दर्शन की उदारता को जग-जाहिर कर दिया है।

इस महामत्र के शेष चारो पदो मे भी कोई सकुचितता, अथवा साम्प्रदायिकता का दृष्टिकोण नही है अरिहत, सिद्ध, आचार्य तथा उपाध्याय विभिन्न धर्मों मे हो सकते है और उन सबको इस मत्र मे नमस्कार निवेदन किया है किन्तु यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष विनिर्मुक्त हो तब ही नमस्कार के योग्य है जैसाकि एक विद्वान ने कहा था--

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।
बुद्धं वा वर्धमान शतदल निलयं, केशव वा शिवं वा।

यहा सस्कृत प्राकृत के उद्‌भट विद्वान जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य की एक घटना उद्धृत करना समीचीन होगा जिन्होंने शिव प्रतिमा के सन्मुख निम्न श्लोक पढकर नमस्कार किया था--

भव बीजांकुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

तात्पर्य यह है कि किसी भी महापुरुष के नमस्कार योग्य होने के लिये आवश्यक यह है कि वह राग-द्वेष (जो इस ससार मे आवागमन के बीज रूप है) से मुक्त हो फिर उसका नाम चाहे जो, हो, इसी प्रकार आचार्य तथा उपाध्याय उसी के मार्ग का अनुसरण करने वाले हो--

जिस प्रकार वैदिक धर्मानुयायियो के निकट गायत्री मत्र का, इस्लाम के निकट कलमा (ला इलाहा इल्लिलाह मुहम्मद रसूलिल्लाह) का महत्व है उसी

प्रकार पवित्र भावना का द्योतक यह Secular Type का महा मन्त्र नमस्कार मन्त्र है जिसका अंग्रेजी भाव अनुवाद निम्न है—

I bow to the deserving one's and to those who attened perfections, and I bow to the preceptors to the sayes and the leaders of mankind who have taught the righteous path.

मैं कई दिनो से एक कमी अनुभव कर रहा हूँ कि हमारे इस पवित्र मन्त्र का स्वर, ताल से लय युक्त गेय रूप समाज के सन्मुख नही आ सका। समाज को किसी ऐसे कलाकार को यह कार्य सुपुर्द करना चाहिये जो इस प्राकृत मन्त्र को लय युक्त गेय रूप मे प्रस्तुत कर सके। यदि आवश्यक हो तो पुरस्कार स्वरूप उचित धन राशि की घोषणा करके इस कार्य को सम्पन्न कराना चाहिये।

८

क्षमा-वणी पर्व और हमारा दायित्व

जैन धर्म की प्रत्येक परम्परा मे —'क्षमापना-दिवस' मनाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा मे क्षमापना-दिवस भादो सुदी ४-५ को तथा दिगम्बर परम्परा मे भादो सुदी १४ को प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है। कोई उसे 'क्षमा दिवस' कोई 'क्षमावणी' के नाम से भी आयोजन होने लगे हैं। उद्देश्य एक ही है। वह कि हम विश्व भर के समस्त प्राणधारियो से अपने कृत अपराध की क्षमा चाहे, यदि किसी प्राणधारी ने हमारे प्रति अपराध किया हो तो उसे क्षमा करदें। तात्पय यह है कि forget & forgive की नीति को हम अगीकार करें। इस अखिल विश्व मे कोई व्यक्ति हमारा बैरी न रहे। हम किसी के प्रति बैर भाव न रखे, यही इस महापर्व के पीछे भावना है।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, बैर मज्झ ण केणई ॥

इसमे बताया गया कि हम किसी के प्रति बैर भाव न रखे। आप जानते हैं कि यदि हम मैत्री भावना को न अपनायें तो हम-'राक्षस' हो जावेंगे। हमारे हृदय मे क्रोध होगा जिसके कारण हृदय क्रोधाग्नि से परिपूर्ण हो जावेगा। जब हमारे मस्तिष्क मे क्रोध होगा तो हमारी बुद्धि मस्तिष्क को खाली कर देगी। यह एक सुनिश्चित बात है कि मस्तिष्क मे एकसाथ मे एक ही बात रह सकती है क्रोध रहे या बुद्धि। सक्षेप मे यह कि मनुष्य को अपने प्रति किये गए अपराध को भूलना ही पडेगा इसीलिए forget & forgive का सिद्धान्त अपनाया गया है यह शुभ दिवस भ्रातृत्व का सदेश वाहक है। इस मैत्री भावना के द्वारा हम वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श अपना सकते है। भारतवर्ष जैसे अध्यात्म प्रिय देश की यह इच्छा है जो इस देश के प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री जवाहरलाल जी ने स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया था, कि न हम अपने व्यक्तिगत जीवन मे ही मैत्री-भावना को अपनायें अपितु सामाजिक तथा अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र मे भी

यही भावना अपनाई जावे । यही कारण है कि उन्होंने 'पचशील' का व्यापक तथा अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित किया था । वास्तव मे देखा जावे तो यह सिद्धान्त राजनीतिक अध्यात्मवाद का प्रतीक है । भारतवर्ष शान्तिप्रिय देश है उसके नेतागण की हार्दिक इच्छा है कि विश्व मे शान्ति रहे । उसके नेतागण अध्यात्म प्रेमी है, उनके रोम-रोम मे अध्यात्मिकता भरी हुई है । वह भौतिकता के सिद्धान्तो से प्रभावित नही है । हम चाहते है कि विश्व का प्रत्येक देश मैत्री दिवस का आयोजन करे और प्रत्येक देश के साथ मैत्री भावना जागृत करें । सयुक्त राष्ट्र सघ इस प्रकार के वातावरण को निर्माण कर पाये तो आप निश्चित जानिए कि सारा विश्व शान्तिप्रिय बन जावेगा । किन्तु आज हमारे जैन भाइयो ने ही स्वय आचार्य अमितगति के शब्द मे —

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थभावम् विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

की कृति नही अपनाई है । इसी कारण जैन समाज एक छिन्न भिन्न समाज है । जैन समाजान्तर्गत विभिन्न सम्प्रदाय की मान्यताओ का अभी तक समन्वय नही है । और इसी कारण उनका एकीकरण आज तक सम्भव नही हो सका । समाज का इस ओर कोई ध्यान नही है । इतना ही नही अपितु व्यापक प्रश्नो के सम्बन्ध मे समाज एकमत नही थे, न उस दिशा मे कोई सम्मिलित प्रयत्न होता है । इसी कारण अभी क्षमापना-दिवस का आयोजन भी सारे भारतवर्ष मे एक दिन नही होता है । कुछ स्थानो पर यह आयोजन एक ही दिन अखिल जैन समाज की ओर से किया जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है । होना तो यह ही चाहिए था कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार पर्युषण प्रारम्भ होता है तब से पर्युषण-पर्व प्रारम्भ किया जाकर दिगम्बर सम्प्रदाय के पर्व का अन्तिम दिन हो तब तक सारा जैन समाज पर्युषण-पर्व को मानता, किन्तु यदि आज की परिस्थिति मे यह सम्भव न हो तो कम के कम 'क्षमापना-दिवस' तो एक ही दिन मनाया जावे, उत्तम बात तो यह होगी कि दोनो सम्प्रदाय को पर्यूषण की समाप्ति पर क्षमापना-दिवस का सार्वजनिक आयोजन किया जाकर मैत्री दिवस मनाया जावे ।

हमारा यह विश्वास है कि समय की माग के अनुसार एक दिन ऐसा आयेगा जबकि सारा जैन समाज, आचार्य के शब्दो मे यह विश्वास करने लगेगा कि—

नाशाम्बरत्वे नसिताम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षसेवाऽऽश्रयेण मुक्तिः, कषायमुक्तिःकिल मुक्तिरेव ॥

जब जैन समाज इस प्रकार की वृत्ति ग्रहण करेगा तभी हमारी वाणी मे मजबूती आवेगी और तभी हमारी इच्छा के अनुसार विश्व के राष्ट्र भी मैत्री दिवस का आयोजन करके परस्पर मैत्री भाव जागृत करेंगे।

९

जैनधर्म का समाजवादी स्वरूप

यदि हम जैन धर्म मे निहित तत्वो की ओर गहराई से देखे तो हमे यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देगी कि उसमे व्यक्ति तथा हमाज मे अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध मानते हुए भी अधिक महत्व समाज को दिया गया। यह सत्य है कि जैनधर्म आचार प्रधान है उसमे विधि-निषेध सम्बन्धी प्रावधान है तथा उन पर अमल करना आवश्यक माना जाता है इस परिप्रेक्ष्य मे इसे व्यक्ति परक भी कह दिया जाता है किन्तु यह एकागी सत्य है। वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने तीर्थ की स्थापना की तथा चतुर्विध तीर्थ रूप सघ को अत्यधिक—महत्व दिया। श्री नदी सूत्र की प्रास्ताविक गाथाओ मे सघ महिमा का जो सुन्दर काव्यात्मक रूप हमको मिलता है उससे सघ की महत्ता का दिग्दर्शन हो सकता है, यही नही अपितु स्वय तीर्थंकर भी सघ को 'णमोतित्थस्स' कहकर वन्दना करते हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति का समूह ही सघ होता है किन्तु Individual रूप से व्यक्ति को सघ का महत्व प्राप्त नही होता जबकि व्यक्ति सामूहिक रूप से 'सघ' कहाता है और उसे महत्व प्राप्त है। इस सामूहिकता का अपर नाम ही 'समाज' है। हम चाहे आज के आधुनिक युग मे समाजवादी विचारधारा का जनक 'कार्ल मार्क्स' को कहे किन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिकता तथा समाज-परक व्यवस्था का विचार तथा अमल हमारे देश मे युगो-युगो से रहा है। एक विशेषता इस देश की यह भी रही है कि समाज परक व्यवस्था केवल एक विचार, एक Theory ही न ही रही अपितु इन व्यवस्थाओ के पुरस्कर्त्ता महापुरुषो मे पेश्तर ने उस पर अमल किया। जैन साहित्य के एक महान् सूत्र 'श्री मद् स्थानाग सूत्र' मे दस धर्मों का विवेचन किया है जिसमे ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, समाज धर्म का समावेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा के उद्धार के लिये

प्रयत्न करना कर्त्तव्य माना जाता है उसी प्रकार उसको समाज के प्रति भी अपना कर्त्तव्य निर्वाह करना लाजमी है।

प्राग् ऐतिहासिक काल के कुलकर या युग की समाप्ति के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने जो समाज व्यवस्था देश को दी तथा राज्य सस्था का निर्माण किया उसके अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा कि उन्होंने मानव को अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिये असि, मृसि, कृषि सम्बन्धी कार्यो मे सलग्न रहना जरूरी माना। तात्पर्य यह कि उस प्राग् ऐतिहासिक काल मे भी एक 'महनत कश' समाज का सूत्रपात किया गया। यही नही उन्होंने त्यागी वर्ग के लिये त्रि याम (अहिसा,सत्य,अपरिग्रह) का उपदेश किया। कहा जाता है कि उसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे चर्तुयाम करके सशोधन किया तथा भगवान महावीर ने पचयाम करके पच महाव्रत का रूप दिया (देखिये अमर भारती जनवरी १९७३ अक) कुछ भी हो किन्तु यह विवाद से परे तथ्य है कि जैन धर्म के पुरस्कर्त्ता महापुरुषो के हृदय मे जिस 'श्रमनिष्ठ' समाज की कल्पना थी उसके लिये उन्होंने 'अपरिग्रह' का प्रावधान भी आवश्यक समझा। हालाकि उस युग मे शोषण के बडे-बडे साधन नही थे। त्यागी वर्ग के सन्दर्भ मे एक आदर्श वाक्य है।

"असविभागी नहु तस्स मोक्खो"

जो अपने प्राप्त व्यय का सविभाग करके अन्य को नही देता उसकी मुक्ति नही हो सकती। यदि हम श्रावको के लिये निर्दिष्ट १२ व्रतो का अध्ययन करे तो हमे स्पष्ट रूप से पता लगेगा कि श्रावक को जहाँ अपनी सम्पत्ति की सीमा बाधकर अल्प परिग्रही होने का विधान किया गया वहाँ उसकी दैनिक-व्यवहार की वस्तु पर भी सीमा लगाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि श्रावक सम्पत्ति का असीमित सचय न करे इतना पर्याप्त नही माना गया अपितु उससे अपेक्षा की गई कि वह अपने दैनिक व्यवहार की वस्तु-भोगोपभोग पर भी limit करे ताकि देश के उत्पादन का कितने भाग का वह उपयोग करेगा यह सीमा बाँध दी जावे। इन महापुरुषो ने विश्व को जिस प्रकार के त्याग का उपदेश दिया वैसा ही अपने जीवन मे अमल किया। यदि यह कहा जावे तो अधिक सत्य होगा कि इन महापुरुषो ने पहले त्याग तथा साधना के द्वारा 'कैवल्य' प्राप्ति की तथा जिस सत्य का—साक्षात्कार किया उसका उपदेश विश्व को दिया। भगवान् महावीर के पश्चात् इन २५०० वर्ष मे कई महापुरुषो ने इस देश को दिशा-दर्शन दिया है तथा अपने जीवन व्यवहार से प्रभावित किया है। अभी ताजा उदाहरण राष्ट्रपिता बापू का है जिन्होंने देश

को केवल समाजवादी व्यवहार करने का उपदेश नही दिया अपितु स्वयं के जीवन व्यवहार को इस प्रकार सीमित करके साक्षात् साम्यवादी, समाजवादी होना सिद्ध किया। समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक दिया। जैसा कि इस देश की परम्परा रही है।

जैन साधना पद्धति मे सामायिक का बडा महत्व है। चाहे त्यागी वर्ग की साधना हो चाहे गृहस्थ की। दोनो पद्धति मे 'सामायिक' का महत्व है। इस पारिभाषिक शब्द 'सामायिक' का मूल 'समता भाव है। सामायिक वह है जब कि मनुष्य विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव अपने हृदय मे धारण करके उसको आजीवन अथवासमय विशेष तक धारण करे। इसी कारण जैन साहित्य के एक अनुपम शास्त्र उत्तराध्ययन मे कहा गया कि

"समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।"

समता भाव धारण करने से ही श्रमण हो सकता है। जब कोई व्यक्ति श्रमण (साधु) दीक्षा लेते हैं तो उसे आजीवन सामायिक का व्रत धारण करना होता है। यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए सामायिक व्रत धारण करना चाहता है तो उसे समय की सीमा बांधकर सामायिक व्रत कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि जैन साधना पद्धति का हार्द 'सामायिक' है जिसमे समता भाव का धारण करना अनिवार्य है। जैन परम्परा के एक धुरन्धर विद्वान-आचार्य समतभद्र ने समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना करने की अपनी शुभ भावना प्रदर्शित करते हुए बताया था कि हे भगवन्! आपका यह तीर्थ 'सर्वोदय' (सब का उदय करने वाला कल्याण करने वाला) है

सर्वापदामन्तकर निरंत
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के महान् विचारको ने बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय का प्रावधान करके विश्व का महान् उपकार किया है, उसका उद्घोष था कि—

अर्पित हो मेरा मनुज काय
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ॥

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह नि शक रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म मे समाजवादिता का जो स्वरूप है वह केवल आर्थिक नही है। एकागी नही है, अपितु जिस समाज-परक व्यवस्था का प्रावधान किया है उसमे मानव जीवन का आदर है, उसके विचारो का आदर है, उसमे आर्थिक स्वतत्रता का उद्घोष है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है आधुनिक समाजवाद के

पुरस्कर्त्ता 'काल-मार्क्स' का लक्ष्य केवल मानव के अर्थ-तंत्र से सम्बन्धित था। इसमे सन्देह नही कि जब विश्व की विचारसरणि मे 'देव-वाद' का बोल बाला था, मनुष्य अपनी गरीबी को भगवान् या भाग्य की देन मानकर संतोष कर लेता था उस युग मे विचारक ने स्पष्ट घोषणा की कि—किसी भगवान या भाग्य ने मानव को गरीबी का प्रावधान नही दिया। अपितु समाज-व्यवस्था राज्य की व्यवस्था,पूँजीवादी आधारपर होने से वह गरीब है, इसकारण राज्य की व्यवस्था इस प्रकार की परिवर्तित की जाना चाहिये कि जिससे प्रत्येक को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये समुचित अवसर मिल सके। इस विचारक की विश्व को बड़ी देन है किन्तु फिर भी वह एकागी है। मानव के केवल आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी बहुत कुछ शेष रहता है। आधुनिक समाजवादी विचारधारा राज्याश्रित अधिक है। समाजवादी यह विश्वास करते है कि राज्य व्यवस्था समाजवादी सिद्धान्तो पर आधारित होने से सब कुछ ठीक हो जावेगा। मानव अभाव से पीडित नही रह सकेगा। तात्पर्य यह कि मानव को अपने अभाव की पूर्ति के लिये राज्य-व्यवस्था के परिवर्तन तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। जबकि भारतीय प्राचीन विचारधारा यह स्पष्ट निर्देश करती है कि दोनो कार्य साथ साथ हो ताकि मानव तब तक उपेक्षित न रह सके। कल्पना कीजिये कि एक मकान मे आग लग जावे या पड़ौसी के मकान का निवासी भूख से तडपता हो तब पडौस का रहने वाला राज्य शासन की सहायता के लिये भागे तब तक पडोसी का मकान स्वाहा हो जायगा या उसके प्राण पखेरू उड जावेंगे। इसलिए भारतीय समाजवादी विचारधारा व्यक्ति को उपेक्षित देखना नही चाहती। एक विचारक ने लिखा था कि समाजवादी व्यवस्था मे प्रजा, राज्य तथा अधिकारीगण पर अधिक आश्रित हो जाती है। राष्ट्रपिता बापू के हृदय मे यह कल्पना थी कि इस देश का निवासी अधिक राज्याश्रित न हो। इससे मानव के मन मे परावलम्बिता का उदय होगा और यह परिणाम, एक स्वतन्त्र देश के नागरिक के सम्मान के अनुकूल नही है। जब मानव को राज्य से उसकी आकाक्षा की पूर्ति नही होती तो वह निराश होता है और एक कवि के शब्दो मे उसके मुँह से निकलने लगता है।

ऊलफत के सिले मे, सरकार से अपनी।
एक दर्द मिला दिल में, और दाग जिगर में॥

वास्तविकता यह है कि आधुनिक समाजवाद का कोई स्वरूप निश्चित नही है। एक विद्वान ने लिखा था कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है कि जो किसी के भी सर मे फिट हो सकती है। कहा जाता है कि साम्यवादी देशो मे भी

समाजवाद का स्वरूप पृथक-पृथक् है । रूस तथा चीन के समाजवाद मे ही अतर है । एक बात निश्चित है कि समाजवादी विचारधारा ने मानव के मन मे आर्थिक स्वतन्त्रता की भूख, जगा दी है किन्तु यह विचारधारा एकागी होने से मानव के मन मे 'असन्तोष' की आग भडका देती है । वह केवल अपने जीवन यापन के स्तर (Standard of Life) वृद्धि की दिशा मे ही सोचता है, अधिकार की भाषा उसके मुँह पर होती है कर्तव्य का पक्ष उसके मस्तिष्क मे नही आता परिणाम यह होता है कि प्रत्येक खराबी का दायित्व वह राज्य पर होना करार देकर राज्य के प्रति विद्रोही भावना को बढाता है । हमारी भारतीय विचारधारा मे भी राजा को असन्तुष्ट होना आवश्यक माना जाता था जैसाकि कहा गया है—

असन्तुष्टा द्विजा नष्टा, सन्तुष्टा च महीभुज. ।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलांगना ।

किंतु प्रजा के मन मे असन्तोष जागे तो चूँकि वह राज्याश्रित अधिक है उसका क्रोध राज्य पर ही होता है । दूसरी बात जो मानव के मन मे घर कर जाती है वह 'वर्ग-विद्वेष' है । मानव की विचार सरणि चूँकि एकागी होती है इस कारण वह 'अर्थस्य पुरुषोदास' हो जाता है तथा उसके अभाव की जिम्मेदारी राज्य के साथ एक विशेष वर्ग पर डालकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है ।

उपरोक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट है कि आधुनिक समाजवादी विचार-धारा का जब तक भारतीयकरण न हो तब तक प्रजातत्र मे स्वय के कर्तव्य की भावना जागृत नही हो सकती और न राज्य के प्रति स्वय के कर्तव्य का भान उसे हो सकेगा । अधिक सत्य यह है कि राजनीति के पास मानव की समस्याओ का समाधान नही है चाहे कोई वाद हो वह समस्या सुलझा नही सकेगा । समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय तब ही सफल हो सकेंगे, जब कि उसमे मानव के हृदय को परिवर्तन करने की शक्ति हो और उसका लक्ष्य मानव को आदर्श नागरिक बनाना हो । आज की विश्व की समस्याओ का समाधान तब हो सकेगा जबकि मानव सनातन मूल्यो की पुन. प्रतिष्ठा कर सकेगा । जैसाकि प्रसिद्ध इतिहासविद तथा विश्वसस्कृति के अध्येता डॉ० टायनवी का नव-प्रकाशित पुस्तक मे निष्कर्ष निकाला गया है । जैन धर्म मे समाज-परक व्यवस्था तथा समाजवादिता के जो विचार कण फैले पडे हैं उसके अनुसार मानव, सनातन मूल्यो की पुनर्स्थापना करे तब ही मानव का कल्याण हो सकता है । मानव का विकास सर्वांगीण होना चाहिये यही जैनधर्म मे निहित विचार-कणो का सार है और यही जैनधर्म मे निहित समाजवाद का स्वरूप है । ●

१०

सामाजिक तथा आर्थिक न्याय

यदि हम प्राचीन जैन साहित्य का अवलोकन करें तो हम इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि जैनधर्म का मुख्य आधार अहिसा पर है। 'अहिसा' से तात्पर्य केवल प्राणिवध से विमुख होना नही है किन्तु प्रत्येक प्रकार की हिंसा से विरत रहने से जैनधर्म ने जहाँ प्राणिवध को अनुचित माना वही उसने 'बौद्धिक हिसा' को भी वर्जित माना। इसीलिये एक प्राचीन जैनाचार्य ने स्पष्ट कहा था कि—

> **स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।**
> **नास्त्यन्यपीडन किंचित्, जैनधर्म स उच्यते॥**

किन्तु अहिसा के सम्मुख एक प्रश्न और था वह यह कि समाज मे से अर्थ-जन्य द्वेष तथा ईर्ष्या को किसप्रकार समाप्त किया जावे और उसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भगवान महावीर ने अपने उपदेशो मे 'अपरिग्रह' के विचार को बहुत महत्व दिया। भगवान महावीर ने ससार के कल्याण के हेतु जिस स्वानुभूति-पूर्ण मार्ग का उपदेश दिया वह 'निर्ग्रन्थ-धर्म के नाम से पहचाना जाने लगेगा। जैनश्रमण वर्ग के नियमो-उपनियमो का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चलेगा कि श्रमण को अपने शरीर तक की परवाह किये बिना 'आत्मानन्द' मे लीन रहना उत्तम श्रमणधर्म बताया गया। यहाँ तक कि जब शारीरिक बल कम होता जाय और जीवन की आशा न रहे तब उसे पूर्ण रूप से शरीर-मोह त्याग कर 'सलेषणा व्रत' अगीकार कर लेना चाहिये। इसमे भी कोई सन्देह नही कि गृहस्थ पूर्ण रूप से अपरिग्रही नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि मानव के मन मे अनन्त वासनाए, इच्छाएँ होती हैं। जैन शास्त्रो ने मानव की इच्छा को आकाश के समान अनन्त बताया है। तात्पर्य यह है कि आकाश के समान अनन्त इच्छाओ को परिमित करने का उपदेश भगवान महावीर ने गृहस्थ को दिया, किन्तु उसका भी अन्तिम लक्ष्य पूर्ण अपरिग्रही माना गया

और इसके लिये भी 'सलेषणाव्रत' धारण करके शरीर त्याग उचित माना गया। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्द जी कोसाम्बी भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदेशित 'चातुर्याम धर्म' से बहुत प्रभावित थे और उन्होने अपनी-अपनी शारीरिक स्थिति की गिरावट का लक्ष्य रख कर अतिम 'सलेषणा व्रत' अगीकार करके शरीर त्याग के विचार को उचित समझा था, जैसा कि उनके द्वारा-लिखित 'भगवान बुद्ध' नामक पुस्तक की प्रस्तावना मे आचार्य काका कालेलकर ने व्यक्त किया है। मेरे नम्र मत मे यह सब अपरिग्रह विचार की प्रक्रिया है।

वास्तव मे भगवान महावीर के उपदेश का सार हिन्दी वर्णमाला के प्रथम-अक्षर-अ- से प्रारम्भ होने वाले तीन सिद्धान्त (१) अहिंसा, (२) अनेकान्त, (३) अपरिग्रह है। इस लेख का उद्देश्य अपरिगह के विचार के द्वारा भगवान महावीर ने विश्व को किस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक न्याय का उपदेश दिया, इसका दिग्दर्शन कराना है।

अपरिग्रह एक 'विचार' है वाद नही यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नही है। जब कोई विचार 'वाद' का स्थान ले लेता है तो उसमे सकुचितता, जडता आ जाती है वह विचार सीमित हो जाता है। भगवान महावीर ने बताया था कि विश्व मे किसी वस्तु का सग्रह 'पाप' है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह करता है तो वह समाज मे अपवित्रता का सूत्रपात करता है। सग्रह करने वाला व्यक्ति उन वस्तुओ से समाज के अन्य सदस्यो को वचित कर देता है। सक्षिप्त मे सग्रह पाप है। चाहे धन का हो अथवा अन्य किसी वस्तु का हो। जिस युग मे मानव समाज वस्तुओ का विनिमय करके अपनी आवश्यकता की वस्तु को प्राप्त करता था उस Barter Syatem की कठिनाई को ध्यान मे रखकर सिक्को का प्रचलन प्रारम्भ किया गया। यह मानव समाज की सुविधा के लिये था ताकि मनुष्य को अपनी इच्छित वस्तु सिक्के के बदले मे प्राप्त हो सके। किन्तु मनुष्य ने इस सिक्के तथा इसके पश्चात् प्रचलित करेन्सी नोट का सग्रह किया। सिक्का तथा करेन्सी नोट का मुख्य कार्य प्रचलन था। जब मनुष्य ने उसका सग्रह किया तो समाज मे बुराइयाँ फैली। यदि पाठक करेन्सी-शब्द के शाब्दिक अर्थ को ध्यान मे ले ले तो उन्हे ज्ञात होगा कि जिस नोट का Current जारी रहे, प्रचलित रहे वही करेन्सी नोट है। जब मनुष्य ने उसे सग्रह किया तो उससे समाज मे एक अभावग्रस्त वर्ग उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार लक्ष्मी 'चचल' मानी जाती है। उसका स्वभाव चंचल है,

वह किसी एक व्यक्ति पास स्थायी रूप से नही टिक सकती है, एक प्राचीन कवि ने विनोद मे कहा था—

पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय'

यदि हम प्राचीन परम्परा पर ध्यान दें तो हमे ज्ञात होगा कि लक्ष्मी का वाहन उलूक है, तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य लक्ष्मी को अपनी आवश्यकता की प्राप्ति का साधन मानकर उपयोग करता है, ममत्व-रहित विनिमय करता है, उसके लिये लक्ष्मी एक साधन है किन्तु जिसने लक्ष्मी को साध्य मानकर उसकी पूजा की उस व्यक्ति को लक्ष्मी ने अपना वाहन बना लिया। मानव की इस सग्रह की वृत्ति को व्यापार के क्षेत्र मे Hoarding तथा होड Competition द्वारा अनुचित लाभ प्राप्ति की वृत्ति को जन्म दिया है। मनुष्य इसी वृत्ति के कारण पूँजीवादी बना। यह माना जाता है कि पूँजीवाद का प्रारम्भ 'सौदा' तथा उत्कर्ष 'सट्टा' से होता है। उसका अतिम लक्ष्य 'द्यूत' है। इस पूँजीवादी वृत्ति के कारण समाज मे सचय, भिक्षा, चौथ जैसी भयकर बुराईया फैलती है।

वास्तव मे आज विश्व 'सद्भाव' तथा 'अभाव' दो खेमो मे विभक्त है। विश्व मे इन्ही दो खेमो मे परस्पर सघर्ष है, एक व्यक्ति विपुल सामग्री से युक्त है तथा दूसरा आवश्यक वस्तुओ के अभाव से दुखी है। जब विपुल सामग्री युक्त व्यक्ति अपनी सग्रहीत सामग्री का मूल्य बढाकर अभाव पीडित व्यक्ति के लिये दुर्लभ कर देता है तो उसकी आत्मा रो देती है। इतना ही नही अपितु पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने तो मूल्य स्थिरीकरण के नाम पर सग्रहीत वस्तु को नष्ट करने तक की व्यवस्था बता दी। इस भारी विषम परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप समाज मे अमीर-गरीब जैसे वर्गों की स्थापना हो गई। समाज मे अमीर वर्ग निहित स्वार्थ वाला तथा स्थितिपालक बन गया। अमीर तथा गरीब की स्थिति का शब्द-चित्र हिन्दी के एक कवि ने निम्न शब्दो मे किया है —

श्वानो को मिलता दूध,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच,
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल, फुलेलों पर,
पानी सा द्रव्य बहाते हैं।

मानव समाज ने जिन महापुरुषों को जन्म दिया है उनमे भगवान महावीर महात्मा बुद्ध के पश्चात् महात्मा ईसा, हजरत मुहम्मद का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है। महा-मा बुद्ध ने भी मानव समाज के दुःख निवारणार्थ चार आर्य सत्यो का मार्ग बतलाया था। महात्मा ईसा ने तो घोषणा की थी कि सूचिका (सुई) के अग्रभाग मे से किसी ऊट का निकलना सम्भव नही हो सकता है किन्तु धनी मनुष्य का स्वर्ग मे प्रवेश असम्भव है। बाईबिल मे वर्णित एक कथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस कथा का सारांश यह है कि अगूर के बगीचे के मालिक ने कार्य करने के हेतु कुछ मजदूर प्रातःकाल से नियुक्त किये किन्तु दोपहर को देखा तो कुछ अन्य मजदूर कार्य के अभाव मे वही खड़े थे। उनको भी उसने कार्य पर लगा लिया। इसी प्रकार तीसरे पहर भी कुछ अन्य मजदूरो को कार्य के अभाव मे खड़े देखा, उसने उनको भी कार्य पर लगा दिया, किन्तु सध्या को मजदूरी चुकाने के समय सबको उतना ही दिया कि जो प्रातःकाल से कार्य करने वाले मजदूर को दिया था। समानरूप से मजदूरी दिये जाने पर प्रातःकाल से कार्य करने वाले मजदूरो को दुःख हुआ, किन्तु उद्यान के स्वामी ने स्पष्ट कहा कि तुम से जो मजदूरी तय हुई वही मैंने तुमको दे दी। मैं कार्य के अभाव मे प्रतीक्षा करने वालो को भी वही मजदूरी देता हूँ। अपने धन का मै स्वामी हूँ, तुम्हे दुःख होने का कारण नही है। उक्त कथा के द्वारा बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर मानव का ध्यान आकर्षित किया है।

हजरत मुहम्मद का जीवन तो स्वयम् अल्प आवश्यकता लिये हुए गरीबो का जीवन था। उन्होने मानव के सम्मुख 'गरीबी' का आदर्श रखा। इन सब महापुरुषो ने किसी वाद की स्थापना नही की, अपितु उन्होने मानव के अन्तर्मन मे जो सद्विचार के बीज थे उनको अपील की और अभाव-पीडित व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के लिये मार्ग-दर्शन किया। भगवान महावीर ने लगभग २५०० वर्ष पूर्व अपरिग्रह की जो अपूर्व व्याख्या की थी उसमे भी किसी वाद की स्थापना का कोई विचार तो नही था किन्तु उसमे 'समाजवादी विचार' के बीज अवश्य विद्यमान थे। उक्त व्याख्या से देश मे यह विचार भी पल्लवित हुआ कि समस्त वस्तुएँ और धन उस व्यक्ति विशेष का नही, अपितु समाज की सम्पत्ति है। 'समाजाय इदम्, न मम्' व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार उसका वितरण कर देना चाहिये। जो व्यक्ति वितरण नही करता वह दोषी है।

'असंविभागी नहु तस्स मोक्खो'

विश्व मे कई दार्शनिक विद्वान हुए। उन्होंने भिन्न-भिन्न रीति से अर्थ-जन्य विषमता को मिटाने का उपाय बताने का प्रयत्न किया। इन सब में

मार्क्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है मानवता के इस पुजारी ने स्पष्ट बताया था कि अमीरी और गरीबी भगवान की बनाई हुई नही है, किसी भी धर्म में उनका कोई प्रावधान नही है । इस महाविचारक का विचार था कि हमे ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये जिसमे न अमीर रहे न गरीब, इस महान् तथा पवित्र विचार के उद्देश्य पूर्ति के लिये उन्होंने वर्ग-सघर्ष का मार्ग पसन्द किया । यह स्पष्ट है कि वर्ग-सघर्ष के मार्ग मे हिंसा अनिवार्य थी । यही कारण है कि उक्त पवित्र उद्देश्य के होते हुए भी साधन अपवित्र होने के कारण देश मे उसको अधिक पक्ष नही मिल सका । इस विचारक के पश्चात् भारतीय रगमच पर एक ऐसी विभूति का अवतरण हुआ जिसने विश्व को प्रमाणित किया । उस महान विभूति 'गाधी' ने केवल सैद्धान्तिक बात ही नही की अपितु प्राचीन कई महापुरुषो की भाति 'दरिद्र नारायण' का जीवन स्वयम् व्यतीत किया । उस महान विभूति ने मानव के अन्तर्मन की अपील की, उसने सभी के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया । बाईबिल मे वर्णित कथा के आधार पर रस्किन द्वारा लिखित पुस्तक UNTO THIS LAST 'अन्त्य को भी' ने गाधी के जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया । यही कारण है कि गाधी जी विश्व मे मानव की सद्बुद्धि व विवेक को अपील करके समाज मे 'सर्वोदय' की स्थापना करना चाहते थे । यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो हमे इस विभाग मे साध्य व साधन दोनो की शुद्धता दिखाई देती है । पवित्र साध्य के लिये भी अहिंसक साधन अपनाया जाने की बात थी, किसी पर कोई दबाव नही । वास्तव मे भगवान महावीर तथा उसके पश्चात् जैनाचार्यों ने जिस 'सर्वोदय तीर्थ' की रचना का विचार किया था, वही विचार गाधी जी द्वारा उपस्थित किया गया ।

'सर्वापदामन्तकर निरत,'
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव'

यदि हम समाज की वर्तमान परिस्थिति पर सूक्ष्म अध्ययन करें तो इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि सामाजिक तथा आर्थिक विषमता के कारण मानव समाज मे सारी व्यवस्था अर्थप्रधान हो गई है । अर्थ के अभाव मे मानव का कोई मूल्य नही । पुराने समस्त मूल्य समाप्त होकर केवल अर्थ-प्राधान्य हो गया है । मनुष्य की विशाल आशा, आकाक्षा पूर्ति का विचार उसे राक्षसीवृत्ति वाला बनाने पर उतारू है । प्रश्न यह है कि कौन-सा मार्ग प्रशस्त है जिसके द्वारा मनुष्य की सात्विक-वृत्ति जागृत हो सके ? मै यह स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि यदि मानव ने अपनी आवश्यकताओ को कम नही किया, सादगी का मूल्य नही आका तो उसका जीवन-स्तर कितना ही न बढ़ जाय, वह असन्तोष

की ज्वाला मे जलता रहेगा । इसमे सन्देह नही कि मनुष्य को सम्मान के साथ जीवित रहने के लिये वस्त्र, भोजन और निवास उपलब्ध होना चाहिये और यह भी सत्य है कि शासन, विशेष कर कल्याणकारी राज्य अथवा प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य का दावा करने वाले शासन का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह मानव को उसकी अनिवार्य आवश्यकताओ, (वस्त्र, भोजन निवास) की पूर्ति करें किन्तु साथ ही शासन के कर्णधारो पर यह भी जिम्मेदारी है कि देश के प्राचीन महापुरुषो की भाति स्वयम् अल्प-सतोषी जीवन यापन करे तथा देश के सम्मुख सादगी का मूल्य प्रस्थापित करें । समाज मे जब तक 'सतोष' की वृत्ति जागृत न की जावे वह स्वय को सुखी अनुभव नही कर सकता । 'असन्तोष' ही दु ख मूल का है । मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि वर्तमान शासन कानून के द्वारा समाज मे से बुराई को समाप्त करने का प्रयत्न कर सकता है किन्तु चोरी छिपे भी कोई व्यक्ति उस बुराई को नही करे, स्वेच्छा से उसे घृणा हो जावे यह स्थिति शासन निर्माण नही कर सकता । यह स्थिति निर्माण करने की क्षमता केवल 'सर्वोदय' मे ही है । सर्वोदय का लक्ष्य है कि मानव शासन से अनुशासन की ओर बढे वह स्वेच्छा से अपने पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये, जिसमे वह सुख अनुभव कर सकें । एक विचारक ने कहा था कि जब मनुष्य को अपनी साधन-सामग्री की प्रचुरता का अभिमान हो तो उसे अधिक साधन सम्पन्न को देखना चाहिये उसका गर्व नष्ट हो जायगा । यदि उसमे अपनी साधन अल्पता के कारण दीनता अनुभव हो तो उसे चाहिये कि अपने से कम साधन वाले व्यक्ति को देखे । उसकी दीनता नाश हो जावेगी । तात्पर्य यह है कि सुख, दुख मनुष्य की मन की अवस्था का नाम है । इतना निश्चित है कि मानव जब तक भौतिकवादी बना रहेगा, उसे सुख का आभास नही हो सकता ।

सत्य यह है कि मनुष्य का लक्ष्य 'सुख प्राप्ति' है और यह भी सत्य है कि राजनीति के आधार पर स्थापित कोई भी वाद मानव समाज मे असन्तोष उत्पन्न करता है, जबकि नीति तथा धर्म का मुख्य आधार सतोष है । मानव समाज मे बलात् विषमता को दृष्टि मे रखकर आज यह विचार बल पकड रहा है कि वैयक्तिक सम्पत्ति का सिद्धान्त शनै शनै समाप्त किया जावे । आज हमारे देश मे अचल सम्पत्ति से लाभ प्राप्त करने की अनियन्त्रित इच्छा पर शासन ने कई प्रतिबन्ध लगा रखे हैं । भारतीय शासन जिस राजनीतिक दल के हाथ मे है उसने (काग्रेस) जनतत्रीय पद्धति द्वारा समाजवाद का ध्येय गत वर्ष ही स्वीकार किया है । तात्पर्य यह है कि भविष्य मे किसी समय देश मे यह विचार बल पकड़ेगा कि सारी सम्पत्ति का स्वामी 'समाज' है और

व्यक्ति आवश्यकतानुसार उसका उपभोग कर सकता है। प्राचीन विचारकों ने स्पष्ट कहा था कि —

मनुष्य सौ हाथ से एकत्र करे किन्तु हजार हाथो से उसका वितरण करे। गांधीजी ने भी ट्रस्टी-शिप का विचार देश के सम्मुख रखा था। यह निश्चित तथ्य है कि देश मे व्यक्तिगत रूप से सादगी का मूल्य बढे, इसकी जिम्मेदारी शासको पर है। प्रजातन्त्र मे मत्रीगण ही नेता माने जाते हैं। उनको यह निश्चित करना चाहिये कि वे देश मे 'भोग-प्रधान सस्कृति' या 'त्याग-प्रधान सस्कृति' चाहते है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि मत्रीगण ने त्याग-प्रधान सस्कृति निर्माण का वातावरण अभी उत्पन्न नही किया, जो कि देश की प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। विस्तार तथा उसकी पूर्ति के लिये वैध,अवैध उपाय अपनाये जाने की वृत्ति तरक्की पर है देश मे आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है। तभी जैनाचार्य की दृष्टि से देश के नागरिको के मन मे निम्न भाव मुखरित होगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यतु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।

११

विश्व-धर्म सम्मेलन : एक भेंटवार्ता

नई दिल्ली।

१२, लेडी हार्डिंग रोड

विश्वधर्म-सम्मेलन के कार्य का कक्ष।

मध्य भारत के जाने-पहचाने सेवक और विचारक श्री सौभाग्यमलजी जैन के साथ मैं चाय पी रहा था।

'कलकत्ते का सम्मेलन कैसा रहा ?'' श्री जैन साहब मुझसे अचानक पूछ बैठे। मैं सभला और उत्तर देने को तत्पर हुआ। पर सम्मेलन किस अर्थ मे कैसा रहा, यह समझे बिना क्या उत्तर दिया जाय ? फिर भी कुछ न कुछ जनरल बात तो कहनी चाहिए, इसलिए मैने चाय की चुसकी लेते हुए कहा—'शानदार रहा।'

प्रश्न उठा था, उत्तर मिल गया, बात समाप्त हो गयी। पर मेरे मन का समाधान नही हुआ। मैंने पूछा –

'विश्वधर्म-सम्मेलन के भविष्य के सम्बन्ध मे आपके क्या विचार है ? क्या बताने का कष्ट करेंगे ?'

'निश्चय ही विश्वधर्म के विचार का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।' सौभाग्यमलजी ने बातो मे रस लेते हुए कहना शुरू किया और फिर तो कहते ही चले गये—'पर उसका भविष्य और भी अधिक उज्ज्वल हो सकता है, यदि हम थोडा गम्भीरता से इस ओर ध्यान दें तथा दो-तीन बातो पर विशेष रूप से विचार करें।'

सहज ही मेरी जिज्ञासा को बढावा मिला और मैंने पूछा—'कौनसी है वे दो-तीन बातें ?'

'पहली बात तो यह कि हमे धर्म के इस प्लेटफार्म को राजनैतिक स्वार्थ-सिद्धि का अखाडा नही बनने देना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का महत्व हमारे

इस प्लेटफार्म पर इसलिए नही होना चाहिए कि वह राजनैतिक दृष्टि से बड़ा व्यक्ति है, या मिनिस्टर है या अन्य पदाधिकारी है, बल्कि विश्वधर्म के प्लेटफार्म पर खड़े होने वाले व्यक्ति के जीवन मे साधना होनी चाहिये, साहित्य, सस्कृति या समाज की सेवा का उसके पीछे इतिहास होना चाहिए। यदि हम इस बात का ध्यान रखेंगे तो सहज ही अनेक प्रकार के दोषो से हम मुक्त रह सकेंगे।'

'लेकिन आज तो हमारे समाज मे सर्वत्र इन राजनैतिक नेताओ का ही महत्व है। अखबारो पर भी, रेडियो पर भी, प्लेटफार्म पर भी, सब जगह इन्ही का बोलबाला है। ऐसी स्थिति मे हम उनसे कैसे बचे रह सकते है ?' जब मैंने यह पूछा, तो जैन साहब ने कहा—'आपका कहना सर्वथा ठीक है और वास्तविकता पर आधारित है। पर हमे इससे बचना ही होगा। यदि राजनीति का भूत हम पर भी सवार हो गया तो वह हमारे मिशन को क्षत-विक्षत कर देगा।' मै दूसरी बात जानने को उत्सुक था, इसलिए मैंने पूछा—'अच्छा, आपका दूसरा सुझाव क्या है ?'

'मेरा दूसरा और सबसे मुख्य सुझाव यह है कि हमे इस तरह के साहित्य-निर्माण तथा प्रकाशन की योजना बनानी चाहिए, जिसमे साहित्य एक दूसरे धर्मवाले विचारो की दृष्टि से निकट आ सके। आज एक-दूसरे के धर्म को नीचा दिखाने वाला और खडित करने वाला साहित्य प्रचुर मात्रा मे है तथा प्रतिक्रियावादी तत्व उसका जी-तोडकर प्रचार भी करते है। यदि हम इस वैमनस्योत्पादक साहित्य से समाज को बचाना चाहते है, तो हमे उसके मुकाबले मे ठोस तथा स्वस्थ साहित्य समाज के सामने प्रस्तुत करना होगा।

'सभी धर्म तीन विचारो पर आधारित हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति। किसी धर्म ने ज्ञान के महत्व को अत्यधिक मान कर शेष दोनो भागो का एकान्त रूप से खडन किया। इसी तरह किसी ने कर्म को पकडकर खीचना आरम्भ कर दिया और किसी ने भक्ति को। वास्तव मे तो तीनो विचारो का सतुलन ही धर्म है। जब तक हम विचार को सुरूचिपूर्ण तथा आधुनिक साहित्य का निर्माण करके जनता को नही समझायेंगे, तब तक विश्वधर्म का विचार घर-घर मे प्रवेश नही पायेगा।'

साहित्य-निर्माण की बात जैन साहब ने बहुत ही गम्भीरता तथा तीव्रता से कही। उन्होंने यह भी बताया कि इस प्रकार की किसी योजना पर अमल किया जाय तो वे अपनी पूरी शक्ति इस काम मे लगाने को प्रस्तुत है।

इसके बाद मैने तीसरी बात बताने का उनसे अनुरोध किया, तब उन्होंने कहा—

'तीसरी बात यह है कि सभी धर्मों को मानने वालो के सामने कोई एक ऐसा 'कोमन प्रोग्राम' होना चाहिए, जिसका सभी अमल कर सकें। वह कोमन प्रोग्राम क्या हो सकता है, यह सभी धर्म वाले मिलकर सोचें। किन्तु जब तक इस तरह का कोई कार्यक्रम नही होगा, तब तक हमारी प्रवृत्ति केवल सम्मेलन कर लेने और आम जनता के सामने विचार रख देने तक ही सीमित हो जायेगी। मैं चाहता हूँ कि ऐसा न हो और हमारा काम व्यापक बने।'

इस प्रकार श्री जैन साहब ने अपने तीन विचार रखे। मुझे सायकालीन गाडी से बनारस के लिए रवाना होना था, इसलिए समय कम था। फिर भी लगभग ४५ मिनिट तक हम दोनो विश्व-धर्म के विचार के सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से चर्चा करते रहे।

A LECTURE AT CEYLONE

Let me first of all take the opportunity of congratulate you on the new years eve

We are meeting together on the eve of the new year and I sincerely wish that this year, which is in the unhering, may bring us all love and happiness I feel extremely happy to be able to visit your beautiful Island which is an indivisible part of India from cultural point of view I have been longing to visit this country of yours since 1956, when my illness, while returning from the world religious confrence at Japan, prevented me from stopping here. Consequently my ambitions remained unfulfilled Since then I thought of coming here once or twice but due to the scarcity of time and other unavoidable circumstances, I could not come earlier

It has been my good fate to have come from a country, which is the birth place of such great apostles of Ahimsa and learning, as Lord Rama, Krishna, Mahavir and Buddha, and from where, preachings of Ahimsa and love, have at all times, emancipated over the whole world. We feel proud to remember that our Indian Rishis, Shramans and Bhikshus were ever anxious to have religious contact with your beautiful Island. It is common knowledge that years ago Prince Mahendra and his sister had visited this Island to spread the

security, but it will be only for short time, not lasting. It is, therefore, Ahimsa and Ahimsa only which will award you preachings of Lord Buddhas. I have come here before you today, carrying the preachings of the two pillars of Ahimsa, Lord Mahavir and Buddha Shri WLS. Fernando, Principal Universal College, who is a great baliever of Ahimsa and whose love and regards for all living specimans is well khown, has been a source of constant inspiration to me and it is his letters dating since year 1956, and the literature that he sent me from time to time, has made this visit possible For all this, I am extremely thankful to him

You know that both the countries, yours and mine, inherit a common heritage of Ahimsa. Since both of them today enjoy political freedom and are engaged in building their future it is our onerous duty that we should look back to our cultural history and take inspiration from it. I therefore take this opportunity of expressing my views before you which are mainly based on the teachings of Lord Mahavir and Lord Buddha

Friends, Ahimsa is not only an ethical rule, but it is an innate feeling of soul-the divine beauty of the Brahma itself The Jainas proclaim the compassion towards all living beings as the embodiment of god itself.

This is a truth which is experienced and proclaimed by the modern master-minds as well. Shakespeare sings the beauty of mercy and says :—

'But mercy is above this sceptred,
It is enthroned in the hearts of kings,
It is an attribute of god himself,
And earthly flower doth then show thikest Gods
When mercy seasons justice."

And the finest result of this thought for huminity has

been wisely pointed out by Ellswheeler Wilcox in her following stanzas —

"The heart which feels this holy light within,
finds god and man and beast and Bird its Kin"

Today the world requires this humanitarian spirit as it never required before.

Friends, I may tell you that the Jain Culture, as every culture ought to be, is mainly based on the leased principal of Truth and Ahimsa and its aim is to secure external as well as internal peace-peace and prosperity within certainly leads to happy results of lasting stability in outer world as well Jainism found and preached one formula which secured both peace at home and peace abroad in Ahimsa. It taught "If you want to live peacefully and to devote your life to highest attainments of men, then practise Ahimsa Love your neighbour as you love yourself the moderns, however, are in .. difficulties in this regard, because they have evolved out and developed the spirit of the hunter, who is, at all times, on the look out whom to seiz and devour. Their dispositions are not peaceful, and whatever interest they eveince or possess in the maintenace of peace in the world is truely because they fear for their own safety They never thought of peace when turning their powerful guns on the unarmed races of men and exterminating them The result was made visible in the form of the orgy of the bloodshed ealore, for years continueously in the last two wars and intense preparations and callousness in the shape of cold wars are still being made foi a grander slaughter in the future. Ahimsa would ask these flower intoxicated human friends, what for all this accumulation of destructive energy ? Do you think warfare will bring you peace ? Peace is only possible by turning an enemy into a friend That alone will bring you lasting peace, anything else might give you peace and

security, but it will be only for short time, not lasting. It is, therefore, Ahimsa and Ahimsa only which will award you lasting peace. And so every nation should turn to this divine virtue and teach it to children of every nation, to abide an sprit of co-mpassion and cooperation. Lord Buddha has taught this truth

In the end I want to chant a jain verse in which a Jain achary says :—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।

O Lord let me have love and friendship towards all-being joy in the company of virtuous (वृच्यूअस) kindness to all suffeering soul's and have a balanced mind and follow' the goldan mean when food with person's having extreme views

अष्टम आयाम

समाज और सस्कृति

१

आह्वान

विश्व भरकी जातियां सब बढ़ी आगे जा रहीं।
देखकर पीछे तुम्हें अगुली उठा देता रहीं॥
दौड करके शीघ्र ही अब साथ में हो जाइये।
या शान्ति-दायक मृत्यु की गोद मे सो जाइये॥

चहुँ ओर से जागृति का शब्द सुनाई देता है। यह समय उन्नति काल है। इस युग मे यदि हम स्वाश्रयी नही बने, इस कुम्भकरणीय निद्रा से जागृत न हुए तो समझो किन्तु निश्चय कर लो कि हमारा शीघ्र ही सर्वांश पतन होने वाला है।

चू कि यह शताब्दि उन्नति का युग है, इस युग मे जिसने समाजोन्नति नही की वह समाज निद्राग्रस्त नही बल्कि पूर्ण शात, निद्रित है, कभी उठ नही सकता। यदि हम इस समय मे भी न जागृत हो तो हमको अपनी वास्तविक दशा, अपने गौरव का, अपनी स्वतन्त्रता का कुछ भान न होगा। हमको उन्नत समाज के सन्मुख अपना मस्तक ऊँचा रखने का कोई अधिकार प्राप्त न होगा। हा! एक बात अवश्य होगी कि हमारी समाज को अन्य समाज, नतमस्तक समाज, मूर्ख समाज शिरोमणि, निद्रित समाजाग्रगण्य उपाधिया प्रदान करेंगी। इस तरह हम कलकित किये जावेंगे। अतः वीर युवको! हम ससार मे इन्द्रियार्थ, विलसाय, नही आये हैं, हम आये है कर्तव्यमय जीवन व्यतीत करने को। **'जातिर्यातु रसातलम्'** की नीति को अब छोड दीजिए, वह मरदूदो की नीति है। अतएव उन्नति इच्छुक युवको! ससार के समरस्थल मे आकर अपना सामाजिक बल दिखाओ। कु भकरणीय निद्रा तजकर एक मात्र शत्रु 'अविद्या'

को समाज से भगादो, प्रेम और ऐक्यता को स्थान दो , क्योंकि इसीसे तुम्हारी अद्वितीय शक्ति प्रकट होगी क्योकि—

कर्तव्यमेव कर्तव्य, प्राणं कण्ठगतैरपि ।

भविष्य की सतान का शिक्षित बनाना बहुत आवश्यक है। आप उनसे शत्रुता न बाधिये। शत्रुता की सीमा हो गई है। उनके विकास का मार्ग प्रशस्त कीजिये।

२

युवक और धर्म

भारतवर्ष मे प्राचीन समय मे धर्म के प्रति कितना आदर था यह बात मर्व-विदितहै । भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है । प्राचीन काल मे प्रत्येक मनुष्य अपने को धार्मिक कहलाने मे गौरव अनुभव करता था । प्राचीन काल के मनुष्य का रहन-सहन पूर्ण धार्मिक होता था किन्तु अब इसके सर्वथा विपरीत है । जबसे भारतवर्ष मे साम्यवादी विचारधारा ने प्रवेश किया है तब से भारत वर्ष मे विशेष कर युवक समुदाय मे धर्म के प्रति बहुत उदासीनता पैदा हो गई है और वह दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है । साम्यवादी विचारधारा जहाँ तक कि उसका सम्बन्ध आर्थिक योजना से ,है प्रशसनीय हो सकती है उसमे सन्देह नही किन्तु कतिपय विद्वानो का कहना है कि साम्यवादी विचारधारा मे ईश्वर तथा धर्म के प्रति अनास्था रखना आवश्यक है, एक साम्यवादी विचारक विद्वान ने तो यहाँ तक कह डाला है कि If god really existed it would be necessary to abolish him" मै इससे सहमत नही । मैं तो इस मत का हूँ कि" If god does not exist it would be necessary to invent him, because people must have a relegion "

इसी प्रकार जैन युवको को लीजिये, उनमे से अधिकतर धर्म अथवा ईश्वर के प्रति उदासीन मिलेंगे । धर्म तथा ईश्वर है, तथा जीवन मे उनका उपयोग है इससे कोई इन्कार नही कर सकता । यह सत्य है कि ईश्वर तथा धर्म के सम्बन्ध मे धर्म के ठेकेदारो ने बहुत काफी विकृति फैला दी है किन्तु विकार फैल जाने से असली वस्तु से इन्कार नही किया जा सकता । थोड़े परिश्रम से हम विकार को निकालकर असली वस्तु जगत् के सम्मुख उपस्थित कर सकते हैं । आज युवक वर्ग की उदासीनता का जहाँ तक मेरा ख्याल है यही कारण है कि हमने विकार को हटाने का प्रयत्न नही किया । आज का युवक वर्ग देखता है कि ईश्वर तथा धर्म एक चो-चो का मुरब्बा बन रहा है, जितने धर्म

हैं उतने ही इन दोनों वस्तुओ के स्वरूप हैं। नही-नही उतने ही नहीं। प्रत्येक धर्म में कुछ सम्प्रदाय हैं और उनकी अलग-अलग मान्यता है। उन मान्यताओं की विभिन्नता के कारण भी इन दोनो वस्तुओं के स्वरूप में भिन्नता होती है। ऐसी दशा मे युवकवर्ग यह नही समझ पाता कि आखिर इन स्वरूप में से ईश्वर तथा धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या हैं। ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व यह एक दार्शनिक विषय है और यदि हम अस्तित्व मानते हैं तो, यदि हम अस्तित्व नही मानते हो तो हमारी आत्मा के कल्याण पर कोई असर नही पड सकता, किन्तु धर्म का प्रश्न तो ऐसा है कि जो अनिवार्य है। वास्तव मे यह है कि आज का युवक वर्ग जिस वस्तु से घृणा करता है वह धार्मिकता या धर्म नही है, मैं तो समझता हूँ कि वह धार्मिक विकार है। जो युवक वर्ग भी यह कहता है कि धर्म से घृणा है मेरे ख्याल मे चीज की पहचान नही की गई है। दूसरी बात यह है कि युवक वर्ग ने धर्म का अर्थ ही नही समझा है। जैन शास्त्रो ने धर्म की परिभाषा कितनी सक्षेप तथा सुन्दर की है। 'वत्थु सहावो धम्मो' सूत्र मे धर्म की परिभाषा बताई गई है वह एक कुन्जी है। वस्तु का जो स्वभाव हो उसे धर्म मान लीजिये। अग्नि का धर्म जलाना है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ने जिस वस्तु का जो धर्म नियत कर दिया है वह अटल है–अपरिवर्तनीय है। हा तो धर्म अपरिवर्तनीय है अब हम इसी कसौटी पर प्रत्येक क्रियाकाड तक को कह सकते है हम जिस क्रियाकाड की परीक्षा लेना चाहते हैं उसके सम्बन्ध मे सर्व प्रथम यह देखना चाहिये कि वह आत्मा के धर्म के अनुकूल है या नही ? यदि है तो वह गृहणीय है। यदि नही तो त्याज्य है। इस कसौटी पर परीक्षा करके यदि हम किसी भी धर्म के सिद्धान्तो या क्रियाकाड को अपनायेगे तो हमको धोका नही हो सकेगा। जैनधर्म का दावा है कि वह आत्मधर्म है और मैं एक बात और बतादू कि जहाँ तक कि मेरा ख्याल है, जैन धर्म का प्राचीन काल मे जैन धर्म नाम ही न था वह आत्म धर्म ही था उसका क्या नाम हो। जब एक से अधिक चीज होती है तो नाम सस्कार की आवश्यकता होती है। ताकि वह पहचानी जा सके। जब जगत मे इतर धर्मों की उत्पत्ति हुई तो नामकरण की आवश्यकता हुई और चू कि जिनेन्द्र देव ने धर्म का उपदेश दिया था अत. जैनधर्म नाम रख दिया गया। वास्तव मे जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धार्मिक सिद्धान्त ही आत्म धर्म है। अन्त मे युवक समुदाय से अपील करू गा कि वह धर्म के नाम से घृणा न करें। धार्मिकता बुरी नही है। वह तो गृहणीय है। उससे आत्मकल्याण होता है। धार्मिक सिद्धातो को सोचें, समझें और यदि वह तर्क, बुद्धि के अनुकूल हो ग्रहण करें। मै धार्मिक सिद्धान्तो को आपसे (Blindly follow) करने के लिये अनुरोध नही करता। साथ ही समाज के विद्वानो का कर्तव्य है कि धार्मिक विकार को शीघ्र ही दूर करें ताकि युवक समाज धर्म के प्रति आकृष्ट हो।

३

जातिवाद और युगबोध

ससार मे यह अनादि नियम रहा है कि जब समाज मे अत्याचार बढ जाता है मानव-समाज की विवेक-शक्ति का ह्रास हो जाता है। धार्मिक प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। धर्म के नाम पर रूढि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। उस समय किसी ऐसे महापुरुष का जन्म होता है, जो समाज मे व्याप्त स्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करे। आज से लगभग २॥ हजार वर्ष पूर्व ससार मे धर्म के नाम पर अधर्म का व्यापार होता था। वर्णाश्रम व्यवस्था के नाम पर मानव-समाज हिस्सो मे बाँट दिया गया था। चार वर्णों मे से तीन वर्ण अपने को द्विज कहकर उच्चजातीय अभिमान का दावा करते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था जन्म के आधार पर मानी जाती थी। उच्च वर्ण मे उत्पन्न व्यक्ति नीच कर्म करते हुए भी उच्च वर्ग का ही माना जाता था। ऐसी स्थिति मे जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान महावीर का क्षत्रिय कुल मे जन्म हुआ था। उन्होने मानव-समाज को स्पष्ट रूप से बताया कि वास्तविक धर्म रूढि-ग्रस्तता मे नही है। धर्म के कलेवर के स्थान पर उसकी आत्मा का सम्मान किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म के आधार पर मानी जानी चाहिए। कोई व्यक्ति केवल उच्च-कुलोत्पन्न होने के कारण उच्च नही माना जा सकता। उसकी उच्चता उच्च कर्म मे निहित है। उन्होने स्पष्ट रूप से बताया कि—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
कम्मुणा वइस्सो होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने कर्म को प्रधानता दी थी। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे स्पष्ट रूप से कहा था कि 'चतुर्वर्णा मयास्त्रष्टा गुण-कर्मविभागश' उपरोक्त उद्धरण से भी यही स्पष्ट है किन्तु उन २॥ हजार वर्ष के भीतर वर्णाश्रम व्यवस्था का और भी विकृत रूप हो गया।

मानव समाज मे वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान पर जातीय प्रथा स्थापित हो गई। एक ही वर्ण के समाज मे कई जातियाँ और जातियो मे कई उपजातियो का निर्माण हो गया। परिणाम यह हुआ कि मानव-समाज छोटे-छोटे विभागो मे विभाजित हो गया। कई जातियो के सदस्य अपने को उच्च जाति का मानने लगे। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपनी उसी विशिष्ट जाति तथा उपजातियों मे होने लगे। इस प्रथा के कारण स्वधर्मावलम्बी विभिन्न जातियो मे भी परस्पर विवाह तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध नही हो सके। धार्मिक क्षेत्र में उन जातियो के सदस्य तक होते हुए भी जाति के क्षेत्र मे पृथक्-पृथक् रहने लगे। सासारिक नियमो के अनुसार मनुष्य-मनुष्य मे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सामाजिक सम्बन्ध की प्रथा अति आवश्यक है। सामाजिक सम्बन्धो के अभाव मे प्रेम-सम्बन्ध दृढ नही होता।

जैन समाज मे भी यही स्थिति है। जैन समाज मे विभिन्न सम्प्रदाय है। एक सम्प्रदाय के मतावलम्बी कई जातियो के सदस्य होते है। विभिन्न जातियो मे परस्पर सामाजिक सम्बन्ध नही होते। आवश्यकता तो यह थी कि अखिल जैन समाज से सम्बन्धित जातियो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित होते। वर्तमान मे जो जातियाँ जैन धर्मावलम्बी है उनके परस्पर सामाजिक सम्बन्ध न होने के कारण आपस का स्नेह दृढ नही है। जिन जातियो के कुछ सदस्य जैनधर्मावलम्बी तथा कुछ सदस्य अन्य धर्मावलम्बी है वहाँ स्थिति बडी विचित्र है। उस जाति के अल्पसख्यक सदस्य जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी उनको सामाजिक सम्बन्धो मे कठिनाइयो का सामना करना पडता है। और कभी इससे त्रस्त होकर बहुसख्यक सदस्यो के साथ तत्सम्बन्धी धर्म मे दीक्षित हो जाते हैं। यह स्थिति समाज के लिए विचारणीय है। इसी प्रकार नवदीक्षित जैनियो के सामाजिक सम्बन्धो का प्रश्न भी बडा जटिल होता है। कर्म के आधार पर ही जाति व उप जातियो के विभाजन हुआ होगा इसमे कुछ सन्देह ज्ञात नही होता है।

आधुनिक युग की आर्थिक क्रियाये जिनमे श्रम विभाजन को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। इस तथ्य का प्रमाण है कि मानव-समाज ने अपनी सुविधा की दृष्टि से ऐसा ही निर्णय किया होगा। किन्तु जाति व उपजातियो की दीवारें मानव-समाज मे सकीर्णता उत्पन्न कर उनमे स्पर्धा, वैमनस्य, स्वार्थ आदि दुर्गुणो को उत्पन्न करेंगी इसकी तो कल्पना भी नही की होगी। विश्व-बन्धुत्व धर्म, समस्त प्राणियो के प्रति मैत्री भाव सैद्धान्तिक दृष्टि से आवश्यक मानते हुए ही एक धर्म के अनुयायियो मे वैवाहिक सम्बन्ध न करना, किसी भी दृष्टि से न्यायानुकूल व तर्क-युक्त नही कहा जा सकता। शिक्षा का अभाव प्राचीन

परम्पराएँ, रीति-रिवाज आदि के कारण इस दिशा मे प्रगति करना सम्भव नही दिखाई देता है। शिक्षा का जितना ही अधिक प्रचार व प्रसार होगा जाति व उपजातियो के बीच के कृत्रिम बन्धन शनै-शनैः दूर होते जायेंगे। जिस प्रकार यातायात, सवादवहन, देश-विदेशो की यात्रा व साहित्य के प्रचलन से छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ज्ञान का प्रकाश भी मनुष्य को सही मार्ग दिखाने मे सहायक होगा। वैवाहिक सम्बन्ध केवल विशिष्ट जाति तक सीमित रखने के कई दुष्परिणाम दिन प्रतिदिन देखने मे आते हैं।

उदाहरण के लिए दहेज की माँग, योग्य वर-वधू का न मिलना, चयन के क्षेत्र मे सीमितता, विवशतापूर्वक वैवाहिक बन्धन आदि इस प्रकार के प्रगतिशील कदम से जातीय सगठन दृढ होगा। परस्पर सम्बन्धो से स्नेह व बन्धुत्व की भावना का प्रसार होगा तथा जो सघर्ष तीर्थस्थानो, मन्दिरो, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओ मे समय-समय पर होते है वे सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगे। जैन समाज की आर्थिक स्थिति और भी दृढ होगी तथा देश के लिए शान्ति, सुख व समृद्धि मे वृद्धि होगी। समय की यही आवश्यकता है कि जैन समाज से सम्बन्धित सभी जातियो मे परस्पर विवाह आदि सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये जावें। दूसरे शब्दो मे अन्तर्जातीय विवाह आवश्यक है।

क्या क्रान्तिकारी भ० महावीर के अनुयायी इस दिशा मे सक्रिय कदम उठाने के लिए विचार करेंगे ?

४

सामाजिक एकता का प्रश्न

विश्व का भावी इतिहासकार इस तथ्य की ससार के महान आश्चर्यो मे गणना करेगा कि जैन धर्म को विश्वधर्म कहने वाले जैन धर्मानुयायी विभिन्न वर्गो के बीच मे एकता नही है, अपितु राग-द्वेष, विरोध तथा प्रतिस्पर्धा है। एक धर्म के अनुयायी होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धो की दृष्टि से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय की तरह जीवन यापन करते है। आज के इस युग मे जब ससार के समस्त राष्ट्र एक दूसरे के इतने निकट है कि धर्म, जाति, रग, देश आदि को महत्व-हीन समझकर सयुक्त राष्ट्र मे अपनी समस्याओ को सुलझाने के लिये सामान्य उपायो पर विचार विनिमय करते है, तथा महान राजनीतिज्ञ 'एक विश्व' का स्वप्न देखते है, यह बिडम्बना की बात है कि जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तो मे अन्तर नही होते हुए भी नगण्य बातो को लेकर मतभेदो की खाई दिन प्रति-दिन गहरी होती जाती है। जिन परिस्थितियो मे विभिन्न सम्प्रदायो का निर्माण हुआ वे आज से भिन्न होगी, किंतु आज तो स्पष्ट दिखाई देता है कि यह एक भय-कर भूल थी। जैन धर्म मे स्याद्वाद या अनेकान्त, एक ऐसा अनुपम व अतुलनीय दर्शन है कि ससार के प्रत्येक धर्म व जाति के प्रति ही नही अपितु प्राणी मात्र के प्रति उदारता, बन्धुत्व व सहनशीलता इसका महान सन्देश है। इस सिद्धान्त की महानता के होते हुए भी जैन धर्मानुयायी अपने मतभेदो का समन्वय नही कर सके, यह दु ख व पश्चाताप की ही बात है। जब तक मनुष्य मे चिन्तन व मनन की शक्ति है। तब तक मतभेद का होना स्वाभाविक है, किन्तु मतभेदो का समन्वय करके शक्तिशाली सुसगठित समाज का निर्माण कठिन नही है। विशेष कर उन वर्गो मे जो एक ही धर्मो के अनुयायी है और यह आज के युग की माग है, यही युग धर्म है। जैन समाज का किंचित भी ध्यान इस समस्या की ओर नही है। कई स्थानो पर जैन जैनेतर मतभेदो के नाम पर जैन समाज के प्रति स्वार्थी तत्वो द्वारा कटुता उत्पन्न की जा रही है। भारतीय सविधान से

भारतीय नागरिकों को अपने मत विश्वासो के अनुरूप मान्यता रखने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु देश के अल्प जनसंख्यक जैन समाज को अपने मत विश्वास के आधार पर मान्यता रखने पर कई स्थानो पर दण्ड का भागी होना पड़ा है, अपमान सहन करना पडा है तथा अप्रतिष्ठित होना पडा है। भारत के राष्ट्र नायक प० जवाहरलाल नेहरू कई स्थानो की घटनाओ के प्रति रोष तथा खेद व्यक्त कर चुके हैं। एक स्थान पर उन्होने कहा था कि विकृत प्रजातन्त्र मे बहुमत का कार्य राष्ट्रीय माना जाता है तथा अल्पमत का कार्य साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। आज देश मे जैन समाज की प्रतिष्ठा कसौटी पर है। अन्य धर्मानुयायी देशवासियो को उनके मत विश्वास के अनुकूल आचरण करने, प्रचार करने पर उन्हे कोई आपत्ति नही होती, किन्तु जैन समाज द्वारा अपने सिद्धान्तो के अनुरूप आचरण करने व प्रचार करने पर आपत्ति होती है। किसी जैन द्वारा अहिंसा प्रचार की बात करने पर उसे साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। कई स्थानो पर राजनीति के राग-द्वेष से प्रभावित सज्जन जैन सस्था के पदाधिकारी होने के कारण जैनो पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते है। यह सब इसलिये है कि हम स्वय सगठित नही है और आपस मे झगडते है व अपने शक्ति-साधनो का दुरुपयोग करते है। यदि हम विभिन्न वर्गों को समाप्त करके सुसगठित समाज का निर्माण नही करते है तो अपने विरुद्ध कुछ कहने वालो को बल प्रदान कर रहे है तथा अपने अस्तित्व को विषम परिस्थितियो में डाल रहे है। उदारता व समन्वय बुद्धि से हम अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते है। अनुदारता व असहिष्णुता पाप है, स्याद्वाद तथा समन्वय बुद्धि के उपयोग से जैन समाज यह कार्य सम्पन्न कर सकता है। इस लेख का उद्देश्य यही है कि विभिन्न वर्ग या सम्प्रदाय आपस के मनमुटाव, विरोध तथा मतभेद को भुलाकर अपने को सगठित करे। यह कार्य न केवल अपने धर्म व समाज के प्रति सेवा कार्य होगा किन्तु विश्व की समस्याओ को सुलझाने मे भी योगदान देगा। दो महायुद्धो से लडखडाती तथा तीसरे महा-युद्ध के किनारे पर खडी मानवता को अहिंसा के सिद्धान्तो से ही विश्व-शाति के स्थायी लक्ष्य की ओर ले जाया जा सकता है और सुसगठित जैन समाज अपने सिद्धान्तो के प्रचार व प्रसार के द्वारा ही यह कार्य कर सकेगा अन्यथा नही।

सामाजिक सम्बन्धो की स्थापना से ही समाज मे एकता की भावना को बल प्राप्त होगा। जैन समाज सकीर्ण मनोवृति के कारण सामाजिक सम्बन्धो मे जाति को आधार मानता है, धर्म को नही। आज तो जातीय अथवा सम्प्रदायो के विभिन्न वर्गों की एकता की ही आवश्यकता नही है, अन्तर्जातीय

सम्बन्धो की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। किन्तु जब एक धर्म के अनुयायी ही आपस मे सम्बन्ध करने को तत्पर नही तो अन्तर्जातीय सम्बन्धो की चर्चा करना तो आधारहीन है।

जैन धर्म के प्रागैतिहासिक काल पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन जो आज किया जाता है, उसका सामूहिक नाम ही नही था। वह प्राकृतिक आत्म-धर्म था। जैनशास्त्रो के अनुसार आत्मा का जो स्वभाव है वही धर्म था। आचार्य कुन्द कुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि **'वत्थु सहावो धम्मो'** इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता था। वास्तव मे आत्मा का अभ्युदय जिन मार्ग व सिद्धान्त से हो, उसे ही धर्म कहना उचित है। राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने कई बार कहा था कि 'गाधीवाद' के नाम की कोई वस्तु नही है। जिस सिद्धान्त को मैं प्रतिपादित करता हूँ वह मुझे अच्छे लगे है मैंने उनका अपने जीवन मे प्रयोग किया है, उनको मानव जाति के लिये मै श्रेयस्कर मानता हूँ। मै इसीलिये उनको अपनाने की कहता हूँ। कालान्तर से जैनशास्त्रो मे वर्णित सिद्धान्तो के समूह का नामकरण होने लगा। भगवान महावीर के समय देश मे दो सस्कृतिया थी। वैदिक सस्कृति मे यज्ञ आदि की विशेषता थी तथा श्रमणसस्कृति (जैन व बौद्ध) मे आत्मयज्ञ अथवा आत्मशुद्धि के लिये स्थान था। पशुयज्ञ को कोई स्थान नही था। इस समय भी विभिन्न मतो का प्रतिपादन करने के लिये विभिन्न समूह थे, जैसा कि सत्रकृताग मे बताया गया है कि क्रियावादी, अक्रियावादी, आत्मवादी, अनात्मक्तवादी आदि-आदि, किन्तु ये वाद थे, किसी विशेष धर्म अथवा दर्शन का पुट उन पर न था। यह भी कहा जाता है कि भगवान महावीर के अनुयायी के व्रत, उपवास आदि मे विश्वास करने के कारण ही उन्हे 'व्रात्य' कहा जाता था। जो कुछ भी कारण हो, बहुत समय के पश्चात् 'जैन धर्म' सज्ञा प्रारम्भ हुई। श्वेताम्बर दिगम्बर दो वर्गों का निर्माण हुआ, मतभेदो का आधार ऐसा नहीं था जिनका समन्वय नही हो सकता था। इन दोनो वर्गों मे अचेलत्व व सचेलत्व का प्रश्न मुख्य है। दोनो वर्ग अपरिग्रहवाद के समर्थक है, इसमे कोई सन्देह नही है। मेरे अल्पमत मे 'अचेलत्व' अपरिग्रहवाद की बाह्य दृष्टि से चरम सीमा है। विषयासक्त व्यक्ति अचेलत्व को अपनाने का साहस भी नही कर सकता है। अचेलत्व आदर्श है। प्रश्न यह है कि हम साधु समाज मे किस सीमा तक अचेलत्व को अपनावे। जब साधु समाज वनो के स्थान पर ग्राम-नगरो मे निवास करने लगा, तो अचेलत्व का अत्यधिक महत्व होते हुए भी, व्यावहारिक दृष्टि से सचेलत्व स्वीकार करना आवश्यक था। श्रावक के सामने अचेलत्व का प्रश्न ही नही था। श्रावक वस्त्र सहित होते हुए

भी अपने को दिगम्बर कहलाने लगा तथा इसी प्रकार कई रग के वस्त्र परिधान करने पर भी श्वेताम्बर कहा जाने लगा। वस्त्र के बिना उसका काम चल ही नही सकता था। इन दो बडे-बडे सम्प्रदायो के अविर्भाव के पश्चात् मूर्ति पूजा, सवस्त्र मूर्तिपूजा अथवा ऐसे कई प्रश्नो को लेकर मतभेदो का निर्माण हुआ। मतभेदो के कारणो व उपायो पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य नही हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जिन बातो को लेकर श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, तेरापन्थी, तारणपन्थी आदि सम्प्रदायो का निर्माण हुआ, इन प्रश्नो का बहुत सुविधा पूर्वक समन्वय किया जा सकता है। यह मत-भेद यही समाप्त नही हो जाता है, अपितु एक ही सम्प्रदाय मे कुछ नगण्य बातो को लेकर उप-सम्प्रदायो का निर्माण करता है। जैसे श्वेताम्बर, मूर्ति-पूजक, सम्प्रदाय मे तीन थुई चारथुई का विवाद है। एक दल (तीन थुई का समर्थक व अनुयायी) दूसरे दल को मिथ्यात्वी कहता व मानता है क्योकि वह चार वार स्तुति-बन्दना करता है, यदि तीन बार बन्दना-स्तुति करना धर्म लाभ का कारण है तो ४ बार स्तुति करना कैसे मिथ्यात्व का कारण हो सकता है। स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन (या साधु-मार्गी) सम्प्रदाय मे प्रारम्भ मे २२ उप-सम्प्रदाय थी। कालान्तर मे इस सख्या मे काफी वृद्धि हो गयी, छोटी-छोटी बातो को लकर पृथक आचार्य, पृथक समाचारी बन गयी। कुछ वर्ष पूर्व अधि-कतर उप सम्प्रदायो का एकीकरण हुआ है। यह खेद का विषय है कि उक्त सगठन मे भी दरार पड रही है। बिडम्बना का यही पर अन्त नही होता है किन्तु मतभेद मनभद का निर्माण करता है। जैन धर्म के महान आचार्य हेमचन्द्र ने शिव मदिर मे जाकर भी निम्न श्लोक पढा व शिव दर्शन किये।

भवबीजाकु रजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह समन्वय का अनूठा उदाहरण है। उसी महान आचार्य की परम्परा मे विश्वास करने वाले समाज मे छोटे-छोटे मतभेदो के कारण पृथक रहे, यह सर्वथा अनुचित है।

जैन धर्मानुयायी स्याद्वाद का गुणगान करते है किन्तु व्यवहार मे उसका आचरण नही करते यह कहा जा सकता है। जैनाचार्य ने तो स्पष्टरूप से कहा है कि जैनधर्म का ध्येय मुक्ति की प्राप्ति है, वह किसी वाद या सम्प्रदाय से नही हो सकेगी। मुक्ति तो कषाय के नाश से ही होगी। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा था —

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे।
स्व पक्ष सेवाऽऽश्रयेणन मुक्तिः कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

आवश्यकता इस बात की है कि जैन समाज की प्रत्येक सम्प्रदाय का सदस्य अपना आत्म-निरीक्षण करके अपने मन के अहकार को समाप्त करने का प्रयत्न करें। वास्तविकता यह है कि मनुष्य ने अपने अहकार का पोषणधर्म के नाम पर किया है और उसी को 'धर्म प्रभावना' का नाम दिया है। उर्दू के एक शायर ने कहा है कि —

मसजिद तो बनादी पल भर मे ईमा की हरारत वालों ने।
मन वही पुराना पापी रहा, बरसो मे नमाजी हो न सका॥

हमे हृदय के अन्ध-विश्वास व ढोग को समाप्त करना चाहिये। समाज धर्म के ठेकेदारो ने धर्म नाम पर न जाने कितने ढोग अन्ध विश्वासो का चक्र-व्यूह रचा रखा है। धर्म का गूढ रहस्य, शिक्षा (धार्मिक) के बिना प्राप्त नही हो सकता। जिस समय धर्म के गूढ रहस्य का पता लग जाता है और अन्ध विश्वास समाप्त होगा, उस समय जैन समाज के सब सम्प्रदायो मे एकीकरण होते देर नही लगेगी। मै उस दिन का स्वप्न देखता हूँ कि जब हमारा धार्मिक समभाव व उर्दू के शायर की निम्न पक्तियो के अनुसार दृश्य देख सके।

'मसजिद मे नाचता हूँ नाकूस की सदा पर।

'एक एसी सस्था का निर्माण होना चाहिये जो क्रान्ति का झण्डा लेकर समाज मे व्याप्त अन्धविश्वास के विरुद्ध मोर्चा ले। यह निर्विवाद है कि इस मोर्चे मे समझौता-वादिता से काम नही चल सकेगा। दृढ़प्रतिज्ञ होकर सगठित रूप से कार्य की आवश्यकता मे 'भारत जैन महामण्डल' जैसी सस्था इस दिशा मे माध्यम का कार्य कर सकती है। उसकी नीतिऔर भी स्पष्ट हो तभी सक्रिय होकर यह कार्य किया जा सकता है।

सैद्धातिक समन्वय के साथ-साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि जैन समाज का प्रत्येक सदस्य अपने व्यवहार मे इस प्रकार का कार्य करे कि जिससे सामाजिक एकता कायम हो सके। कुछ वर्ष पूर्व मैने 'जैन जगत' मे सामाजिक एकता की दिशा मे कुछ सक्रिय सुझाव दिये थे। मेरा विश्वास है कि यदि समाज मे इन सुझावो के अनुरूप कार्य किया गया तो निश्चित रूप से जैन समाज सुसगठित रूप से विश्व के समक्ष जैन धर्म के महान उदार सिद्धान्तो का प्रचार करने मे अग्रसर होगा। विदेशो मे 'अखिल विश्व जैन मिशन' द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रचार कार्य हो रहा है, वह सराहनीय होते हुए भी अपर्याप्त है। समस्त जैन समाज अपने उत्तरदायित्व को निभाए, यह जैन समाज का प्राथमिक तथा महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

५

समाज मे प्राण-प्रतिष्ठा की आवश्यकता

जिस प्रकार स्वचालित यन्त्रो मे बैटरी अथवा बिजली प्राण-सचार करती है तभी उसमे चेतनता आती है उसी प्रकार समस्त जीवधारियो मे भी प्राण के कारण ही चेतना होती है। समाज व्यक्तियों का समूह है इस कारण समाज मे भी प्राण आवश्यक है अन्यथा उसमे चेतनता नही आ सकती। अखिल जैन समाज अपने को अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का अनुयायी तथा उनके धर्मशासन का अनुगामी मानता है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आज की भाँति आधुनिक साधन तथा सुविधाओ का अभाव होते हुए भी धर्म प्रवर्तक भगवान महावीर ने अपने स्वानुभूतिपूर्ण सदुपदेश द्वारा इस देश मे काफी बडी सख्या मे साधु साध्वियो को निवृत्ति मार्ग मे दीक्षित किया। इसी प्रकार काफी बडी सख्या मे गृहस्थ तथा गृहणियो को श्रावक श्राविका बनाकर सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया। यह एक विशेष बात है कि भगवान के अनुयायियो मे राजा, महाराजा मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ग के लोग थे। इसके पश्चात् जैनाचार्यों ने भी इस परम्परा का अनुगमन किया। किन्तु यह बडे खेद की बात है कि गत कुछ सदियो मे चतुर्विध सघ मे से श्रावक-श्राविका वर्ग केवल वैश्य समाज तक ही सीमित हो गया। आज जैन समाज की सख्या केवल २०, २५ लाख बताई जाती है इसकी तुलना मे यदि हम बौद्ध धर्मानुयायियो की बात लें तो हमे आश्चर्य चकित होना पडता है। भगवान गौतम बुद्ध हमारे अन्तिम तीर्थंकर के समकालीन थे। जैन समाज की ओर से यह बडे गौरव के साथ कहा जाता है कि देश मे श्रमण सस्कृति (जैन-बौद्ध) विरोधी वायुमण्डल होने पर बौद्धधर्म को इस देश से पलायन करना पडा। अभी भारतीय शासन के "सन् १९६१ सेन्सस रिलीजन" नामक प्रकाशन से यह तथ्य प्रकाश मे आया है कि गत १० वर्षों मे बौद्धो की सख्या मे काफी वृद्धि हुई है। हिन्दू समाज से धर्म-परिवर्तन करके लोग बौद्ध अधिक हो गये। इस लेख का उद्देश्य

यह नही है कि इसमे धर्म परिवर्तन तथा उसके हेतु अपनाये जाने वाले तरीको की उपादेयता अथवा अनुपादेयता के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जाय। वास्तव मे भारतीय शासन की धर्मनिरपेक्ष नीति होते हुए भी उसकी कार्य पद्धति ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहित किया है, यही कारण है कि बौद्ध समाज ने उसका लाभ उठाया तथा परिणामस्वरूप बौद्ध धर्मानुयायियो की सख्या मे गत वर्षों मे असाधारण रूप से वृद्धि हुई। इस सन्दर्भ मे यदि हम जैन समाज-दीक्षित "वीर-वाल समाज" के प्रश्न पर दृष्टिपात करें तो हमे बहुत निराश होना पडता है। 'वीर-वाल प्रवृत्ति' एक निर्विवाद प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हिंसक समाज को अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है किन्तु अखिल जैन समाज का पूर्ण सहयोग इस प्रवत्ति को भी प्राप्त नही हो सकता। वास्तव मे जैन समाज अपने आन्तरिक भेदो की व्याधि से पीडित है। इसी का परिणाम है कि न तो अखिल जैन समाज मे पर्याप्त चेतना है, न स्था० जैन समाज मे। जैन समाज के लिए यह एक आत्म-परीक्षण का अवसर है। यदि जैन समाज अपने गुण, दोष पर तटस्थभाव से विचार करके अपनी कार्य-पद्धति मे सुधार न करे तो स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होगी इसमे सन्देह नही है। समाज को अपने को प्राणवान बनाना पड़ेगा तभी समाज के स्वाभिमान की रक्षा हो सकेगी।

आज स्थिति यह है कि जाने अथवा अनजाने रूप से कई मार्गों से समाज को शक्तिहीन बनाने का प्रयास हो रहा है। यदि हम साधु समाज की ओर दृष्टिपात करें तो बडा निराश होना पडता है। यह एक कटु सत्य है कि कई नामाकित साधु मुनिराज की सस्थाएँ स्थापित हैं। चूँकि श्रावक समुदाय पर साधु-मुनिराजो का प्रभाव है, अतएव उसके लिए आवश्यक सभी व्यवस्था कई मुनिराजो के द्वारा कराई जाती है किन्तु समाज की किसी केन्द्रीय सस्था की प्रवृत्तियो तथा उसके कार्य के लिए आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने की ओर कोई ध्यान नही देता। मेरी यह इच्छा कतई नही है कि केन्द्रीय सस्था की अर्थव्यवस्था के लिए कोई मुनि प्रयत्न करे किन्तु जब मै देखता हूँ कि उनके द्वारा स्थापित सस्था के लिए यह सब कुछ करते है तो एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित हो जाता है।

किसी भी वृक्ष को जब तक जीवित रहने, पनपने के लिये पर्याप्त मात्रा मे रस प्राप्त नही होता वह न पनप सकता है, न दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार केन्द्रीय सस्था को "रस" की आवश्यकता है वह समाज से ही प्राप्त हो सकता है। ●

६

समाज मे रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता

यह युग की माग है कि जैन समाज मे धार्मिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त अन्य समाजोपयोगी प्रवृत्तिया प्रारम्भ करने के लिये प्रयत्न किया जावे। तात्पर्य यह है कि समाज के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे रचनात्मक प्रवृत्तिया प्रारम्भ करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसमे सन्देह नही कि जैन कान्फरन्स हमारे सघ की एक प्रतिनिधि सस्था है और उससे यह आशा है कि वह समाज के धार्मिक प्रश्नो के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे मार्ग-दर्शन दें। एक लम्बे समय से इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि समाज को उक्त प्रश्नो के सम्बन्ध मे प्रतिनिधि सस्था की ओर से मार्ग-दर्शन मिलना चाहिये। श्रमण तथा श्रमण वर्ग का केवल धार्मिक तथा किसी अश तक सामाजिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे ही सम्बन्ध आता है, किन्तु श्रावक तथा श्राविका समुदाय की समस्या केवल धार्मिक तथा सामाजिक प्रश्न से हल नही हो सकती। उनके सम्मुख आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्न भी आते है। विशेषकर समाज के सन्मुख स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय शासन द्वारा अगीकृत आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप समाज के मध्यम तथा निम्न वर्ग के सम्मुख कई महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं। इसी प्रकार प्रजातन्त्री देश के एक नागरिक के नाते राजनीतिक प्रश्न भी समाज के हृदय को आन्दोलित करते हैं। इस प्रकार समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्न के सम्बन्ध मे मौन नही रखा जा सकता।

उक्त भूमिका की पृष्ठभूमि मे यह आवश्यक है कि हमारा समाज धार्मिक-साधना के साथ-साथ अपने समाज मे व्याप्त सामाजिक सुधार के प्रश्न हाथ मे ले। भारतीय शासन द्वारा अगीकृत कल्याणकारी राज्य योजना तथा आर्थिक नीति मे सम्भवत कुछ समय पश्चात् मध्यवर्ग Intermedeate समाप्त हो

'जावे। शासन सम्भवत यह पसन्द नही करता कि उत्पादक या उपभोक्ता के बीच मे कोई वर्ग (जिसे मध्यम वर्ग कहा जाता है) हो जो केवल पूंजी के बल पर उत्पादक से वस्तु क्रय करके अधिक मुनाफा लेकर उपभोक्ता को बेच दे। हमारे समाज का मध्यम वर्ग इसी मध्यम वर्ग मे व्याप्त है। यदि समाज के इस वर्ग ने अपनी आजीविका के साधनो मे समयानुकूल परिवर्तन नही किया तो निश्चित रूप से एक समय ऐसा आ सकता है जबकि समाज का उक्त वर्ग भयकर आर्थिक दुरवस्था मे ग्रस्त हो जावे। आज के युग मे ऋण देकर ब्याज उत्पन्न करने तथा उससे प्राप्त लाभ से आजीविका को समाज आदर की दृष्टि से नही देखता। समाज मे साहूकारी-पद्धति के प्रति घृणा तथा नफरत है। हमारा समाज व्यापारी समाज होने के कारण राजनीतिक प्रश्नो के प्रति अधिकतर उदासीन होता है किन्तु प्रजातन्त्रीय पद्धति मे राजनीतिक उदासीनता से हमारी सस्कृति को कभी कभी हानि पहुँचती है और उसके बुरे परिणाम भुगतने पडते है इसलिये फिलहाल रचनात्मक प्रवृत्ति के अनुसरण मे निम्न कार्य शीघ्र प्रारम्भ किया जाना आवश्यक है।

(१) प्रत्येक नगर मे प्रतिदिन अथवा सप्ताह मे एक बार एक प्रार्थना सभा का आयोजन हो जिसमे असाम्प्रदायिक कोई प्रार्थना की जावे। कोई भाई इच्छानुसार सामायिक भी कर सकता है। इस योजना को काफी प्रोत्साहन मिलने पर स्वाध्याय का कार्यक्रम भी चालू किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा यहे कार्यक्रम शास्त्र-सभा जैसा रूप ग्रहण कर ले।

(२) समाज मे व्याप्त सामाजिक कुरीतियो के सम्बन्ध मे रचनात्मक कार्य प्रारम्भ होवे ताकि उसमे सुधार हो सके। जैसे पर्दा प्रथा का नाश अग्रहणी, मृत्यु-भोज व विवाह मे अत्यधिक व्यय आदि-आदि। यदि सम्भव हो तो सामूहिक विवाहो का आयोजन आदि-आदि, इसमे सन्देह नही कि समाज-सुधार के कार्य मे अत्यन्त सयत तथा विनयपूर्ण रीति मे कार्य प्रारम्भ हो ताकि विरोध तथा कटुता के वातावरण से बचा जा सके।

(३) स्थानीय सघ मे एक उपसमिति का निर्माण करके शासन के उद्योग व्यापार विभाग से सम्पर्क स्थापित किया जावे तथा समाज के सदस्यो को इस बात की समय-समय पर प्रेरणा दी जावे कि वह उत्पादन के कार्य मे सलग्न हो। स्थानीय उद्योग व्यापार विभाग प्रतिनिधि से यह भली-भाति ज्ञात हो सकता है कि किस प्रकार के उद्योग की सम्बन्धित क्षेत्र मे सम्भावना है। शासन से लघु उद्योग के लिये किस प्रकार की सहायता प्राप्त हो सकती है। समाज का महिला वर्ग (शिक्षित) यदि कोई आशिक समय निकालकर किसी

कार्य मे सलग्न होने की इच्छा रखता हो तो उसकी व्यवस्था करावे। इस सिलसिले मे गृह-उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है। ऐसे युवको की सूची स्थानीय सघ के पास रहे जो शिक्षित बेकार हो। इसी प्रकार देश के जैन-उद्योग समूहो की सूची हो। बेकार युवको को इस उद्योग समूहो Management से पत्र-व्यवहार करके कार्य-दिलाने का प्रयत्न किया जावे आदि आदि।

(४) जैन-समाज का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैन समाज राजनीतिक क्षेत्र मे उदासीन नही रहा अपितु सदैव उसने राजनीतिक शक्तियो को प्रभावित किया है। हमारे लगभग सभी तीर्थंकरो का जन्म तो क्षत्रिय कुल मे हुआ है। हमारे पूर्वज क्षत्रिय ही थे। जैनाचार्यो के प्रयत्नो से क्षत्रिय से हम लोग Convert होकर जैन दीक्षित हुए। देश मे स्वतन्त्रता के पूर्व राजा महाराजाओ के मन्त्रीगणो मे जैनियो की कमी नहीं थी उन्होंने सफलतापूर्वक अपना कर्तव्य निवाहा। देश मे सकट के समय भामाशाह जैसो ने सर्वस्व अर्पण किया स्वतन्त्रता के पश्चात् भी यह परम्परा जारी रही, किन्तु जैन जन-साधारण की राजनीतिक प्रश्नो के प्रति अधिक रुचि न होने के कारण जैन-समाज राजनीति को अधिक प्रभावित न कर सका। यही कारण है कि यदा-कदा राज्य की ओर से जैन-सस्कृति के प्रतिकूल कुछ कार्य होते रहे किन्तु जैन समाज अनुकूल निर्णय न कर सका। इसलिये समाज को जन-साधारण मे राजनीतिक चेतना जागृत करने का कार्यक्रम भी हाथ मे लेना चाहिये। स्थानीय समाज मास मे एक बार स्थानीय समस्या पर मिलकर चर्चा करे और उस गोष्ठी मे समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रश्नो पर चर्चा करके कोई हल निकाला करे।

बहरहाल यह एक प्रारम्भिक रूपरेखा है जिसके अनुसार समाज मे विभिन्न प्रवृत्तिया जारी की जा सकती हैं। कान्फरन्स का केन्द्रिय कार्यालय इस दिशा मे पहल करके दीप-स्तम्भ का कार्य करे ऐसी मेरी भावना है।

७

साम्प्रदायिकता; एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति

संस्कृत भाषा मे एक कहानी है :—

"एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिण, त एवं निधन यान्ति"

साराश यह है कि एक पशु था जिसकी एक उदर किन्तु दो गरदनें थी इस कारण भोजन की दो नलिया थी। भोजन की दोनो नलियो मे परस्पर विरोध हो गया। एक ने दूसरे को हानि पहुँचाने को सोचा। एक नली ने विषपान कर लिया किन्तु उदर एक था इस कारण उस पशु की मृत्यु हो गई। यदि हम जैन समाज की स्थिति का अवलोकन करें तो हमे उक्त कथा मे वर्णित उक्ति सार्थक प्रतीत होती है। जैन समाज के दोनो महत्त्वपूर्ण अग श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा-भगवान महावीर के अनुयायी हैं। दोनो भगवान महावीर को पूज्य मानती हैं। उनके उपदेशो को, विचारो को आप्त-वाक्य मानती, उनसे अनुप्राणित होती है। आज लगभग दो सहस्र से अधिक वर्षों से दोनो परम्परा स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं किन्तु दु ख की बात यह है कि दोनो परम्पराओ मे कई बार परस्पर सघर्ष हुए, अशान्ति का निर्माण हुआ, परस्पर करोडो रुपयो का व्यय, शक्ति का अपव्यय करके मुकद्मेबाजी हुई। काफी समय पूर्व समाचार-पत्रो मे यह समाचार प्रसारित हुआ था कि *जैन तीर्थ सम्मेद शिखर के आस-पास की भूमि को बिहार सरकार Aquire* करने वाली है तो जैन समाज ने उस पर विरोध प्रदर्शित किया। सरकार के इस निश्चय को रद्द कराने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये। यहा तक समाचार पत्रो से ज्ञात होता है बिहार सरकार ने जैन समाजान्तर्गत किसी एक परम्परा के साथ समझौता करके कुछ निश्चय कर लिया है। समाचार पत्रो से यह भी ज्ञात हुआ कि अन्य परम्परा उक्त समझौते अथवा निश्चय को रद्द कराने के लिये कानूनी कार्यवाही करने का विचार कर रही है। क्या समाज का यह

दुर्भाग्य नही है ? कि इस प्रकार के आन्तरिक प्रश्नो को हम आपस मे हल नही कर सकते तथा इस प्रकार के आन्तरिक प्रश्नो का निबटारा करने के लिये सरकार अथवा न्यायालयो की शरण लेनी पडती है। यह एक विडम्बना है कि हमारे यह तीर्थ के विवाद धर्म के नाम पर होते है। जैन-धर्म के तीर्थंकर पूर्णत अपरिग्रही होते हैं, उनका कोई स्वामित्व किसी पर नही होता किन्तु हम अपने व्यक्तिगत समाजगत, अहकारो के पोषण के लिये इस प्रकार के पवित्र स्थानो के स्वामित्व का प्रश्न उत्पन्न करते है जहा हमारे पूज्य तीर्थंकरो के कई कल्याणक हुए। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि समाज को यह सुबुद्धि प्राप्त हो कि समाज के आन्तरिक प्रश्नो को हम परस्पर निणय कर लें, उसकी जाच तथा निर्णय के लिये कोई Tribunal निर्माण कर लें तथा सरकार के किसी ऐसे निश्चय को समाज के हितो के विरोध मे हो उसका प्रतिकार सम्मिलित होकर सगठित रूप से करें, ताकि वह प्रभावशाली हो सके।

८

जैनधर्म और समन्वयात्मक दृष्टि

भारतवर्ष धार्मिक वृत्ति वाला देश होते हुए भी जन साधारण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नही है, यही नही अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्वर्ग मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारो के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नही कर पाता। वास्तव मे धर्म तथा सम्प्रदाय मे महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पथ सकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी, पथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष मे प्रवेश का अधिकारी मानता है जबकि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब सघ शासन ने धर्म-निरपेक्ष नीति की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र मे भी चर्चित रहा है। धर्म-निरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है कि जन साधारण मे यह भ्रान्त धारणा गहराई मे बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है, अथवा उसका धर्म धार्मिक सिद्धान्तो से कोई सम्बन्ध नही है। जहा तक मैं समझता हूँ यह तात्पर्य नही था। धर्म-निरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नही देगा, न उसका प्रचारक होगा। वास्तविक रूप से नीति का नाम यदि सम्प्रदाय निरपेक्ष नीति' रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व मे सम्प्रदायो के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काल मे हुआ है वह इस नीति के निर्मातागण की दृष्टि मे था, किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उक्त सम्प्रदाय

विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति का अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय मे आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो से कोई विरोध नही हो सकता। आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत मे जिन सिद्धातो से मनुष्य का जीवन उदार उन्नत, सामाजिक जीवन बन सके। नैतिकता के उन उच्चतम नियमो का नाम 'धर्म' है किन्तु धर्म निरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल मे ही भारतीय जन-जीवन मे नैतिकता, सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारक वर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न बन गया है। भारतीय जन जीवन मे आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता वादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट जाहिर है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् २ वर्ष मे जो घटनायें देश मे, लोक सभा, विधान सभाओ मे घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पडता है कि क्या भारतीयो मे सार्वजनिक प्रश्नो, समस्याओ को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है ? हमारे जन जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठ भूमि मे यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चित करें कि जैन धर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग सूत्र मे भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की है कि--

से बेमि-- जे अईया जे पडुप्पन्ना जे य आणागया अरहना भगवतो सव्वे पण्णविसु वा, पण्णवेंति वा, पण्णविस्सति वा।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन, भावी तीर्थकर यही प्रतिपादित करते है कि सभी प्राणी सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नही मारना चाहिये, उन पर आज्ञा नही चलाना चाहिये, उनको दास की भांति अपने अधिकार मे नही रखना चाहिय, उन्हें शारीरिक, मानसिक सताप नही देना चाहिये और उन्हे प्राणो से रहित नही करना चाहिये। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। ससार के दुखो को जानकर जगत हितकारी भगवान ने सयम मे तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि-गृहस्थ, रागी, त्यागी, भोगी, योगी को समान भाव से यह उपदेश किया है, यह सत्य है, यह तथा रूप है और ऐसा धर्म जिन प्रवचन मे कहा गया है।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्वस्तकर्ता धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नही हो सकता, वह धर्म शब्द मे निहित उच्च तथा

महान विचारो से समन्वित होने के कारण धर्म है। यह सर्व विदित है कि 'धर्म' शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न सदर्भो मे विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहाँ जिस अर्थ या सदर्भ है वह कर्तव्य अथवा आचार सहिता का द्योतक है। एक प्राचीन आचार्य ने जैन धर्म की व्याख्या निम्न श्लोक मे अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण की है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडन किंचित्, जैन धर्मः स उच्यते॥

जिस दर्शन मे स्याद्वाद हो, अनेकाँती दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है, विभिन्न धर्म, दर्शनो के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जाती हो, जिसमे किसी प्राणी को पीडा न पहुँचाने का विधान है उसको जैन धर्म कहते हैं। यह सर्व विदित है कि विश्व मे विभिन्न वादो की प्ररूपणा करने वाले कई धर्म विद्यमान है। उन विभिन्न वादो मे एकागी सत्य Partial Truth का अस्तित्व जैन धर्म मानता है। यदि उन आशिक सत्यो को एक कर लिया जावे, उनमे समन्वय कर लिया जावे तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार जैन धर्मानुसार विश्व म प्रचलित विभिन्न धर्मो के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है। यह सुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय मे विभिन्न वादो के विस्तार से ३६३ मतो का प्रचलन था। भगवान महावीर न विभिन्न मतो के दृष्टिकोण से उन सबके प्रति अनेकाती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना मतव्य समन्वयात्मक रूप म प्रकट किया, उस शैली को स्याद्वाद कहा जाता है। यह सत्य है कि जैनागम मे स्याद्वाद के विचार बीज रूप मे सवदा विद्यमान थे। पश्चात् वर्ती जैनाचार्यो ने उन बीज रूपा विचारो को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि,

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह॥

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका वीर वचनो के प्रति कोई पक्षपात नही है न कपिल आदि मुनियो के प्रति विद्वेष ही है। जिसका वचन युक्ति पुरस्सर होगा, उसको अगीकार करने मे हिचक नही है। '**पन्ना समिक्खए धम्म, तत्त तत्तविणिच्छिय**' तत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (बुद्धिपूर्वक) की जानी चाहिये। उसी विचारसरणी के अनुरूप जैनाचार्यों ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शनो मे विभिन्न नय के दृष्टिकोण से सत्य (आशिक) का दर्शन किया जैसा कि महान साहित्यकार समदर्शी विचारो के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि ने 'षड्दर्शन समुच्चय' के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अकित किया है कि—

बौद्ध दर्शन—ऋजुसूत्रनय

वेदांत—निश्चय नय (एवभूत)

साख्य—मीमासा—सग्रहनय

चार्वाक—व्यवहारनय

न्याय-वैशेषिक—नैगमनय

शब्द-ब्रह्मवादी - शब्दनय ।

यही नही, आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने तो इसी विचार को आगे बताकर यहाँ तक प्ररूपित करने मे हिचकिचाहट नही की, कि जैन धर्म 'मिच्छादसण समूहो' है । स्पष्टवादिता की चरम सीमा है । तात्पर्य यह था कि विभिन्न वादो मे आशिक सत्य होने के कारण वह मिथ्यादर्शन है क्योकि वह एकागी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी को सत्य प्ररूपण करते हैं, और अपने से भिन्न वाद को असत्य मानते हैं जब कि जैन धर्म समस्त वादो के प्रति उदार विचार रखकर अनेकान्ती दृष्टिकोण अपनाता है । आचार्य श्री सिद्धसेन इसीकारण उसको मिथ्यादर्शनो का समूह कहते हैं । वास्तविकता यह है कि सात्विक रूप से भारतीय प्राचीन ग्रन्थो मे भी एक वाक्य का प्रयोग किया गया है कि 'एक सद्विप्रा बहुधा वदति' एक ही सत्य को विभिन्न रूप मे विप्र (विद्वान) कहते है । यहाँ तक तो तत्व निरूपण की बात हुई किन्तु जैनाचार्य ने इसे व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया । पाठक जानते है कि जैन धर्म 'मे 'नमोकार मत्र' का अत्यन्त महत्व है । वास्तव मे वह नमस्कार का मत्र है जिसमे आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न सिद्ध, आदि तथा मुक्ति मार्ग के पथिक साधको को नमस्कार किया गया है । इस मत्र मे जैन दृष्टि कितनी व्यापक हो गई है इस तरफ बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है, इस मत्र मे अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय के पश्चात् 'विश्व के समस्त साधुजनो' को नमस्कार अर्पित किया गया है । पूर्व के चार पद विशिष्ट अवस्था के द्योतक है । प्राथमिक सीढी 'साधुता' के विकास क्रम मे प्राप्त होनी है । प्राथमिक, आध्यात्मिक कार्य से 'साधु' मे विश्व के समस्त साधुजन सम्मिलित कर लिया जाना जैनधर्म की विशालता का ज्वलत प्रमाण है । यहा गणधर भगवान ने साधुता को केवल जैन धर्म द्वारा मान्य आचार विचार के पोषक अथवा विशेष चिन्ह लिंग-धारक जैन साधु को ही मान्यता नही दी, बल्कि विश्व मे जितनी भी साधुता युक्त आत्मा है उन सब को नमस्कार करके अपना सन्मान व्यक्त किया गया है । एक जैनाचार्य ने बहुत सुन्दर ढग से अन्य धर्मों द्वारा मान्य देवता ब्रह्मा-विष्णु-महेश को भी नमस्कार किया है । उक्त जैनाचार्य ने निम्न श्लोक मे यह प्रतिपादित किया है कि

ब्रह्मा-विष्णु हरि महेश जिन सब को नमस्कार करता हूँ। केवल वह ऐसे हो कि जिनके भव-भ्रमण आवागमन के बीज रूप राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं। कहा जाता है कि उक्त श्लोक मे जैन धम के अप्रतिम आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिने स्याद्वादी होने की परीक्षा के परिणाम स्वरूप 'शिव मन्दिर' मे गाया था। तथा शिव-मन्दिर स्थित शिव प्रतिमा को नमस्कार किया था। यह सर्व विदित है कि जैन धर्मान्तर्गत मुक्ति, मोक्ष आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है जहाँ अनन्तवीर्य, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान होता है, जहाँ पर जाकर आत्मा का भव-भ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्ति पथ के पथिक को अपने जीवन मे पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब वह आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त होता है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार से हो सकते है, जिसम यह स्पष्ट बताया गया कि जैन धर्म के अनुयायी हो या न हो, जैन धर्म द्वारा मान्य-लिंग-धारणा करते हो या न करते हो, वे मुक्त हो सकते है। तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा यही नही, यह भी आवश्यक नही कि वह श्रमण साधु हो वह गृहस्थ भी हो सकता है। यही कारण ह कि भगवान महावीर के अनुयायियों मे राजा महाराजा जैसे अभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यवसायी, मध्यम वर्ग के लोग, चाण्डाल जैसे निम्न जाति के लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वण क लोग सम्मिलित थे। यही नही तत्कालीन विभिन्न परम्परा जैसे परिव्राजक सन्यासी आदि भी भगवान के अनुयायियों मे सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार, स्याद्वाद, समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव म अनेकान्त दृष्टिकोण अथवा स्याद्वादमयी भाषा भगवान की अहिंसा नीति का ही एक अंग था। भगवान ने आचार मे अहिंसकता का उपदेश दिया वहा विचारो मे अनेकान्त दृष्टिकोण का तथा वाणी मे स्याद्वाद का उपदेश दिया जहा तक आचार गत अहिंसा का सम्बन्ध है इस देश मे नही अपितु विश्व क ख्यातिप्राप्त विद्वानो ने भी यह स्वीकार किया है कि 'अहिंसा' की सूक्ष्म व्याख्या तथा विचार जितना जैन धर्म मे किया गया है उतना किसी भी धर्म मे नही किया गया। अहिंसा मे तात्पर्य केवल प्राणिवध को रोकना नही है अपितु मन, वचन, काया मे किसी भी प्राणी को दुःख देना, सताना, दास बनाना सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना यह सब हिंसा मानकर उसका निषेध किया गया है। यही नही जहा-जहा जीव की सभावना हो सकती है, चैतन्य की सभावना है, उस-उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल नकारात्मक सिद्धान्त नही है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप बता कर उसको जीवन मे उतारने का उपदेश भी दिया। अहिंसा को इतना विशाल दृष्टिकोण

देकर भगवान महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। यही कारण है कि इस देश मे यत्र तत्र अहिंसक शक्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान पुरुष के उन प्रयत्नो के परिणाम हैं जो उन्होने देश भर मे घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव मे जैन धर्म एक धर्म है, सम्प्रदाय नही। केवल मानव धर्म नही अपितु प्राणिमात्र का धर्म है, विश्व धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि 'अहिंसा' के नाम पर जो इस लम्बे काल मे भ्रात धारणायें बन गई हैं उनका परिष्कार करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वय वादी दृष्टिकोण सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा मे सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बडा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह है कि आज के परस्पर राग,द्वेष, असहिष्णुता इस युग मे अहिसक, सात्विक विचारो का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है कि जो हमे देश के जन जीवन मे यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान क्रान्तिकारी सत महात्मा गाधी ने अहिसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनैतिक प्रश्नो के सुलझाने मे किया। गाधी जी ने जीवन के कई क्षेत्रो मे अहिसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतिकार के रूप मे भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गाधी जी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सत बिनोवा उसका प्रयोग कर रहे है, किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। आज बडी निराशाजनक स्थिति है। आज तो प्राणी मात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य मनुष्य के बीच भी जो स्नेह, प्रेम सौहार्द, सज्जनता की कडी नही हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बडा देश कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन मे भी सबल निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है, ऐसी दशा मे आज के युग मे भगवान महावीर की वाणी, उनके उपदेश, अहिसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बडी विषम है। कोई मार्ग नजर नही आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

इक रह गई थी मजहबे इन्सानयत की बात।
वह बात भी बाफजले खुदा, जुर्म हो गई॥

९

जैनधर्म का हृदय

आज मै आपको धर्म, विशेषकर 'जैन धर्म' के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी देना चाहता हूँ। 'धर्म' शब्द से क्या अभिप्राय लिया जाये, यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। किसी व्याख्याकार ने धर्म शब्द से उसके शाश्वत सिद्धान्त, किसी ने उसमे प्रतिपादित आचार, किसी ने केवल वस्तु के स्वभाव-गुण, किसी ने कर्मकाण्ड समझ कर उसके सम्बन्ध मे अपना मत प्रतिपादित किया है। जहा तक मैं समझता हूँ, धर्म शब्द से शाश्वत सिद्धान्त अथवा उसमे प्रतिपादित आचार का अभिप्राय लिया जाना उचित होगा। मेरे मत मे मानव जीवन अथवा प्राणी जगत जिस प्रकार अनादि अनन्त है, उसी प्रकार धर्म भी अनादि अनन्त है। यह नही हो सकता कि इस विश्व मे मानव तो हो, किन्तु धर्म का अस्तित्व न हो। इसमे भी सन्देह नही कि धर्म के शाश्वत सिद्धान्त अपरिवर्तनशील है। पर यह भी सत्य है कि धर्म के नाम पर जो नियम, उपनियम बनाये जाते है, उन पर देश, काल, परिस्थिति का प्रभाव भी पडता है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार धर्म का शाश्वत सिद्धान्त क्या है, तथा धर्म का उद्देश्य क्या है?

एक प्राचीन पवित्र ग्रन्थ 'आचाराग सूत्र' मे यह निर्देश है कि जितने तीर्थकर पूर्व मे हो चुके है, जो वर्तमान मे है व जो भविष्य मे होगे, वे सब किसी जीव को पीडा न पहुँचाने व उसका वध न करने का उपदेश देते हैं। मेरे नम्र मत मे यह धर्म का प्राण है। उसका उद्देश्य यह है कि प्राणी मात्र की आत्मा का विकास हो, उसमे गुणो का आविर्भाव हो, विकास करते-करते आत्मा महात्मा-महान आत्मा हो जावे। धर्म की उपयोगिता इसी मे है। जो मानव समाज की समस्याओ का निराकरण कर सके, वही जीवित धर्म का लक्षण है। धर्म अथवा धार्मिको मे नवीन विचारो का स्वागत या उसको पचाने

की शक्ति न हो अथवा जो बुद्धिवाद से भडक उठते हो, केवल श्रद्धा और श्रद्धा पर ही जिसका अस्तित्व हो वह जीवित धर्म नही हो सकता।

दुर्भाग्य से आज प्रचलित कई धर्मों अथवा उसके अनुयायी धार्मिको मे इस प्रकार की वृत्ति विद्यमान है कि वे बुद्धिवाद से चकरा जाते है। वे सामान्य जनता को केवल श्रद्धा के सहारे विश्वास करने के लिए आवाहन करते है। परिणाम यह होता है कि उसमे नवीन विचारो के स्वागत करने या उसे पचाने की शक्ति नही रहती न वे समाज मे व्याप्त समस्याओ का निराकरण कर सकते हैं। सक्षेप मे वे दिमागी गुलामो का एक दल चाहते है। यही कारण है कि सामान्य जनता मे धर्म के प्रति उतना आकर्षण नही है। कहा जाता है कि धर्म के नाम पर अतीत मे जो धार्मिक असहिष्णुता इस देश म पडित, मौलवी मुल्ला का तथा यूरोप आदि देशो मे पोप का पाखण्डमय जीवन रहा है, धर्म के नाम पर जो रक्त की नदी बहाई गई है, उन सब के कारण धर्म अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुका है। आज का सामान्य मानव उससे घृणा करता है।

धर्म के नाम पर जितना अत्याचार, अनाचार, कर्मकाण्ड का पाखण्ड फैला है, उतना सम्भवत अन्य किसी के कारण नही। परन्तु प्रश्न यह है कि सब गलत, अनुचित बातो के लिए 'धर्म' जिम्मेदार है या वे तथाकथित धार्मिक कहलाने वाले पाखण्डी जिम्मेदार है, या सामान्य जनता जिसने ऐसे पाखण्डियो को बरदाश्त किया। मेरे मत मे इस परिस्थिति के लिए तथाकथित धार्मिक किन्तु पाखण्डी व्यक्ति तथा सामान्य जनता जिसने ऐसे अत्याचार बरदाश्त किय, जिम्मेदार है। किसी जीवित धर्म के अनुयायी के लिए यह आवश्यक नही है कि वह उस विशिष्ट धर्म के नाम प्रचलित इतिहास व भूगोल, खगोल, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयो की मान्यता पर भी विश्वास करे। जब हम यूरोपीय देशो का अतीत का इतिहास देखते है हमको पता लगता कि उपर्युक्त विषयो के सम्बन्ध मे भिन्न मत व्यक्त करने वाले को कडी सजाएँ दी गई। यह कार्य तथा कथित धार्मिको (वास्तव मे पाखण्डी) ने किया तथा सामान्य जनता बेबस थी, उसने बरदाश्त किया। यह धार्मिक असहिष्णुता थी कि वहा एक ही धर्म की विभिन्न सम्प्रदायो ने एक दूसरे के अनुयायियो पर अत्याचार किये जब कि धर्म तो मानव जाति के विभिन्न सिद्धान्तो मे सामन्जस्य व समन्वय स्थापित करने का पाठ पढाता है। उर्दू के महान कवि इकबाल के शब्दो मे —

मजहब नहीं सिखाता, आपस मे बैर करना
हिन्दी है हम-वतन हैं, हिन्दोस्तां हमारा"

राष्ट्रपिता महात्मागाधी ने अपने सतमय जीवन मे जिन ११ व्रतो का समावेश किया था, उनमे 'सर्व धर्म समभाव' भी एक था। यदि हम धर्म के हृदय का गहराई मे परिशीलन करें तो हमे ज्ञात होगा कि धर्म का उद्देश्य सारे विश्व को एक कुटुम्ब मानने व उस प्रकार का वर्तन करने का उपदेश देता है—'उदार चरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।

धर्म के सम्बन्ध मे इस प्रारम्भिक प्रस्तावना के प्रकाश मे हमे यह विचार करना है कि जिन सिद्धान्तो को हम 'जैनधर्म' के नाम से पहिचानते है, वास्तव म उनमे जीवित धर्म के लक्षण विद्यमान है या नही। किसी भी धर्म का परिचय कराते समय अधिकतर यह प्रश्न तलाश किया जाता है कि यह प्राचीन है या अर्वाचीन ? इस प्रकार का प्रश्न मेरे नम्र मत मे अनुपयोगी प्रश्न है। इस प्रश्न के कर्ता के मन मे ऐसा भाव सभवत विद्यमान रहता है कि जो प्राचीन है वही प्रमाण है। वास्तविक रूप मे यह विचारसरणि दूषित है किसी भी धर्म की प्रमाणिकता की कसौटी प्राचीनता नही हो सकती है जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, धर्म एक शाश्वत सत्य है। जब तक मानव जाति मे नैसर्गिक नियमो की आस्था रही तब तक शायद धर्म के नामकरण की आवश्यकता महसूस नही हुई। जब धर्म के नाम पर विभिन्न मत-मतान्तरो का प्रदुर्भाव हुआ तब नामकरण की आवश्यकता हुई हो। जहा तक जैन धर्म का सम्बन्ध है उसका वर्तमान नाम प्राचीन नही है, उसकी आत्मा, उसके सिद्धान्त अनादि है अनन्त है। वर्तमान उत्सर्पिणी काल के चौदह कुलकरो मे अन्तिम कुलकर नाभिराय के सुपुत्र ऋषभदेव जैनधर्मानुसार प्रथम तीर्थंकर धर्मोपदष्टा थे।

भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व के प्रमाण मे वेद, भागवत पुराण आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भगवान ऋषभदेव को प्राचीन साहित्य मे अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा का पात्र बताया गया है। भगवान ऋषभदेव ने अपने जीवन मे मानव जाति को सभ्यता का पाठ पढाया, कला का विकास किया, आजीविका अर्जित करने आदि की शिक्षा दी, मानव जाति उनकी अत्यन्त ऋणी है। एक विद्वान के कथनानुसार भाद्रपद मास मे जो ऋषिपचमी का त्यौहार आता है, वह वास्तव मे ऋषभ पचमी थी, जो काल व्यतीत होते-होते ऋषि पचमी हो गया। तात्पर्य यह है कि भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। उनके पश्चात् के अन्य तीर्थंकरो का विस्तृत जीवन परिचय नही मिलता किन्तु २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ, महाभारत के प्रमुख पात्र गीता गायक श्री कृष्ण के चचेरे भाई ही थे।

इतिहासकारो ने २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा २४ वे तीर्थंकर महावीर का अस्तित्व स्वीकार किया है। दुर्भाग्य से आज भगवान महावीर के पूर्व का कोई साहित्य उपलब्ध नही है। भगवान महावीर के समय का भी बहुत सा साहित्य अनुपलब्ध है, किन्तु जो साहित्य उपलब्ध है, उससे यह निशक रूप से कहा जा सकता है कि जिन सिद्धान्तो को आज जैन धर्म के नाम से पहचाना जाता है उसके प्रणेता भगवान महावीर नही थे अपितु वे धर्म के शाश्वत सिद्धान्त थे। भगवान महावीर उसके प्रमुख प्रवक्ता थे। भगवान महावीर के समय के उपलब्ध साहित्य मे "जैन" शब्द का जिक्र नही आता अपितु 'निग्रन्थ धर्म' आदि शब्दो का प्रयोग आता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है जैन धर्म की आत्मा, उसके सिद्धान्त अनादिकालीन है। किसी समय यह सोचा गया कि 'जिन' के उपासक होन से इन सिद्धान्तो को 'जैन' सज्ञा से अभिहित कर दिया जावे। सभवत इसी कारण जैन अथवा जैनधर्म शब्द रूढ हो गया। जिन महान व्यक्तियो ने अपनी इन्द्रियो पर काबू कर लिया, राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करली, उन मुक्ति प्राप्त महात्माओ को "जिन" कहा जाता है। इसी प्रकार जैन धम शब्द अधिक प्राचीन न होते हुए भी अर्थ पूर्ण है।

श्रमण-सस्कृति के उन्नायक भगवान महावीर ने तत्कालीन परिस्थिति को लक्ष्य मे रखकर जो धार्मिक क्रांति की, उसका मूल्याकन मानव जाति को करना होगा। भगवान महावीर की मानव जाति को सबसे महत्वपूर्ण अमूल्य भेंट यह है कि उन्होने मानव जाति को "ईश्वर" की गुलामी के फन्दे मे मुक्त किया। तत्कालीन प्रचलित विभिन्न मान्यताओ के अनुसार ईश्वर सदैव ईश्वर था, भक्त सदैव भक्त रहने वाला था। उन्होने इस मान्यता को गलत करार देते हुए मानव जाति को विश्वास दिलाया कि वह उच्च गुणो का अपनी आत्मा मे विकास करते करते "परमात्मत्व" प्राप्त कर सकती है। 'परमात्मत्व' पर किसी व्यक्ति-विशेष, शक्ति-विशेष का एकाधिकारित्व नही है। उन्होने कर्मवाद के सिद्धान्तो की व्याख्या करते हुए मानव जाति को आश्वस्त किया कि प्राणी मात्र को शुभा-शुभ कर्मों का फल भोगना पडेगा। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।"

विश्व का कोई भी विशिष्ट व्यक्ति इस नियम का अपवाद नही हो सकता। शुभाशुभ कर्म की मुक्ति ही मनुष्य को परम पद की प्राप्ति है। ऐसी विशिष्ट स्थिति प्राप्त व्यक्ति ही परमात्मा हो सकता है। हमारे देश की तत्कालीन परिस्थिति मे एक विशिष्टवर्ग के व्यक्ति को उच्चता प्राप्त थी। उसका उस व्यक्ति के गुण-अवगुणो से कोई सम्बन्ध नही था। इस प्रथा के

विरुद्ध भगवान महावीर ने प्रतिपादित किया कि उच्चता जन्मना नही अपितु कर्मणा होनी चाहिये। यदि उच्च कुल मे जन्म प्राप्त व्यक्ति के कर्म शुभ नही है तो उसे समाज मे उच्चता प्राप्त नही हो सकती। इसी प्रकार यदि नीच कुल म जन्म प्राप्त व्यक्ति के कर्म शुभ हो तो उसे उच्च माना जाना चाहिये। देश मे यज्ञ के नाम पर हिंसा का बोलबाला था। कृषि योग्य पशुओ को पकड-पकड कर यज्ञ मे होम दिया जाता था। भगवान महावीर ने यज्ञ का *आत्मलक्षी अर्थ करके प्रतिपादित किया कि यज्ञ मनुष्य को अपनी इच्छा,* वासना का करना चाहिये। यही सच्चा यज्ञ है। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर न मानव प्रतिष्ठा का एक महान कार्य किया है।

भगवान महावीर न आत्मा को मुक्ति का जो मार्ग प्रतिपादित किया, उस मोक्ष मार्ग कहा जाता है। एक प्राचीन आचार्य न उसका सक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से किया है--

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग "

मानव जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की उपासना करके उच्च गुणो का प्राप्त करत तब मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। मनुष्य म जब तक पक्ष-पात हीन सम्यग्दृष्टि न हो, सम्यक् प्रकार का ज्ञान न हो और सम्यग् प्रकार का चारित्र (अमल) न हो तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता। दृष्टि, ज्ञान, चारित्र के साथ सम्यक् विशेषण महत्वपूर्ण है। सबस प्रथम मनुष्य की दृष्टि पक्षपात रहित होनी चाहिये ताकि वह निष्पक्ष दृष्टि स विवेक के साथ उचित तथ्य स्वीकार कर सके। एक आचार्य ने कहा है कि--

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष.कपिलादिषु
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ।

कितना उच्च विचार है। भगवान महावीर ने अपने अनुयायियो से किसी भी तत्व को अन्ध-विश्वास के साथ श्रद्धा करने की कभी अपेक्षा नही की। उन्होने तो कहा—

पन्ना समिक्खए धम्म तत्त तत्तविणच्छिय ।

तत्व की प्रज्ञा द्वारा समीक्षा करके ग्रहण करो। भगवान महावीर ने सम्यक् दृष्टि के साथ ही अनेकातदृष्टि प्रदान की है। उनका प्रतिपादन यह था कि किसी भी वस्तु के अनन्त धर्म-गुण होते है। इसी प्रकार किसी भी दार्शनिक प्रश्न के कई पहलू होते है। मनुष्य की बुद्धि इतनी पूर्ण नही होती

कि वह समस्त पहलुओ को एक ही समय देख सके। इसके अतिरिक्त भाषा की शक्ति भी सीमित है। उसके द्वारा मनुष्य अपनी भावनाओ को पूरी तौर पर कई मर्तबा व्यक्त नही कर पाता। इसीलिए भगवान महावीर ने अनेकांत दृष्टि का उपयोग करने का प्रतिपादन किया था। जिसमे इस बात की गु जाइस रहती है कि विरोधी अथवा भिन्न विचार के लिए भी सत्यता की सभावना स्वीकार की जावे। यदि इसको दार्शनिक भाषा मे कहा जावे तो यह कहा जा सकता है वह बौद्धिक अहिंसा है। एक प्राचीन आचार्य ने भारतीय षड्दर्शनो को भिन्न भिन्न नय से आशिक सत्य होना स्वीकार किया है। कहा जाता है कि -

"एक सद्विप्रा बहुधा वदति"

एक सत्य को विद्वान लोग भिन्न भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते है। इसी अनकात सिद्धान्त के आधार पर 'सर्व धर्म समन्वय' की भावना पल्लवित हुई है। महान प्रभावी आचार्य ने सव धर्म समभाव को दृष्टिगत रखकर निम्न श्लाक की रचना की थी—

भवबीजाकुरजनना, रागाद्याक्षयमुपाभगता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

उक्त आचार्यो ने ऐसी सब महान आत्माओ को नमस्कार किया है जिन्हाने ससार के आवागमन के कारण राग-द्वेष का नाश कर दिया है। चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, जिन हो। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की पक्षपातहीन सम्यकदृष्टि जिसकी हो, उसको सम्यक्दर्शन प्राप्त होता है और उसी को सम्यक् रूपेण ज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम चरित्र की दृष्टि से विचार करें तो हम निश्चय पर पहुंचेंगे कि भगवान महावीर ने जो सिद्धान्त निरूपित किये थे, उन सबका आधार अहिंसा रहा है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। भगवान महावीर के अनेकात सिद्धान्त मे बौद्धिक अहिंसा का विचार पल्लवित है। सक्षेप मे यदि महावीर के उपदेशो को कहा जावे तो वह हिन्दी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' कार से प्रारम्भ होने वाले तीन शब्द, अनेकान्त, अहिसा और अपरिग्रह मे निहित है।

एक प्राचीन आचार्य ने इस सम्बन्ध मे कहा था

"आत्मन. प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्।"

जो व्यवहार स्वय की आत्मा को अनुचित लगता हो, उस प्रकार का व्यवहार तुम अन्य के प्रति मत करो। यह हमारे कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य की सीमा निर्धारित करने की सक्षिप्त तालिका है।

सक्षेप मे यदि हम जैन धर्म द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का पर्यवेक्षण करें तो वह सब इन्हीं तीन सिद्धान्तो, अनेकान्त, अहिसा, और अपरिग्रह का विस्तार है।

भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त का निरूपण करके विश्व मे व्याप्त धार्मिक असमानता, विषमता और शोषण को समाप्त करने का उपदेश दिया। और इस प्रकार समाज को आर्थिक न्याय मिलने का रास्ता प्रशस्त किया। अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त से जहाँ समाज लाभान्वित हुआ, वहाँ व्यक्ति की दृष्टि मे उसकी इच्छाएँ, आकाक्षाएँ सीमित करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अपरिग्रहवाद उस युग की महान उपलब्धि है। इस भाषण को एक जैन आचार्य के निम्न श्लोक से समाप्त करता हूँ, जिसमे उन्होने जैन धम की परिभाषा का प्रतिपादन किया है कि जिसमे स्याद्वाद का अस्तित्व हो, पक्षपात न हो, किसी की हिसा न करने, पीडा न पहुँचाने का निश्चय हो, वही जैन धर्म है। क्या कोई इन महान सिद्धान्तो से इन्कार का साहस कर सकता है?

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडन किंचिद्, जैनधर्म स उच्यते॥

१०

जैनत्व या श्रावकत्व

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचना 'भारत भारती' मे कहा था—

हम कौन थे क्या हो गए हैं और होगे क्या अभी
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्यायें सभी।

किसी भी समाज या राष्ट्र के चरित्र की प्रगति या अवनति को मापने के लिये भूत, भविष्य और वर्तमान की स्थिति का पर्यावलोकन किया जाता है। जहाँ तक मेरा अनुमान है कि वेदकालीन समाज मे सन्यास परम्परा नही थी। उस समय का ऋषि गृहस्थ होता था। उसका द्रष्टा होना पर्याप्त माना जाता था। ऋषि दर्शनवान Man of vision होने से उनको ऋषि सज्ञा प्राप्त होती थी। उसके पश्चात् शकराचार्य के युग मे सन्यास प्रथा प्रारम्भ की गई और मनुष्य जीवन को आयु के लिहाज मे विभाजित किया गया। किंतु भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को आयु के लिहाज से विभाजित नही किया। कारण स्पष्ट था कि यदि कोई मनुष्य प्रथम स्थिति ब्रह्मचर्याश्रम के समय ही इतनी आध्यात्मिक भूमिका प्राप्त कर ले उसे इतना वैराग्य हो जावे कि जिससे उसे मुनिधर्म दीक्षा के योग्य माना जा सके तो आयुबन्धन की दशा मे कठिनाई उपस्थित होती। भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को प्रवाहशील माना तथा उसे केवल गृहस्थ तथा मुनिदशा इस प्रकार दो भागो मे ही विभाजित किया। दूसरे शब्दो मे सागार धर्म with exception अनगार धर्म without exception कहे गए। कहने की आवश्यकता नही कि गृहस्थ जीवन मे मुनिधर्म पूर्णरूप मे पालन करना सम्भव नही था। इसलिये गृहस्थ जीवन मे आगार सहित व्रतो का विधान किया गया। मुनिधर्म मे आगार के अपवाद का कोई स्थान नही रखा गया हालाँकि मुनिधर्म मे भी मुनि पूर्ण रूप से अहिंसक नही हो सकता। यह लेखक का नम्र मत है। मनुष्य जीवन की

अनिवार्य आवश्यकता कई ऐसी है कि जिससे हिंसा हो ही जाती है। उदाहरणार्थ मनुष्य का श्वासोछ्वास लेना जिसमे कई वायुकाया के जीवो का हनन हो जाता है। मनुष्य किसी भी स्थिति मे हो, चाहे बैठे, चाहे लेटे चाहे समस्त प्रवृत्ति स्थगित कर दे। तब भी उक्त प्रकार की हिंसा हो ही जाती है। इसलिये मुनधर्म की सक्षिप्त रूपरेखा दिग्दर्शन कराने वाला 'दशवैकालिक सूत्र' मे 'मुनि को यदि वह उक्त अनिवार्य प्रवृत्ति विवेक सहित करता है तो पाप बन्धन नही होगा' ऐसा विधान किया गया है। वास्तव मे जीवन का प्रकाशस्तम्भ सूत्र 'विवेगे धम्ममाहिए' होना चाहिये। मुनिजीवन मे विवेक का कितना स्थान रह गया है? मुनि जन नियमो के हार्द की गहराई मे जाकर उसका पालन करते है या केवल उसके कलेवर को पकड कर नियमो के पालन हो जाने का सन्तोष कर लेते है यह स्वतत्र लेख का विषय है। इतना निश्चित है कि गृहस्थ के जीवन मे तो विवेक का स्थान बहुत कम रह गया है। भगवान महावीर के समय म उस व्यक्ति को, जो मुनिधर्म पालन करन की प्रतिज्ञा लेने मे विवशता अनुभव करता था उसे गृहस्थ धर्म पालन की प्रेरणा दी जाती थी तथा उसे 'श्रावक या श्रमणोपासक' कहा जाता था। लेखक का यह अनुमान है कि निर्ग्रन्थ के उपासक को 'जैन' कहने की परम्परा बहुत बाद की है। जहाँ तक मुझे माहीति है हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थो म श्रावक की कोई परिभाषा स्पष्ट रूप स नही दी गई है। भगवान महावीर के काल म श्रावक जीवन की झलक अग साहित्य के 'उपासक दशाग सूत्र' म मिलती है। अन्यत्र भी बिखरी हुई सामग्री अग साहित्य म मिल जाती है किन्तु मुनिधर्म की जितनी विस्तृत माहीति उपलब्ध है उतनी विस्तृत तथा सुनियोजित गृहस्थ धर्म की उपलब्ध नही है ऐसा मेरा मत है। 'सागारधर्मामृत' ग्रन्थ की प० आशाधरकृत टीका मे एक स्थान पर श्रावक की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

कोऽसौ? सो श्रावक श्रृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकवेशसयत

जो गुरू पासून जिनागमा उपदेश श्रवण करिता तो श्रावक हो (देखिये पृष्ठ ३९) तात्पर्य यह है कि श्रावक मे तात्पर्य 'श्रावण' मे तात्पर्य श्रवण कर्त्ता One who listens माना गया। यह बहुत प्रारम्भिक व्याख्या है। 'सागारधर्मामृत' प्रथम अध्याय श्लोक सख्या १९ मे श्रावक ११ प्रकार के बताये गये हैं।

१ दार्शनिक-सम्यग् दर्शन सहित आठ मूल गुण पालक, २ व्रतिक-दार्शनिक जब अणुव्रत पालन करे तब व्रतिक, ३ सामायिक-व्रतिक जब त्रिकाल सामायिक करें तब सामायिक इसी प्रकार, ४ पोषधोपवासी, ५ सचित्त त्यागी, ६ दिवा

मैथुन त्यागी, ७ ब्रह्मचारी, ८. आरम्भ त्यागी, ९ परिग्रह त्यागी, १० अनुमति त्यागी, ११ उद्दिष्ट त्यागी।

इसी प्रकार जैनाचार्य समन्तभद्ररचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे भी श्रावको के नियमोपनियम का विधान किया गया है। कही श्रावको को सम्यकत्वी होना पर्याप्त मान लिया गया। कही सप्त-व्यसन त्यागी, कही उसके २१ गुणधारी होना आवश्यक माना गया, कहीं मार्गानुसारी के ३५ गुण आवश्यक माने गये। जहाँ तक मै समझता हूँ केवल जैन या श्रावक को ही नही शिष्ट समाज के किसी सदस्य को सप्तव्यसन का त्यागी तथा २१ गुणो का धारक होना चाहिये। यही नही, मार्गानुसारी के ३५ गुण भी उसमे होने चाहिये अन्यथा उसकी आज की परिस्थिति मे शिष्ट समाज का सदस्य recognise नही किया जा सकता। सप्त व्यसन का त्याग २१ या ३५ गुणो का पालन सज्जनतापूर्ण जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। मेरा अनुमान है कि जैनत्व, मार्गानुसारी, तथा श्रावकत्व मे इससे अधिक कुछ विशेषता होना आवश्यक है। मोटे तौर पर गृहस्थ सम्यकत्व पालक है जिसकी आस्था देव, गुरु, धर्म मे है उसे जैन या मार्गानुसारी कहा जाना चाहिये तथा जो १२ अणुव्रतो का पालक हो या अणुव्रत सहित प्रतिमाधारी हो उसे 'श्रावक' कहा जाना चाहिये।

किन्तु आज की समस्या तो बडी जटिल है। हम गृहस्थो मे जैनत्व के सस्कार है। यह सरलता से नही कहा जा सकता। हमारे देश मे जैनत्व की मोटी पहचान 'रात्रि भोजन त्याग' तथा 'शुद्ध खान-पान' माना जाता था। रात्रि भोजन त्याग की बात तो आज गिने चुने घरो को छोडकर कही दृष्टिगोचर नही होती। दिगम्बर जैन समाज (जहाँ रात्रि भोजन त्याग के लिये बहुत आग्रह रहता था) मे भी रात्रि-भोजन त्यागी गिने चुने घर मे मिलते है। बडे शहरो मे कालेज पाठी अथवा सम्पन्न घरो के लडको को शुद्ध खान-पान का आग्रह नही रहता है ऐसा मेरा अनुमान है। हमारे जीवन मे भारतीयता का लोप होता जा रहा है। तथा विदेशी तौर-तरीको का प्रचलन बढता जा रहा है। विदेशी तौर-तरीके सभी बुरे नही होते किन्तु हम तो अन्धानुकरण करते जा रहे हैं। हमारा अन्धानुकरण अधिकतर बुराई के लिये अधिक सजग है हमारे घरो मे मम्मी-डेडी जैसे शब्दो की भरमार है जबकि स्नेहपूर्ण शब्द माता-पिता का हमने हमारे बच्चो मे बहिष्कार करा दिया है। और मम्मी-डेडी जैसे कर्ण कटु शब्दो को चुनकर हम गर्व से फूल जाते हैं। हमारे देश मे 'हिप्पी' 'बीटल' आदि के द्वारा हमारी सभ्यता तथा सस्कृति पर आक्रमण हो रहा है। उनकी वेष-भूषा रहन सहन व गन्दे तौर तरीके सभ्य

समाज के लिये उचित नही है किन्तु हमारे मनचले लोग उनकी भी नकल करने मे नही सकुचाते ।

तात्पर्य यह है कि आज के समय मे जैनत्व या श्रावकत्व की बात तो दूर हम अपनी युवा पीढी को सभ्य तथा सुसस्कृत रख सकें तो भी हमारी उपलब्धि बहुत महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए । हमारा रहन-सहन तौर-तरीका सभ्यता, विकृत होती जा रही है । समाज के कर्णधार इस दिशा मे उदासीन हैं । जैन-सस्कृति या श्रमण-सस्कृति को सुरक्षित रखने की कोई योजना समाज के पास नही है, न इस पर कोई ऊहापोह नही ज्ञात होता है । नेतृत्व ने इस विकृति का कोई Notice नोटिस ही नही लिया है और सब ओर शान्ति है ।

इस स्थिति मे भविष्य की कल्पना सहज की जा सकती है । क्या यह आवश्यक नही है कि समाज मे वर्तमान विकृति तथा उसके निराकरण के उपाय सोचने के लिये यत्र तत्र गोष्ठी, परिसवाद आयोजित किये जावें ताकि समाज मे वातावरण निर्माण हो और नेतृत्व इस दिशा मे कोई मार्गदर्शन समाज को देता कि जिसमे श्रमण सस्कृति सुरक्षित रह सके ।

११

श्रमण-संस्कृति

आधुनिक इतिहासकार की दृष्टि आज से लगभग पाच हजार वर्षों से पूर्व नही जाती। यदि हम इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो हमे इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि आज स लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व केवल भारतवर्ष मे ही नही, समस्त विश्व मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि मानव समाज अपने किसी उद्धारक की खोज की आवश्यकता अनुभव करता था। बात वास्तव मे यह थी कि मानव समाज की आतरिक क्षुधा केवल यज्ञ-यागादि पूर्ण वैदिक सस्कृति से तृप्त नही हो रही थी। वेदकालीन ब्राह्मणसस्कृति म अधिकतर प्रकृति पूजा थी। मानव अपनी भौतिक समृद्धि के लिए मत्रो द्वारा प्रार्थना किया करता था। उसका लक्ष्य भौतिक साधनो की प्राप्ति था। उसके पश्चात् मानव समाज ने कुछ प्रगति की और उपनिषद् काल मे आध्यात्मिक विचार प्राप्त किए। वेद तथा उपनिषदकालीन ब्राह्मण-सस्कृति का मार्ग प्रवृत्ति सूचक था। उससे मानव पूर्ण सतुष्ट नही था। ब्राह्मण-सस्कृति के अग्रदूत ऋषि, मुनि स्वय भी प्रवृत्ति मार्ग अपनाते तथा सासारिक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय मानव समाज को निवृत्ति सूचक मार्ग का कोई उपदेष्टा प्राप्त नही था। ब्राह्मणसस्कृति के उस युग मे ब्राह्मणो की ही श्रेष्ठता थी। वह अन्य वर्ण को अपने से निम्नकोटि का मानता था। शूद्रो को अत्यन्त नीच मानकर उन्हे वेद श्रवण तक का अधिकार स्वीकार नही किया जाता था। दासप्रथा वर्तमान थी बाजार मे दास, दासियो का क्रय-विक्रय होता था। महिलाओ की स्थिति दय-नीय थी, उन्हे कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे। धर्म के नाम पर पशुबलि दी जाती थी। धर्म केवल रूढियो का ककाल मात्र था। ऐसी विषम परिस्थिति मे मानव समाज अपने किसी मसीहा, उद्धारक की खोज मे था। इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप ही श्रमण-सस्कृति की आवश्यकता अनुभव हो रही थी, श्रमण सस्कृति पूर्व मे भी थी किन्तु काल प्रभाव से उस पर

आवरण छा रहा था। उसके उद्धार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी ऐसे समय में भगवान पार्श्वनाथ ने वाराणसी में आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व एक क्षत्रियकुल में जन्म ले कर इस आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने श्रमण-संस्कृति को परिस्कृत किया। धर्म के कंकाल मात्र रूढ़ियों पर प्रहार किया। मानव समाज को निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया तथा मानव मात्र की बराबरी का अधिकार स्वीकार किया। उन्होंने बतलाया कि मानव किसी विशेष कुल-जाति में उत्पन्न होने से ही उच्च नीच नहीं हो सकता अपितु अपने कर्मों से ही उच्च नीच होता है। इस प्रकार उन्होंने जन्मना उच्च नीच के विचार पर आक्रमण करके तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। दास-दासियों का क्रय विक्रय सामाजिक पाप प्ररूपित किया यज्ञ की परिभाषा बदल दी। उन्होंने मानव को संदेश दिया कि यज्ञ स्वयं का करो। आत्मयज्ञ तुम्हें आत्मशांति देगा। अपनी असद् इच्छाओं की आहुति देकर आत्मा को प्रगति पथ पर ले जाना मानव के लिये श्रेयस्कर है। भगवान पार्श्वनाथ ने अपने शतायु-पूर्ण जीवन में निवृत्ति-प्रधान संस्कृति का खूब प्रचार किया। उसके परिणाम स्वरूप उनके कई अनुयायी गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यासी हो गए, जिनको 'श्रमण' नाम से अभिहित किया गया। भारतवर्ष में श्रमण-संस्कृति दिन-प्रतिदिन पल्लवित होने लगी।

भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् श्रमण संस्कृति ने देश में निवृत्तिप्रधान मार्ग का विकास किया। वास्तव में संस्कृति के द्वारा ही मानव अपनी आत्मा को संस्कृत कर सकता है। आत्मा को संस्कृत करने का अर्थ यही है कि मानव अपनी आत्मा को सदगुणों सुसंस्कृत करके अबाध सुख की प्राप्ति करें। आवागमन रहित मुक्ति प्राप्त करें। मानव-समाज को उसकी पूर्ति प्रवृत्ति प्रधान मार्ग में दिखलाई नहीं पड़ी, इसीके परिणाम स्वरूप भगवान पार्श्वनाथ द्वारा परिस्कृत श्रमण संस्कृति तथा उनका उपदिशित 'चातुर्याम-धर्म' का देश में खूब प्रचार हुआ। प्रत्येक वर्ग के मानव उसमें दाखिल हुए। सर्व साधारण से लेकर तत्कालीन राजा, महाराजा ने भी उससे लाभ उठाया। भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् २५० वर्ष तक यही क्रम चलता रहा किंतु काल प्रभाव से पुनः पूर्व परिस्थिति उत्पन्न होने के लक्षण प्रकट होने लगे। मानव समाज पुनः ब्राह्मण-संस्कृति में ऊबने लगा। मानव समाज सामाजिक अत्याचारों से पीड़ित होने लगा। हिंसापूर्ण यज्ञ-यागादि का पुनः प्रचार होने लगा। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी मगध देश के क्षत्रियराजा सिद्धार्थ के यहाँ आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व वर्द्धमान

का जन्म हुआ। अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य करने के कारण उनको महावीर कहा जाने लगा। भगवान महावीर ने अपने ७२ वर्षीय जीवन से पुनः श्रमणसंस्कृति को प्रतिष्ठित किया। तत्कालीन समाजव्यवस्था मे क्रांतिकारी परिवर्तन किए। यदि यह भी कहा जाये कि भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदेशित मार्ग तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार परिवर्धित तथा परिष्कृत रूप मे मानव समाज को दिया उसमे और भी क्रांतिकारी परिवर्तन किए तो अत्युक्ति नही होगी। भगवान महावीर ने तत्कालीन प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरवाद का समन्वय करने के लिए मानव समाज को अनेकान्तदृष्टि का उपदेश दिया। इस प्रकार उन्होने सर्व-धर्म समन्वय के मार्ग को खोला। संक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि—

(१) विचार मे अनेकान्त (२) वाणी मे स्याद्वाद (३)आचार मे अहिंसा (४) सामाजिक न्याय मे अपरिग्रह।

वास्तव मे भगवान को श्रमण संस्कृति को पुन प्रतिष्ठित करने मे अत्यन्त कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। भगवान महावीर के समय प्रतिकूल परिस्थिति काफी सबल थी, किंतु उनकी साधनापूर्ण तपस्या मय जीवन ने मार्ग को प्रशस्त कर दिया। उसके परिणामस्वरूप श्रमण तथा श्रावक धर्म मे, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येक प्रकार का मानव दीक्षित होने लगा। उच्च, शिक्षित वेदपाठी, ब्राह्मण, विद्वान, राजा, महाराजा, धनिक, निर्धन सब दीक्षित होने लगे। भगवान महावीर के समय मे पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण, श्रावक संघ विद्यमान था। दोनो महापुरुषो द्वारा उपदेशित मार्ग मे कुछ साधारण सा अन्तर था। इस कारण भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी मुनि तथा भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर मे चर्चा हुई। भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकान्तदृष्टि का ही यह प्रताप था कि वह चर्चा अत्यन्त शान्त वातावरण मे होकर समन्वय हो सका। इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर द्वारा परिष्कृत श्रमण-संस्कृति आज लगभग तीन हजार वर्षो से अपना कार्य कर रही है तथा मानव की आत्मा को संस्कृत करने मे योगदान दे रही है।

इसमे रंच मात्र संदेह नही कि श्रमण संस्कृति के प्रचार मे भगवान महावीर के समकालीन बुद्ध का भी पर्याप्त योगदान मिलता है। भगवान बुद्ध स्वयं एक क्षत्रिय राजा के पुत्र थे तथा भगवान महावीर से आयु मे कुछ कम थे। भगवान बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य 'शारिपुत्र' से अपने बोध प्राप्ति से पूर्व की जीवनचर्या के सम्बन्ध मे तथ्य बताए है। उक्त चर्चा पर विचार करने से यह कहा जा सकता हैं कि यह चर्चा जैन स्थविर मुनियो तथा जिनकल्पित जैन

साधुओ की है। इस पर से कुछ विद्वानो का अनुमान है कि भगवान बुद्ध ने पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा या अन्य श्रमण सघ की परम्परा मे साधु जीवन व्यतीत किया होगा। क्योकि भगवान बुद्ध के पूर्व बौद्धधर्म की परम्परा भारतवष मे रही हो ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है। इस पर से यह अनुमान निकलता है कि भगवान बुद्ध न उक्त जीवन कुछ वर्षो तक व्यतीत किया। उसके पश्चात् उन्होने मध्यम मार्ग निरूपित किया। इस सम्बन्ध मे केवल एक विद्वान बौद्ध भिक्षुक स्वर्गीय श्री धर्मानन्द कौशाम्बी द्वारा लिखित पुस्तक 'भगवान बुद्ध' मे पण्डित धर्मानन्द कौशम्बी का परिचय आदरणीय काका कालेलकर के शब्दो मे उद्धृत करना उचित होगा—

"धर्मानन्दजी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म मे ही बौद्ध और जैन यह दो धारायें निकली है। उ का यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध और जैन विचारपद्धति की बुनियाद मे जो दार्शनिक जीवनदृष्टि है, उसके स्वीकार करने से ही समाजवाद और साम्यवाद कतार्थ हो सकेंगे और मानव जाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ मे आयेगी" —("भगवान बुद्ध" पुस्तक पृष्ठ ६)

भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध के उपदेशो का अनुशीलन किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उनके उपदशो म विशेप अन्तर नही है। उनके द्वारा उपदेशित आधार तथा उसकी भूमिका लगभग एक सी है। यही कारण है कि "उत्तराध्ययन सूत्र' तथा धम्मपद की कुछ गाथाये समान समान है। ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजी ने अपने द्वारा लिखित पुस्तक "जैन बौद्ध तत्व ज्ञान' मे यह निरूपित किया है कि दोनो महापुरुषो द्वारा प्ररूपित तत्वज्ञान मे विशेष अन्तर नही है। यह प्रश्न अधिक गवेषण का विषय है। जहाँ तक आचार की भूमिका का सम्बन्ध है, दोना ने उच्च आदर पाया था। यह स्पष्ट है श्रमण संस्कृति दोनो महापुरुषो के विचारो तथा जीवन से पल्लवित हुई है और उस समय विश्व का कल्याण श्रमण-सस्कृति के उन्नयन से ही हो सकता है। यदि जैन तथा बौद्ध समाज अपने आचार तथा अमल के द्वारा विश्व मे दानो महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट उच्च आदर्श का प्रचार करे तो निश्चित रूप से विश्व वर्तमान स्थिति से उभर सकता है। आज के युग की वर्तमान विषमता, घृणा, नफरत का वातावरण प्रेम तथा स्नेह के वातावरण मे बदल सकता है। सिद्धान्तो के प्रचार का सबसे उत्तम माध्यम -"अमल" होता है। अमल के बिना केवल वाणी का प्रचार प्रभाव पूर्ण नही हो सकता। यही कारण है कि उच्च सिद्धान्तो के प्रचुर प्रचार के बावजूद विश्व मे वतमान विषमता, घृणा का स्थान स्नेह तथा प्रेम नही ल सका।

भगवान महावीर तथा भगवान् बुद्ध के जन्म के साथ अन्य देशो मे भी कुछ प्रभावशाली हस्तियो ने जन्म लिया। उदाहरण के रूप मे यूनान मे सुकरात, फारस मे जरथुस्त, चीन म लाओत्से तथा कान्फ्युसीयस का नाम लिया जा सकता है, जिन्होने तत्कालीन समाज मे वैचारिक क्रान्ति की। भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के अवसर पर यह आशा करना अनुचित न होगा कि समाज अपनी ओर से अमल के जरिये श्रमण-सस्कृति के प्रचार, प्रसार का पूर्ण प्रयत्न करेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभाग् भवेत ॥

१२

श्रमण-सस्कृति की परम्पराएँ तथा आधुनिक युगबोध

डाक्टर बैजनाथपुरी ने सस्कृति तथा सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि सस्कृति अभ्यतर है, तथा सभ्यता बाह्य। सस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है। हमारे देश मे दो सस्कृति मुख्य रही हैं (१) श्रमण सस्कृति (२) ब्राह्मण सस्कृति। यह निर्विवाद है कि ब्राह्मण सस्कृति मे यज्ञयाग तथा तज्जनित हिंसा, कर्म काण्ड, जन्मना जाति तथा वर्ण का प्राधान्य था, तथा श्रमण सस्कृति मे यज्ञ याग का प्रावधान नही था अपितु यज्ञ का तात्पर्य आत्म लक्ष्य किया जाता था। इस कारण यज्ञ से सम्बन्धित हिंसा तथा कर्म काण्ड का प्रश्न ही उपस्थित नही होता था। किसी भी वर्ण या जाति म उच्चनीच का प्रश्न उसके कर्मो से निश्चित होने का प्रावधान था। तात्पर्य यह है कि श्रमण सस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित थी तथा ब्राह्मण सस्कृति वेद वेदाग से। जैन साहित्य मे "श्रीमद आचाराग सूत्र" का महत्व पूर्ण स्थान है जो भाषाशास्त्र के मत से प्राचीनतम कृति है उसमे बताया गया है कि -

' जितने तीर्थंकर पूर्व मे हुए हैं अथवा भविष्य मे होगे वह सब यही कहते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सत्व को दण्डादि से नही मारना, उन पर आज्ञा नही चलाना, उनको दास की भाँति अपने अधिकार मे नही रखना। उनको शारीरिक, मानसिक सताप नही देना, न उन्हे प्राणो से रहित करना चाहिये। यही धर्म शुद्ध, नित्य तथा शाश्वत है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि श्रमण-सस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रही है। जैनधर्म वास्तव मे किसी विशेष प्रकार के कर्म काण्ड, रूढियो व पालन का नाम नही है। अपितु जैनधर्म मानव ही नही, समस्त प्राणि जगत के उद्धार का मार्गदर्शक है। मानव आत्मा के स्वाभाविक गुणो का

विकास करके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। इस कारण उसे विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया जाना उचित नही है। लेखक के मत मे प्राग् एतिहासिक काल मे उसका कोई विशेष नाम भी नही था। उसको "आत्म धर्म" कहा जा सकता था। किन्तु पश्चात्वर्ती युग मे उसे 'निर्ग्रन्थधर्म" कहा जाने लगा और बाद मे इस कारण कि उसके उपदेष्टा "जिन" थे उसका "जैन धर्म" नामकरण हो गया जो भी हो इतना स्पष्ट है कि वह अनादि, अनन्त है। मानव समाज तथा सृष्टि अनादि है, इसलिये यह "आत्म धर्म' भी अनादि है। फिर भी उपलब्ध जैन साहित्य से श्रमण संस्कृति की परम्परा के सूत्र देखने होगे। वर्तमान के चौबीस तीर्थंकर "जिन' मे सबसे पहले ऋषभदेव का नाम आता है, जो समाज व्यवस्था का सूत्रपात करने वाले प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम धर्मोपदेष्टा थे। जैन मान्यता के अनुसार १४ कुलकर तथा वैदिक मान्यता के अनुसार १४ मनु होते है। इसमे अंतिम "नाभिराय" थे। (चाहे इन्हे कुलकर कहा जावे या मनु किन्तु दोनो मान्यता मे नाभिराय सामान्य है) उनके पुत्र ऋषभदेव है यह युग इतिहास की पहुँच के परे है किन्तु श्रीमद् भागवत के अनुसार ऋषभदेव 'नाभिराय के पुत्र' मोक्ष मार्ग के उपदेशक के रूप मे प्रसिद्ध थे। उन्हे "वासुदेव का अष्टम' अवतार माना गया है। ब्राह्मण परम्परा के अन्य साहित्य मे भी उनका उल्लेख उच्च कोटिका है। मोटे तौर पर श्रमण संस्कृति का उद्गम ऋषभदेव से कहा जा सकता है। उसके पश्चात् के २० तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे विस्तृत माहिति नही मिलती। किन्तु २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमीनाथ) श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे और उनका उल्लेख ऋग्वेद आदि मे आता है। यूरोपीय कई विद्वानो ने पार्श्वनाथ तथा महावीर की ऐतिहासिकता स्वीकार की है। श्री मेक्समूलर ने अपने ग्रन्थ Sacradbook of the East vol XIV introduction Page 21 मे स्वीकार किया है।

"That parsha was a historical persoin is admitted by all as very probable

तात्पर्य यह है कि यह सब महापुरुष श्रमण संस्कृति के उन्नायक रहे है।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार यज्ञ यागादि था। जिसको सम्पन्न करने के लिये पशु-हिंसा आवश्यक मान ली गई थी। ब्राह्मणो के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होते थे। यज्ञ मे हिंसा न मानी जाने का प्रावधान कर दिया गया। (वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति) यज्ञो के लिये कृषि योग्य पशु होम दिये जाते थे। परिणाम यह हुआ कि देश का कृषक

वर्ग दुःखी हो गया। यज्ञकर्ता राजा अपने सैनिकों के द्वारा कृषि उपयोगी पशु पकड़वाकर मगा लेता और यह अमानवीय कृत्य ब्राह्मणो के निर्देश तथा इशारे पर होता था। परिणामत जन मानस मे ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे क्षोभ बढ गया। यह सत्य है कि जिन ब्राह्मणो के विरुद्ध जन मानस मे क्रोध क्षोभ बढा, वह ब्राह्मण सस्कृति के हामी थे। ऐसे कई विचारक ब्राह्मण थे कि जो जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी श्रमण सस्कृति के हामी थे या हामी हो गये थे। भगवान महावीर के ११ प्रमुख शिष्य (गणधर) स्वय ब्राह्मण थे जो श्रमण सस्कृति के केवल हामी नही, अपितु पुरस्कर्ता भी थे। यह स्पष्ट है कि वेद कालीन ब्राह्मण सस्कृति निवृत्तिगामी थी। ऋषि, मुनि अधिकतर गृहस्थ होते थे। उनके द्वारा की हुई प्रार्थनायें अधिकतर भौतिक समृद्धि के लिये या प्राकृतिक आपत्ति से रक्षा के लिये हुआ करती थी। हम देखते है कि उपनिषद् काल मे यह क्रम परिवर्तन होता था। ऋषि मुनि आध्यात्मप्रिय आत्म-विद्या मे निपुण थे। कई क्षत्रिय आत्मविद्या मे इतने प्रवीण थे कि ब्राह्मण उनके पास जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। जैसा कि छादोग्योपनिषद मे अरूणि के पुत्र श्वेतकेतु और प्रवाहण क्षत्रिय के सवाद मे स्पष्ट है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के ६ ठे अध्याय मे राजा प्रवाहण ने आरूणी से कहा कि "इसके पूर्व यह अध्यात्मविद्या किसी ब्राह्मण के पास नही रही वह मै तुम्हे बताऊँगा।" सभवत यही कारण था कि जन-मानस मे उस युग मे ब्राह्मण वर्चस्व कम हो गया तथा क्षत्रिय वर्चस्व उत्तरोत्तर तरक्की कर गया। जन मानस ब्राह्मण को आदर की दृष्टि से नही देखता था। इसी पृष्ठ भूमि मे यह धारणा उत्पन्न हुई कि जैनतीर्थंकर का जन्म ब्राह्मण कुल मे न होकर क्षत्रिय कुल मे होता है। ब्राह्मण परम्परा मे भी वामन तथा परशुराम को छोडकर सब अवतार क्षत्रिय कुल मे ही जन्मे थे।

वेदकालीन परिस्थिति मे जहा मानव का चिन्तन केवल भौतिक समृद्धि के लिए था, उपनिषद् काल मे वह चिन्तन कुछ आध्यात्मिक हो गया। स्वर्ग आदि के सम्बन्ध मे मानव ने चिन्तन किया किन्तु फिर भी मानव समाज बडी तीव्रता से शाति की खोज मे था। उपनिषद कालीन आत्मविद्या से भी उसे सतोष नही हुआ। मानव समाज का अतिम लक्ष्य "मुक्ति" था और वह उसकी प्राप्ति के उपाय की खोज मे था। कहना न होगा कि आत्मा मूलत शुद्ध-बुद्ध है। मौलिक रूप से परमात्मा की potentially मे कोई भद नही था। केवल भेद यह था कि एक राग-द्वेष आदि बन्धन से युक्त थी तथा दूसरी बधन मुक्त थी जैसा कि कहा गया है —

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि ।
ससारमाया परिवर्जितोऽसि ।।

× ×

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय ।
कर्म मेल का आतरा, बूझे बिरला कोय ।

प्रश्न यह था कि आत्मा राग-द्वेष के बन्धनो से किस प्रकार मुक्त हो। तत्कालीन मानव प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ईश्वर अथवा देवता का अनुग्रह प्राप्त करके इच्छित लक्ष्यपूर्ति का मार्ग जानता था। श्रमण-सस्कृति के प्रथम उद्‌गाता भगवान ऋषभदेव तथा श्रमण सस्कृति उन्नायक भगवान महावीर ने यह उदघोष किया कि मानव तुमको किसी ईश्वर या देवता की आवश्यकता नही है स्वय आत्मा शुभ-अशुभकर्म की कर्त्ता है और वही उससे बन्धन मुक्त हो सकती है। तुम ही स्वय के मित्र तथा शत्रु हो।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणा य सुहाणा य ।
अप्पामित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।
अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहाधेणू अप्पा मे नदणवण ।।

तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने प्रवाह के विरुद्ध मानव की उच्चता का घोष किया और उसमे आत्म विश्वास जगाया।

न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित् ।

उन्होने कर्म के सिद्धान्त का निरूपण किया तथा स्पष्ट कर दिया कि कर्म फल से ससार का कोई महान व्यक्ति भी नही बच सकता। सुकर्म तथा कुकर्म का अन्त होने से ही जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। यूरोपीय विद्वानो ने श्रमण-सस्कृति के उन्नायको मे जिन महापुरुषो की ऐतिहासिकता मानी है उनमे भगवान पार्श्वनाथ प्रमुख है। उन्होने आत्मा के कर्म समूह को नष्ट करने तथा शुभ जीवन व्यतीत करने के लिये 'चातुर्याम धर्म' का प्रतिपादन किया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्दजी कोसाम्बी ने अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम' की प्रस्तावना मे यह स्वीकार किया है कि "आज जो कुछ श्रमण सस्कृति शेष बची है, उसके आदि गुरु पार्श्वनाथ है और बुद्ध के समान यह भी श्रद्धेय है। इसी पुस्तक के पृष्ठ १४ मे अकित किया है कि—

"त्रिपिटक मे निग्रन्थो का उल्लेख अनेक स्थानो पर हुआ है। उससे ऐसा दिखाई देता है कि निग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से वर्षों से पहले मौजूद था। अगुत्तरनिकाय मे यह उल्लेख पाया जाता है कि बप्प नाम का शाक्य निग्रन्थो

का श्रावक था । उस सुत्त की अनुकथा मे यह कहा गया है कि यह बप्प बुद्ध का चचा था । अर्थात् यो कहना पडता है कि बुद्ध के जन्म से पहले या उनकी छोटी उम्र मे ही निग्रन्थो का धर्म शाक्य देश मे पहुँच गया था । महावीर स्वामी बुद्ध के समकालीन थे । अत यह मानना उचित होगा कि यह धर्म प्रचार उन्होने नही बल्कि उनके पहले के निग्रन्थो ने किया था" ।

श्रमण सस्कृति के पुरस्कर्ता भगवान महावीर तथा उनके समकालीन शाक्य-पुत्र गौतम बुद्ध तो थे ही किन्तु लगभग छठी शताब्दि मे रचित निशीथचूर्णि मे श्रमणो मे निग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक आजीवको की गणना की गई है । आजीवक-सम्प्रदाय भगवान महावीर के समय मे मौजूद था और यह कहा जाता है कि निग्रन्थ धर्म तथा आजीवक सम्प्रदाय के आचार एक दूसरे के निकट थे । हालांकि जैन साहित्य मे गौशालक को निन्हव बताया गया है । और त्रिराशिवाद को छठा निन्हवमत अकित किया गया है इसके अनुयायियो को आजीवक मत का अनुकर्त्ता बताया गया है इसके प्रतिष्ठाता कल्पसूत्र के अनुसार आय महावीर के शिष्य रोहगुप्त थ । गोशालक के अतिरिक्त पूरण काश्यप, अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, सजयवेलट्ठि श्रमण सस्कृति के प्रचारक थे । कुछ विद्वानो का मत है कि यह भी जिन कहलाते थे । लेखक के मत मे श्रमण-सस्कृति जीवन मे सदाचार के उच्चतम नियमो को अगीकृत करने पर अधिक जोर देती थी । उसमे सैद्धान्तिक बारीकियो तथा उससे उत्पन्न उप-प्रश्नो का अधिक महत्व नही माना गया । यही कारण है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर (जिनमे विस्तार की गई बातो मे मतभेद है) दोनो का श्रमण सस्कृति मे महत्वपूर्ण स्थान है । यह दुर्भाग्य का विषय है कि भगवान महावीर के युग मे साधु नग्न तथा वस्त्र सहित रहते थे, दोनो के आचार मे कुछ भेद भी था । (चाहे उन्हे जिनकल्पी तथा स्थविरकल्पी कहे) दोनो का समावेश भगवान महावीर के शासन मे था । दोनो आदर तथा श्रद्धा के पात्र थे । बारह वर्षीय दुष्काल के समय जब कुछ साधु दक्षिण मे चले गए तथा कुछ साधु अन्य क्षेत्र मे । जब दुष्काल के पश्चात् परस्पर मिलन के समय उच्चत्व तथा निम्नत्व की भावना हुई और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दो परम्परा का आविर्भाव हो गया । वास्तव मे यह आश्चय का विषय है कि निग्रन्थ धर्म अनेकान्तवाद का हामी होने के कारण परस्पर विरोधी विचारधाराओ का समन्वय कर सकने का दावा करता था उसी के अनुयायी २५०० वर्षो मे परस्पर के मतभेदो का समन्वय नही कर सके । यह सत्य है कि इस लम्बे काल मे कई प्रभावशाली आचार्य हुए, जिन्होने दूसरी सम्प्रदाय के प्रति उदारता का भाव रखा और इस प्रकार समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने मे सहायक हुए

किन्तु सफलता नही मिल सकी । यदि हम श्रमण सस्कृति के मुख्य आधारो को ले तो हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँच सकते हैं कि केवल भारतीय धर्म ही नही अपितु बाईबिल मे भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। बाईबिल एक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है जिसका प्रभाव केवल पश्चिम जगत ही नही, अपितु अरब तथा दूसरे इस्लामी देशो पर भी पर्याप्त रूप से पडा है। बाईबिल के अनुसार परमेश्वर (यहोवा) मूसा से पर्वत के शिखर पर से Sermon of the mount यह आदेश दिया है जिन्हे New testament कहा जाता है। इन दस आज्ञाओ का अवलोकन करे, तो यह ज्ञात होगा कि इनमे से कई हमारी श्रमण सस्कृति के मूलाधार जैसी ही हैं।

वास्तव मे श्रमण सस्कृति अहिंसाप्रधान, कर्मप्रधान तथा पुरुषार्थप्रधान रही है जैसा कि इस लेख के पूर्वार्द्ध मे बताया गया है। इस सस्कृति का मूलाधार अहिंसा है, वह अहिंसा केवल नकारात्मक नही, अपितु विधेयात्मक भी है। जहाँ वह हिंसा न करने का प्रावधान करती है वही समस्त प्राणि जगत से, मैत्री, करुणा प्रमोद का उपदेश देती है उसका मूल मत्र है—

सत्वेषु मैत्री गुणिषुप्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव. ।।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अहिंसा केवल प्राणी के प्राण नाश करने तक ही सीमित नही है अपितु आर्थिक क्षेत्र मे अर्थ जन्य द्वेष, ईर्ष्या आदि को समाप्त करने के लिये अपरिग्रह (इच्छा परिमाण व्रत) को उपदेशित करती है। अपने रहन-सहन मे सात्विकता हो, आवश्यकतायें सीमित हो इसके लिए उपभोग, परिभोग,परिमाण व्रत का विधान किया गया। तात्पर्य यह है कि मानव समाज मे शोषण की वृत्ति न रहे, इसी प्रकार अनेकान्तवाद का विधान करके बौद्धिक अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया। श्रमण-सस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध मे एक बार स्व० लोकमान्य तिलक ने कहा था कि ब्राह्मणो पर जैनो की अहिंसा का बहुत प्रभाव पडा है। यह एक प्रसिद्ध घटना है कि जैनो के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमीनाथ) जब विवाह के लिये पहुँचे, उन्होने वहाँ एक पशु गृह मे पशुओ की आर्त्तपुकार सुनी तथा जब उन्हे यह ज्ञात हुआ कि यह अतिथियो के भोजन के लिये वध किये जावेंगे तब वापस हो गये। विवाह अस्वीकार कर दिया। सहस्रो वर्ष पुरानी इस घटना ने सौराष्ट्र के जन-जीवन मे अहिंसा का जो बीजारोपण किया उसकी झाँकी आज भी वहाँ देखी जा सकती है। सौराष्ट्र मे पशु-पक्षियो की शालायें आज भी देखी जाती हैं तथा, जैनेतर लोग उत्साहपूर्वक पशु-रक्षा करते हैं। यह भी एक सुविज्ञ बात

है कि हमारे देश के जनजीवन मे अभी भी शाकाहार को उत्तम मानते हैं। यह जैन अहिंसा का प्रभाव है, हालांकि गत कुछ वर्षों की परिस्थिति तथा विरुद्ध प्रचार के कारण स्थिति मे परिवर्तन होता जा रहा है किन्तु एक बात बिना सकोच के स्वीकार की जानी चाहिये कि अहिंसा (प्राणीवध) के अतिरिक्त अनेकान्त, अपरिग्रह, जाति-प्रथा आदि (जो श्रमण सस्कृति के मूलाधार थे) पर स्वय जैन समाज ने अधिक जोर नही दिया। परिणाम यह है कि श्रमण-सस्कृति को मजबूत नही बनाया जा सका। केवल जैन समाज के ही कई विभाग, भाग-उपविभाग हो गए, कोई खाई को नही पाट सका। अपरिग्रह की तो विडम्बना है। लेखक के विदेशी मित्र ने उससे व्यग्य पूर्ण जिज्ञासा की कि अपरिग्रह का उपदेश देने वाले जैन धर्म के अनुयायियो (जैन साधु नही) गृहस्थो मे अपरिग्रह का कोई आकर्षण नही है। कर्मणा जाति का उद्घोष करने वाले महान पुरुष की वाणी पर समाज ने कोई अमल नही किया। तात्पर्य यह है कि हमे इस दिशा की अपनी असफलता स्वीकार करनी चाहिये।

यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि हम मे वैचारिक-जडता इतनी आ चुकी है कि भगवान पार्श्वनाथ, महावीर, बुद्ध जैस महान् क्रान्तिकारी महा पुरुषो के अनुयायी होने के बावजूद हम लकीर के फकीर हो चुके है। सस्कृति वास्तव मे विकृत होती जा रही है। हमारे मन-मस्तिष्क मे कोई नया उन्मेष नही होता। इस विकृत परिस्थिति मे आधुनिक युग की समस्याओ से जूझने, उसका हल निकालकर मानव जाति का उत्थान करने की क्षमता नही रही है। साधुसमाज की स्थिति बडी विचित्र होती जा रही है। हम शब्द (जड) के गुलाम होते जा रहे है। उन शब्दो के पीछे जो भावना (Spirit) है, उसको देखकर प्रेरणा प्राप्त करने का हम मे साहस नही रहा है। अच्छे बुरे, पाप पुण्य का निर्णय बाह्य परिस्थिति से करके धर्मी तथा पापी होने का प्रमाण पत्र दे देते हैं, जब कि श्रमण सस्कृति मे अतर्वृत्ति पर अधिक जोर दिया जाता रहा है यदि श्रमणसंस्कृति को तारुण्य प्रदान करना है तो आधुनिक समय के Challange को स्वीकार करके समस्याओ का हल निकालना होगा। आज समस्या केवल व्यक्तिगत जीवन की नही अपितु समाज के जीवन की हैं, राष्ट्र के जीवन की है। समाज तथा राष्ट्र मे व्याप्त विषमता मिटाकर समता प्रस्थापित करना होगा, जो कि श्रमण के जीवन का महत्वपूर्ण अग है। जैन ग्रन्थो मे कहा गया है कि—

समयाए समणो होई बभचेरेण बमणो।
नानेणय मुणि होई, तवेण होई तावसो॥

काश! हम सब जैन, बौद्ध तथा और जो श्रमण-सस्कृति के उन्नयन के इच्छुक हैं, सोच कर व्यापक कार्य प्रारम्भ करें। ●

१३

अनेकान्त को चरितार्थ करें

जैन साहित्य एक विशाल समुद्र है। यदि इस विशाल जैन साहित्य का अन्य भारतीय दर्शनो के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो मनुष्य को आनन्द की जो उपलब्धि, अनुभूति होगी वह अकथनीय है। जितना गहन अध्ययन होगा, उतना ही मनुष्य अनेकान्त, स्याद्वाद एव समन्वय के निकट पहुँचेगा – ऐसा मेरा विश्वास है। अनेकान्त एक विचारपद्धति है। इस विचार पद्धति के परिणामस्वरूप उत्पन्न विचार को जिस भाषा मे व्यक्त किया जाय वह स्यादवाद है। सबका मूल लक्ष्य समन्वय है।

मेरा यह विश्वास है कि अखिल जैन समाज ने अनेकान्त विचार-पद्धति को केवल सैद्धान्तिक ज्ञान बनाए रखा। यदि दृढता से उसका आचरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे किया गया होता तो अखिल जैनसमाज वर्तमान विशृंखल अवस्था मे नही होता। गत दो सहस्राब्दि का इतिहास बडा ही करुणापूर्ण है। जैन समाज की विशृंखल अवस्था इस बात का प्रमाण है कि हमारी अनेकान्त पर केवल शाब्दिक आस्था है। मेरी हार्दिक कामना है कि वर्तमान तथा भावी पीढी इस दिशा मे गहन अध्ययन करे, समन्वय के द्वारा सगठित अखिल जैन समाज का निर्माण हो।

१४

साम्प्रदायिकता का विष-वृक्ष

'अग्नि-परीक्षा' से संबधित रायपुर-घटना पर एक प्रकट चिन्तन

साम्प्रदायिकता का विष-वृक्ष ऐसा है कि अतीत मे जिसने यूरोप मे ईसाई समाज के दो सम्प्रदायो रोमन कैथोलिक तथा प्राटेस्टेट के बीच कई अमानवीय घटनाएँ घटित कराई । हमारे देश मे मुसलमानो के दो सम्प्रदायो शिआ और सुन्नी के बीच झगडे कराए। यही नही, सनातन धर्म तथा जैन-बौद्धो के बीच तथा स्वय जैन समाज के दो सम्प्रदायो-श्वेताम्बर व दिगम्बर के बीच इसी प्रकार की घटनाओ की पुनरावृत्ति कराई। तात्पर्य यह कि हमारे देश का ही नही, अपितु विश्व का इतिहास साम्प्रदायिकता की बर्बर तथा अमानवीय घटनाओ से भरा पडा है। अतीत मे जब हमारे देश मे हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते थे, तब हम विदेशी सत्ता को सारा दोष देकर सतोष कर लेते थे, किन्तु स्वतन्त्र भारत मे भी जब इस प्रकार की घटनाएँ घटित होती है तब किसे दोष दिया जावे ? यदि सच पूछा जाये तो आज तो शुद्ध साम्प्रदायिकता अपना करिश्मा दिखला रही है। २५-२६ वर्ष की आयु के स्वतन्त्र भारत ने साम्प्रदायिकता के कई मोड देखे हैं।

जहाँ तक मैं सोचता हूँ, साम्प्रदायिकता धर्म का बाना पहन कर आती है और मेरा यह भी विश्वास है कि सार्वभौम धर्म एक ही है। 'धर्म' शब्द की चाहे जितनी परिभाषाएं की जाए, पर धर्म एक उच्च स्तर के सदाचार युक्त जीवन का नाम है। वह सार्वभौम के साथ सार्वदेशिक भी है, किन्तु जब धर्म के साथ दर्शन का मेल कर दिया जाता है तब वही धर्म सार्वभौम तथा सार्वदेशिक नही रह जाता। उसमे मत भिन्नता हो जाती है तथा पृथक-पृथक हो जाते हैं और उनकी सुरक्षा के लिये यम, नियम, वेष आदि बनाकर उसे सम्प्रदाय का रूप दे दिया जाता है। वैसे देखा जावे तो जो धर्म उदार दृष्टिकोण का हामी था, वही धर्म देश के सकुचित सम्प्रदाय का हामी बन जाता है।

उदाहरण के तौर पर प्रत्येक मनुष्य को यदि वह उच्चस्तर का सदाचार-युक्त जीवन व्यतीत करता है, चाहे वह किसी विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित न हो तब भी मोक्ष मार्ग का पथिक माना जाना चाहिए किन्तु सम्प्रदायानुमोदित धर्म यह व्यवस्था बताता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जब तक विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित न हो, स्वर्ग या मोक्ष मे प्रवेश नही कर सकता। आपद्धर्म या दूसरे नंबर की बात मानकर इसे भी बर्दाश्त किया जा सकता है, किन्तु जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर आक्रमण करे, उसके मान्यता, विश्वास को नष्ट करने पर उतारू हो जावे या साम्प्रदायिकता के मद मे दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियो को केवल इस कारण कि वह एक विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बन्धित है, कष्ट दे, उनके साथ अमानवीय व्यवहार करे तो यह स्थिति किसी विशेष देश के लिये ही नही, अपितु सारी मानवता के लिये कलक है। दुर्भाग्य से केवल अतीत ही नही, वर्तमान भी इसी साम्प्रदायिकता के अभिशाप से कलुषित है और स्वतन्त्रता के २३ वर्ष पूरे हो जाने पर भी साम्प्रदायिकता के कारण न देश मे शाति है और न देश मजबूती अनुभव करता है। जब साम्प्रदायिकता के साथ राजनीतिक लोग मिल जाते हैं, तब तो स्थिति भयकर हो जाती है। राजनीतिक लोग अवसर पाकर साम्प्रदायिकता का नाम लेकर अपना उल्लू सीधा करते है। प्रारम्भ मे रायपुर की घटना मे जो भी कारण रहे हो, किन्तु गत २ मास से म० प्र० राज्य का एक नगर रायपुर इसी साम्प्रदायिकता की ज्वाला मे धधक रहा है। सब जानते है, आचार्य श्री तुलसीजी एक जैन सन्त हैं, अपरिग्रही हैं तथा सार्वधर्म-समन्वय की भावना मे विश्वास रखने के साथ ही स्याद्वादी वृत्ति के हामी हैं। कहा जाता है कि उन्होने वर्षों पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी मे रचित किसी ग्रन्थ के आधार पर 'अग्नि-परीक्षा' नाम की पुस्तक लिखी जो काफी वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गई थी। उक्त पुस्तक मे भगवती सीता के चरित्र का चित्रण है और उनका चरित्रबल ऊँचे दर्जे का होना निरूपित किया गया है। किन्तु नगर के कुछ महानुभावो की नजर मे इस पुस्तक मे भगवती सीता का चरित्र-चित्रण किसी विशिष्ट धर्म के अनुयायियो की धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाने के लिये किया गया है। जहाँ तक मैं आचार्य श्री को जानता हूँ, वे जैन धर्म के आदर्श पुरुषो के प्रति आदर सम्मान की भावना अधिक रखें- यह तो हो सकता है, जैसे कि कोई पुत्र स्वय के पिता के प्रति अधिक आदर रखे, किन्तु आचार्य श्री से यह सभव नही है कि वे अन्य आदर्श पुरुषो का अनादर करें या उनके मन मे उनके प्रति अनादर की भावना हो। परिणाम यह है कि रायपुर मे इस बात को लेकर राजनीति पूर्ण साम्प्रदायिकता ने अपना करिश्मा दिखलाकर अशाति उत्पन्न कर रखी है। यदि

समाचार पत्रो मे प्रकाशित रिपोर्ट सत्य है तो यहा की स्थिति भयानक है। इस पर आचार्य ने यह सतोष कराने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत पुस्तक एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर काफी समय पूर्व लिखी गई थी, उसमे भगवती सीता के चरित्र के बारे मे कोई अनुचित बात नही है और फिर वह एक लोक गीतो के रूप मे लिखी गई है। किन्तु भोली जनता सन्तुष्ट न हो सकी तब स्थिति को टालने के लिये आचार्य श्री ने यह भी तत्परता बताई कि देश के निष्पक्ष विद्वान आचार्य बिनोवाजी, काका कालेलकर आदि जो निर्णय देगे, उन्हे वह स्वीकार होगा। इस पर भी जन-मानस शान्त नही हुआ तब चातुर्मास काल मे ही रायपुर से बिहार करना तय किया, हालाकि मध्यप्रदेश के युवा मुख्यमन्त्री के आग्रह पर उन्होने अपना इरादा कार्यान्वित नही किया। फिर भी वहा की स्थिति शान्त नही हुई। एक उर्दू कवि के मुताबिक आचार्य तुलसी की स्थिति इस प्रकार है —

न तड़पने की इजाजत है न फरियाद की है,
घुट के मर जाऊ ये मरजी मेरे सय्याद की है।

स्थिति की भयानकता इन दो मास की घटनाओ से भली भाँति जानी जा सकती है। यहा उनकी अर्थी निकालकर जलाई जाती है। अन्य साध्वियो के निवास-स्थान मे आग लगाने का प्रयत्न किया जाता। रायपुर के उस क्षेत्र मे धारा १४४ साधारण बात हो गई है। प्रश्न यह है कि क्या रायपुर मे कोई बुद्धिवादी, निष्पक्ष, सरल-मना व्यक्ति नही है कि जो आन्दोलनकर्ता सज्जनो को यह विश्वास दिला सके कि 'अग्नि-परीक्षा' पुस्तक धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाने के लिए नही लिखी गई है। जिन विद्वानो ने जैन पौराणिक कथा साहित्य का अध्ययन किया है, वे भली भाति जानते हैं कि जैन कथा साहित्य मे भगवान राम का स्थान उच्चतर के महापुरुषो मे 'बलदेव' के रूप मे है तथा भगवती सीता का स्थान १६ सतियो मे है। ऐसी दशा मे यह सम्भव नही कि भगवती सीता के सम्बन्ध मे कोई अपमानजनक बात एक आचार्य द्वारा लिखी जाये, यह तथ्य भी विद्वानो मे छिपा नही है। वैष्णव, शैव तथा अन्य पौराणिक कथा वस्तुओ से जैन पौराणिक कथा वस्तु कुछ भिन्न है। यह भिन्नता तो महर्षि वाल्मीकि-कृत रामायण तथा सत तुलसीदास कृत रामायण मे भी दृष्टिगोचर होती। खैर, ऐसा लगता है कि रायपुर का निष्पक्ष सरल-मना बुद्धिजीवी मौन है। या तो वह जनसाधारण के इस आन्दोलन से अलिप्त रहना चाहता है, मौन दर्शक रहकर तमाशा देखता है या वह जनसाधारण के इस आन्दोलन मे स्वय नही होना चाहता। जो भी हो, रायपुर का बौद्धिक वर्ग आज कसौटी पर है।

रायपुर के इस उग्र राजनीति पूर्ण साम्प्रदायिक आन्दोलन की तीव्रता को अनुभव करके शायद आक्रोश को शान्त करने के लिये मध्यप्रदेश शासन ने भारतीय अपराध संहिता की धारा २९५-ए के तहत उक्त पुस्तक को जब्त घोषित कर दिया है।

यह भी समाचार है कि कुछ सज्जनो ने मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय मे इस शासन आदेश को चुनौती दी है। उसका जो परिणाम हो, किन्तु वह रोग का उपचार नही है। रोग का असली उपचार यह है कि रायपुर का प्रबुद्ध वर्ग जनसाधारण को उक्त पुस्तक के मजमून तथा भगवती सीता के सम्बन्ध मे जैन दृष्टिकोण से सन्तुष्ट करावे।

सच यह है कि आज रायपुर मे आचार्य तुलसी की पुस्तक की 'अग्नि-परीक्षा' नही हो रही है, अपितु मानवता, सज्जनता की 'अग्नि-परीक्षा' हो रही है। समाचार पत्रो मे एक समाचार यह भी है कि रायपुर मे आचार्य तुलसी के विरुद्ध मोर्चे के नेताओ के भाषणो की जाच की जा रही है, और सम्भवत उन पर मुकद्मा चलाया जाये। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, इन सब कार्यवाहियो से रायपुर मे शान्ति नही हो सकती, अपितु मनमुटाव ही बढेगा। शासन द्वारा जब्ती का आदेश निकालना या वहाँ के आन्दोलनी नेताओ पर मुकदमा चलाना, यह परस्पर मनमुटाव का कारण रहेगा। सारी आशा का केन्द्र रायपुर के असाम्प्रदायिकवृत्ति के प्रबुद्ध नागरिक है, वह नगर मे ऐसा वातावरण बनावें कि जिससे वहा परस्पर सद्भाव की वृद्धि हो, अन्यथा वहाँ उर्दू के एक कवि के मुताबिक --

बस एक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात,
बाफज्ले खुदा वह भी आज जुर्म हो गई।

अभी ४–५ दिन पूर्व ही जो घटना घटी है, वह रायपुर के लिए कलक है। यह आवश्यक है कि इस आन्दोलन के प्रमुख सज्जन उससे अपना सम्बन्ध न होना कहके इसे असामाजिक तत्वो द्वारा किया गया उपद्रव बताएँ, किन्तु आसनी से किसी समझदार को यह समझ मे आ सकता है कि कोई भी आन्दोलन चाहे वह शुद्ध तथा सत्य बातो पर आधारित हो, तब भी नगर का असामाजिक तत्व अवसर मिलते ही उस पर छा जाता है और तब वह हिंसा की ओर मुड जाता है। इस कारण आन्दोलनकर्ता नेतृत्व तो इस सम्भावना को ध्यान मे रखकर इस स्थिति की रोक के लिये उपाय सोच कर कुछ कदम उठाना चाहिए। दुर्भाग्य से रायपुर मे जो कुछ हुआ, वह अत्यन्त शर्मनाक है तथा धर्म की हत्या हुई है। हमारा मस्तक ग्लानि से झुक जाना चाहिए। आचार्य

श्री तुलसी एक आध्यात्मिक सन्त है। मैं अधिक प्रसन्न होता यदि वह मध्य-प्रदेश शासन से यह आग्रह करते कि हमको पुलिस संरक्षण की आवश्यकता नही है। किन्तु किसी बड़े व्यक्तित्व की कठिनाइयो से मैं परिचित हूँ। उन्होंने सम्भवत शासन या जिला प्रशासन की जिम्मेदारियो को ध्यान मे रखकर ऐसा आग्रह नही किया। यदि ऐसा आग्रह किया जाता और उनको कोई शारीरिक हानि पहुँचा दी जाती तो जिला प्रसासन तथा शासन की स्थिति भयानक हो जाती। इस कारण उनका इस प्रकार का आग्रह न करना उचित ही रहा है। अब ताजा समाचार यह है कि आचार्य श्री तुलसीजी ने रायपुर नगर से बिहार कर दिया है। रायपुर नगर ही नही, पूरे मध्यप्रदेश ही नही, अपितु देश के प्रबुद्ध नागरिको के सामने यह घटना एक प्रश्न चिन्ह छोड गई है कि हमारे देश मे वैचारिक-सहिष्णुता कितनी कम है, और तथाकथित नेतागण अपने लाभ के लिए जनसाधारण का उपयोग उसको भ्रम मे डालकर कितना ले सकता है तथा नगर की शान्ति को कितनी अधिक सीमा तक भग करा सकता है।

आशा है कि देश का विचारक वर्ग इस स्थिति के लिये गहराई से सोचकर कोई मार्ग निकालगा तथा देश का नेतृत्व इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति न हो, इस दिशा मे सक्रिय रूप से सोचेगा।

१६
जापान में भारतीय संस्कृति

मैंने सन् १९५६ मे 'अनाई नोबमो' द्वारा अयोजित विश्वधर्म सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिये 'जापान यात्रा' की थी। मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि 'जापान यात्रा' के सीप्रान्त-निवास मे जितना गहन अध्ययन इस दिशा मे करना चाहिए उतनी गहनता से अध्ययन समय की कमी के कारण नही हो पाया किन्तु दृढता के साथ कहा जा सकता है कि जापान के इस सक्षिप्त निवास काल मे शहर तथा ग्रामीण जीवन की झाकी मेरे हृदय पटल पर आज भी अकित है। उससे यह तो निश्चित है कि जापान की सस्कृति हमारी सस्कृति से पूर्व मे निश्चित रूप से प्रभावित हुई है।

भारतवर्ष से पूर्व मे जापान देश प्रशान्त महासागर मे एक द्वीप है, विश्व के मानचित्र मे आप यह देखेंगे कि जापान लम्बाई मे अधिक तथा चौडाई मे कम है। जापान सुदूर पूर्व के देशो मे गिना जाता है उसे सूर्य का देश कहा जाता है। कहा जाता है कि जापान का प्राची नाम 'ब्रह्मनौवमो' था। जापानी भाषा मे 'नवमो' शब्द का अर्थ 'धर्म' था। जापान की प्राचीन राजधानी 'नारा नगरी' थी। मैंने जापान यात्रा मे 'नारा नगर' का अवलोकन किया है उक्त नगर की बसाहट हमारी प्राचीन सस्कृति के मुख्य नगर 'बनारस' जैसी है। जापान की वर्तमान राजधानी 'टोकियो' मे मैंने एक मन्दिर का अवलोकन किया और ज्ञात होता था कि स्वर्ग के अधिपती 'इन्द्र' के देवालय है जिसके प्रवेश द्वार पर 'हनुमान' जैसी प्रतिमा द्वारपाल के रूप मे स्थित है। इसी नगर मे 'शारदा' जैसी मूर्ति विद्यमान है। भारतीय जीवन मे सरस्वती शारदा, कला विद्या की अधिष्टात्री देवी मानी जाती है। जापान मे शारदादेवी का अन्य नाम प्रचलित है। कई स्थानो पर 'यमराज' भी दृष्टिगोचर होते हैं जिसे 'अेम्पा मासा' कहा जाता है। पृथ्वी, सोम, वरुण, वायु आदि देवता भी इस देश मे देखे जा सकते हैं। इन्ही निर्दिष्ट तथ्यो के आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा

सकता है कि प्राचीनकाल मे जापानवासी ब्राह्मण धर्म से अवश्य प्रभावित रहे हैं।

लगभग पाच वर्ष हो जाने के पश्चात् भी मेरे मानस पर जापान वासी सज्जनो का आतिथ्यभावी होने की स्पष्ट छाप अकित है। मुझे आज भी स्मरण है जब मैंने रात्रि के ३॥ बजे हवाई अड्डे पर उतर कर शासकीय औपचारिकता पूर्ण की और मुझे मेरे एक जापानी आतिथ्य के मकान पर ले जाया गया तो उस समय जो भावभीना स्वागत तथा उसका ढग था निश्चयरूप से भारतीय सस्कृति से ओतप्रोत था। लगभग ४ बजे रात्रि को अतिथि के कुटम्बीजन मकान पर मेरी प्रतीक्षा करते हुए बैठे थे। गृहप्रवेश करते ही भावभीना स्वागत किया। जापानी घरो मे साधारणतया जूते सहित नही जाते। मकान की देहली के बाहर चप्पल रखी रहती है जिसको पहन कर मकान मे घूमा जा सकता है। उसके स्थान पर अपने जूते निकाल कर रख दिये जाते हैं शौचालय मे जाने के लिये कपडे बदलना होता है, मकान मे सुन्दर चटाई बिछी रहती है जिसके बीच मे एक तिपाई रखी रहती है जो पढने तथा लिखने तथा भोजन पात्र रखने के उपयोग मे आती है। जापानवासी स्वभाव से नम्र, विनयी होते हैं। यह अभिवादन के समय शरीर का आधा भाग झुकाते हैं। स्वच्छता प्रिय होते है। इसमे सदेह नही कि वहा का पुरुष वर्ग वेश-भूषा मे पाश्चात्य वेषभूषा अपनाता जा रहा है किन्तु महिला वर्ग आज कल भी अधिकतर भारतीय परिधान साडी पहनती है। उन्हे कृष्णवर्ण की साडी अधिक प्रिय होती हैं। तात्पर्य यह है कि जापान मे गृह का वातावरण जापानवासियो का व्यवहार भारतीय रहन-सहन से अधिक निकट है उनकी सभ्यता प्राचीनकाल के भारतीय सभ्यता मे निश्चय रूप से अनुप्राणित रही है।

इसमे सन्देह नही कि विद्वद्वर्ग की खोज का यह विषय है कि वह भारत जापान सम्बन्धो के इतिहास की खोज करके प्रामाणिक रूप से तथ्यो को विश्व के सन्मुख रख।

नवम आयाम

जीवन-दर्शन

(१) महात्मा गांधी : जीवन दर्शन

(२) आचार्य आत्मारामजी महाराज का जीवन-दर्शन

१

महात्मा गांधी : जीवन-दर्शन

यह शका से परे तथ्य है कि महात्मा गाधी एक असाधारण महापुरुष थे। यह तथ्य अग्रेज साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासक तथा उच्चाधिकारी भी स्वीकार करते थे, गाधीजी का जीवन एक खुली पुस्तक होते हुए भी उनके जीवन दर्शन का सर्वमान्य भाष्य कर सकना असम्भव नही हो तो मुश्किल अवश्य है। देश के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिडला द्वारा लिखित पुस्तक 'बापू' मे आदि वचन मे स्व० श्री महादेव देसाई ने लिखा था कि एक बात और, जैसे गीता सबके लिये एक खुली पुस्तक है उसी तरह गाधीजी का जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीता को बडे-बडे विद्वान तो पढते ही, हजारो श्रद्धालु लोग भी, जो प्राय निरक्षर होते है, उसे प्रेम से पढ़ते है। गाधीजी के जीवन की विशेषता उनकी आत्मकथा की भी यही बात है। जैसे गीता, सबके काम की चीज है वैसे गाधीजी भी सबके काम के हैं। गीता के बडे विद्वान अधिक लाभ उठाते हैं, या निरक्षर किन्तु श्रद्धालु भक्त अधिक, यह विचार योग्य प्रश्न है। यही बात गाधीजी के विषय मे भी है। उनके जीवन को, उनके सिद्धान्तो को, समझने के लिये न तो विद्वत्ता की आवश्यकता है, न लेखन शक्ति की। उसके लिये तो हृदय चाहिये, सत्यशीलता चाहिये। वास्तव मे गाधीजी का जीवन इतना सर्वतोमुखी था कि वह जन-जीवन की प्रत्येक समस्या को छूता था। गाधीजी केवल कट्टर सिद्धान्तवादी ही नही थे किन्तु सिद्धान्तवादिता के साथ तात्कालिक प्रश्न भी वह अपने वैचारिक दृष्टिकोण मे रखकर निर्णय करते थे। यदि इसको अधिक स्पष्टता के साथ कहा जा सके तो यह कहा जा सकता है कि उनके जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप मे सिद्धान्त और व्यावहारिकता का आजीवन मिश्रण था दूसरे शब्दो मे वह Practical Idealist (व्यावहारिक आदर्शवादी) थे।

पूज्य गाधीजी का प्रारम्भिक जीवन वैष्णव तथा जैन धर्मावलम्बियो के वातावरण से अनुप्राणित था, उन्होने अपने को आजीवन कट्टर हिन्दू होने का दावा किया, किन्तु उनका हिन्दुत्व बधे-बधाये सिद्धान्तो या रूढियो के फ्रेम मे आबद्ध नही था। उनका उदार हिन्दुत्व, अन्य धर्मावलम्बियो तथा जातियो से ही नही, विश्व के समस्त मानव-जीवन के प्रति उदार व्यवहार रखने के लिये प्रेरणा देता था। उन्होने जनवरी, सन् १९२८ मे Federtion of International fellowship मे भाषण देते हुए घोषित किया था कि —

After long study and experience I have come to These conclusions

(i) All religions are true

(ii) All religions have some error in them

(iii) All religions are almost dear lover as my own Hinduism

उपरोक्त उद्धरण गाधीजी के 'सर्व धर्म-समभाव' की भावना का स्पष्ट दिग्दर्शन कराता हैं। गाधीजी के प्रारम्भिक जीवन के धार्मिक वातावरण तथा विभिन्न धर्मग्रन्थो के अध्ययन के परिणामस्वरूप निश्चित विचारसरणि ने उनके व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन मे जबरदस्त छाप डाली। यह तथ्य सर्व विदित है कि गाधीजी अपने व्यक्तिगत जीवन मे धार्मिक सिद्धान्तो का कडाई से पालन करते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि "विश्व का कोई व्यक्ति धर्म के बिना जीवित नही रह सकता"। वह अपने जीवन मे चीनी दन्तकथा पर आधारित तीन बन्दरो को अपना गुरु बताकर प्रेरणा लेते थे जिसका पृथक-पृथक सिद्धान्त था कि (1) Speak no Evil (2) Hear no Evil (3) See no Evil

वह स्वय इन बातो पर कडाई से अमल करते रहे। गाधीजी को ईश्वर पर अटूट श्रद्धा थी। उनकी प्रात.कालीन तथा सन्ध्याकालीन प्रार्थना जीवन का अभिन्न अग थी किन्तु उनका ईश्वर 'सत्य' था। सत्य ही ईश्वर है यह उनका वाक्य था। गाधीजी ने धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता को सार्वजनिक जीवन मे प्रविष्ट करायी। उनके निकट राजनीति भी धर्म का एक अग थी इस कारण गाँधीजी की राजनीति भी धर्म का एक अग थी उन्होने Spiritualization of politics किया। एक मित्र के कथनानुसार जो राजनीति पश्चिमी देशो मे वैश्या का जीवन बिताती थी उसको गाधीजी ने स्वय के अपने तप तथा साधना द्वारा सती-साध्वी बना दिया। उनके निकट राजनीति मे भी नैतिक तथा अध्यात्मिक पक्ष सन्मुख रहता था। यही कारण है कि ब्रिटिश शासक तथा उच्च अधिकारी उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास करते थे।

जैसाकि ऊपर लिखा गया है, गाधीजी कट्टर सिद्धान्तवादी होते हुए भी व्यावहारिक थे। यदि तात्कालिक समस्या के कारण सिद्धान्त की मूल आत्मा को हानि पहुँचाये बिना Adjustment किया जा सकता हो तो वह तैयार रहते थे। यही कारण है कि कभी-कभी ब्रिटिश शासको, उच्च अधिकारियो विदेशियो, आलोचको को उनके कार्य कलाप मे विरोधाभास दृष्टिगोचर होता था। अमेरिका के एक ग्रन्थकार श्री गुथर ने एक बार लिखा था कि "महात्मा गाधी मे ईसा मसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान व्यक्ति है। उनसे अधिक पेंचदार व्यक्ति की कल्पना भी नही की जा सकती। यह ऐसे व्यक्ति है जो किसी तरह पकड मे नही आ सकते। यह कुछ मे अनादर भाव से नही कह रहा हूँ। एक साथ महात्मा, राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होगा यह मानवी नियमो का अपवाद या अवज्ञा है।" —'बापू' पुस्तक पृष्ठ १४

यदि हम गहराई से विचार करें तो इस प्रकार की कल्पना उन व्यक्तियो की है जिन्होने गाधीजी का जीवन उनके कार्य कलाप केवल दोष दर्शन (Fault finding) के लिये ही देखे हो। यदि हम उनके जीवन के सिद्धान्त तथा कार्य-कलाप के तथाकथित विरोधाभास के पीछे जो दार्शनिक तत्व, रहस्य भरा रहता था, उस पर विचार करें, एक सहृदय, (सत्यशीलता जैसाकि श्री महादेव देसाई ने अपेक्षा की है) के आधार पर विश्लेषण करें, तो उपरोक्त भ्रम दूर हो सकता है। यदि हमने गाधीजी को एक ऐसा महापुरुष मान लिया हो जिसकी प्रत्येक बात अपरिवर्तनीय हो, चाहे कैसी परिस्थिति हो वह अपनी लकीर से (रामायण की भाषा मे लक्ष्मण-रेखा से) वे बधे बधाये उसूलों से इच भर भी नही हटे तो हमे अपनी भूल सुधारनी होगी। गाधीजी सतत जागरूक, परिवर्तनशील प्रगति के पथ पर चलने वाली महान आत्मा थे जिसने अपने युग में केवल इस देश को नही, सारे विश्व को अनुप्राणित किया है।

गाधीजी एक सत, समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ, सेवा-भावी, चिकित्सक (निसर्गोपचारी) थे। उनका सारा जीवन अनासक्तिमय था। कर्मयोगी का जीवन था, यही कारण है कि विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो में उलझे रहने के बाद भी निवृत्त जैसे थे। अपने जीवन मे ही 'जीवन-मुक्तता' अनुभव करते थे। यदि गाधीजी के जीवन दर्शन को सक्षिप्त मे कहा जावे तो यह कहना काफी होगा कि उनके जीवन का दर्शन (Philosophy) धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित अनासक्तता था।

काश ? गाधी जन्म-शताब्दी के इस ऐतिहासिक वर्ष मे हम उनके जीवन की दार्शनिकता को रचमात्र भी अपनाकर अपने को आलोकित कर सकें। ●

२

आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज का जीवन दर्शन

उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने कहा था कि—

बहुत शौक से सुन रहा था जमाना ।
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते ।।

अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन श्रमण संघ के आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्वर्गवास का समाचार सारे देश ने अत्यन्त शोक पूर्ण स्थिति मे दिनाक ३१ जनवरी १९६२ को सुना। आचार्य श्री का स्वर्गवास दिनाक ३०-१-६२ को रात्रि मे हुआ। जैसे ही ३१ जनवरी का सूर्य अपने प्रखर तेज के साथ उदित हुआ यह करुणा पूर्ण समाचार आकाशवाणी द्वारा सारे देश मे फैल गया। आचार्य श्री का दीर्घकालीन साधनामय जीवन उनकी प्रगाढ़, विद्वता, तथा अगाध ज्ञान देश के विद्वज्जन तथा सर्व साधारण के लिए सुलभ वस्तु थी। आचार्य श्री के ज्ञान का लाभ उनकी आगम सम्बन्धी सूक्ष्म दृष्टि से विद्वज्जन जहा लाभ उठाते थे वहा सर्व साधारण अपनी ज्ञान-पिपासा शात करते थे। इसी बात को लक्ष्य करके उर्दू के कवि ने उपरोक्त नजम कही थी। आचार्य भगवान के पास जब जाइए तब, उनको श्रमण अथवा श्रावक विद्वज्जन के साथ आगम चर्चा मे रत पायेंगे। उनके कठस्थ ज्ञान को देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पडता था। वर्षों से प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी शास्त्रीय सदर्भ कठस्थ स्मृति से दिये जाते थे। कई भाषा पर उनका अधिकार था। मुझे अपने जीवन मे आचार्य भगवान के दर्शन का लाभ केवल दो बार मिला। दिसम्बर १९५८ को जब अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरन्स के एक साधारण सदस्य के नाते एक शिष्टमण्डल सहित लुधियाना गया था। उस समय जो छाप पडी वह कई वर्ष बीत जाने पर भी हृदय पर स्पष्टतया अकित है। मैं उक्त महापुरुष के साहित्य तथा मानवीय सद्‌गुणो का समूह देखकर गुनगुना रहा था—

"तुम गौरव गिरि उत्तु ग शिखर, पद पूजन का भी क्या उपाय ?" वास्तव मे कहाँ आचार्य श्री का उच्च व्यक्तित्व और कहा मुझ जैसा पामर तुच्छ अल्प जीव ! अभी दिनांक २२ जनवरी को मैं लुधियाना दर्शनार्थ गया। मुझे दिनांक २०-२१ जनवरी की अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरन्स की जनरल कमेटी की बैठक मे ज्ञात हुआ था कि आचार्य श्री का स्वास्थ्य चिन्ता का विषय है तो वहा से दर्शनार्थ चला गया। उनके देदीप्यमान आकृति पर वही शाति, धैर्य चमक रहा था।

स्वर्गीय आचार्य श्री ने अपने दीर्घकालीन साधनामय जीवन मे पर्याप्त साहित्य का निर्माण किया। कई आगमो का आधुनिक ढग से सस्कृत छाया, टीका, अर्थ-सहित सम्पादन करके प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त लगभग ५० ग्रन्थो का सम्पादन किया जिनमे कई मौलिक रचनाएँ है। उक्त सरस्वती के एक अनवरत सेवक की इन मौलिक ग्रन्थो की रचना की सराहना जैन तथा अजैन विद्वानो ने की, न केवल उतना अपितु कई जैन शास्त्रो के मर्मज्ञ विदेशी विद्वानो ने भी मुक्त कठ से सराहना की।

आचार्य श्री का लक्ष्य सदैव सघहित की ओर रहता था। उनको उनकी विद्वत्ता आदि गुणो से आकर्षित होकर पजाब सम्प्रदाय के उपाध्याय पद पर विभूषित किया गया। उसके पश्चात उन्हे आचार्य पद से अलकृत किया गया। जब श्रमण सघ का निर्माण हुआ उनकी अनुपस्थिति मे भी उन्हे अ० भा० श्वे० श्रमण सघ के आचार्य पद से अलकृत करके अपनी श्रद्धा व्यक्त की। तब से वे आजीवन श्रमण सघीय आचार्य है। इस काल मे कभी उन्होने अधिकार का प्रयोग नही किया। उन्होने अपने समस्त अधिकार कार्य वाहक समिति को हस्तातरित कर दिये। ऐसे समाज रत्न को खोकर आज सारा समाज क्षुब्ध है अनाथ हो गया है। वास्तव मे ऐसे ही महापुरुष को लक्ष्य करके भर्तृहार ने निम्न श्लोक लिखा था —

परिवर्तिनि ससारे, मृत को वा न जायते।
स जातो येन जातेन, याति वशसमुन्नतिम् ॥

आचार्य श्री ने श्रमण सघ को, समाज को, पर्याप्त उचित अनुपम मार्ग दर्शन किया। मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि आचार्य भगवान कुछ समय तक हमारे बीच रहते तो न केवल स्था० जैन श्रमण सघीय मतभेद समाप्त होकर सगठन दृढ होता, अपितु अखिल जैन समाज की विभिन्न परम्पराओ का समन्वय होकर सुदृढ जैन समाज का निर्माण होता। वास्तव मे आचार्य श्री के स्वर्गवास से जैन समाज की ऐसी क्षति हुई है जो पूर्ति होने योग्य नही है।

आचार्य भगवान को शास्त्रीय ज्ञान के अध्ययन, अध्यापन मे विशेष रुचि थी, मैंने उनके प्रमुख शिष्य श्री ज्ञान मुनिजी द्वारा रचित 'आचार्य सम्राट' पुस्तक का अवलोकन किया जिससे स्पष्ट है कि वह सदैव शास्त्रीय अध्ययन अध्यापन, शोध कार्य मे सलग्न रहते थे। ऐसी दशा मे आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञता प्रकाश का एक ही रास्ता है कि हम स्था० जैन समाज की ओर से एक ऐसा 'जैन ग्रन्थ सग्रहालय' निर्माण करावें जिसमे आगम शास्त्रो से लेकर जैन ग्रन्थो का अक्षय सग्रह हो। जैन समाज की इससे एक बडी कमी दूर होगी। आप बौद्ध तीर्थ-स्थानो मे से कई स्थान पर विशाल पुस्तकालय देखते होगे। जैन समाज की अभी इस ओर उपेक्षा रही है। आशा है कि जैन समाज इस ओर पर्याप्त ध्यान देकर आचार्य श्री का वास्तविक स्मारक निर्माण करायेगा।